अहिंसा की तलाश

विनोबा की जीवन-झांकी
विनोबा के शब्दों में

: संकलन-संपादन :
कालिन्दी

2008
परंधाम प्रकाशन, पवनार (वर्धा)

अहिंसा के विज्ञान के बारे में लिखना मेरी शक्ति के बाहर का काम है.... अगर मैं यह काम न कर सकूं तो पत्रलेखक ने इस काम के लिए अन्य तीन नाम सुझाये हैं – श्री विनोबा, श्री किशोरलाल मशरूवाला और श्री काकासाहब कालेलकर। पहला व्यक्ति यह काम कर सकता है, लेकिन वह यह करेगा नहीं, यह मैं जानता हूं। क्योंकि उसका प्रत्येक क्षण काम के लिए समर्पित है, और उसमें थोडा-सा भी समग्र अहिंसा का शास्त्र लिखने के लिए निकालना विनोबा को पाखंड लगेगा। इस विषय में मैं उनसे सहमत हूं। दुनिया को शास्त्र की भूख नहीं, आस्थापूर्वक की हुई कृति की आवश्यकता है। जो इस आवश्यकता की पूर्ति करेगा, वह शास्त्र लिखने में समय नहीं गंवायेगा।

– महात्मा गांधी

'समग्र गांधी' : ४०/२०

मैं एक मार्ग का प्रयोगी हूं। अहिंसा की खोज करना मेरा जीवनकार्य रहा है। मेरी शुरू की हुई प्रत्येक कृति, हाथ में लिया हुआ प्रत्येक काम – सब उसी एक प्रयोग के लिए हुए और हो रहे हैं। अहिंसा के पूर्ण प्रयोग के लिए तो वास्तव में देहमुक्त ही होना चाहिए। जब तक वह स्थिति नहीं आती तब तक जितना संभव हो सके, देह से, संस्थाओं से और पैसे से अलग रहकर काम करने की मेरी वृत्ति रही, इसी तलाश में कि अहिंसा की सामाजिक जीवन में किस प्रकार प्रतिष्ठा हो।

– विनोबा

'विनु-स्मृति'

विनोबाजी के बनाये हुए श्लोक, जिनको उन्होंने 'विनु-स्मृति' नाम दिया है –

(1) यो वर्णाश्रमनिष्ठावान् गोभक्तः श्रुतिमातृकः
मूर्तिं च नावजानाति सर्वधर्म-समादरः
उत्प्रेक्षते पुनर्जन्म तस्मान्मोक्षणमीहते
भूतानुकूल्यं भजते स वै 'हिंदु'रिति स्मृतिः
हिंसया दूयते चित्तं तेन 'हिं-दु' रितीरितः (9.7.1949)

(2) वेद-वेदान्त-गीतानां विनुना सार उद्धृतः
ब्रह्म सत्यं, जगत् स्फूर्तिः, जीवनं सत्य-शोधनम्
शंकराचार्य *ज्ञानेश्वरमहाराज* *गांधीजी* (30.9.1951)

(3) ॐ तत् सत् श्री नारायण तू पुरुषोत्तम गुरु तू
सिद्ध बुद्ध तू स्कंद विनायक सविता पावक तू
ब्रह्म मज्द तू यह्व शक्ति तू ईशु-पिता प्रभु तू
रुद्र विष्णु तू राम कृष्ण तू रहीम ताओ तू
वासुदेव गो-विश्वरूप तू चिदानंद हरि तू
अद्वितीय तू अकाल निर्भय आत्मलिंग शिव तू
(19.1.1952)

(4) वेदान्तो विज्ञानं विश्वासश्चेति शक्तयस्तिस्त्रः
यासां स्थैर्ये नित्यं शांति-समृद्धी भविष्यतो जगति
(16.8.1959)

(5) काल-जारणम् स्नेह-साधनम्
कटुक-वर्जनम् गुण-निवेदनम्
(20.1.1971)

किंचित्

यह विनोबाजी का आत्मचरित्र नहीं है। वे तो कहते थे, "बाबा आत्मकथा लिखने बैठेगा तो वह 'अनात्मकथा' होगी। क्योंकि वह तो है 'विनोबा भुलक्कड'।" परंतु ऐसी अनात्मकथा भी उन्होंने कभी लिखी, या कही नहीं। उनके हजारों प्रवचनों में विषय को समझाते हुए दृष्टांत के तौर पर अनुभव पेश करते हुए उनके जीवन की कई बातें सहजता से व्यक्त होती गयी हैं। उन्हीं अंशों को जगह-जगह से उठाकर एक सूत्र में पिरोने का यह एक महज प्रयास है।

इसलिए इसकी एक मर्यादा भी है। यह 'संपूर्ण' जीवन नहीं, एक झांकी है। उनके जीवन की हर घटना, हर विचार, हर कदम का चित्र इसमें मिले, ऐसी सर्वसंग्राहक दृष्टि इसके पीछे नहीं रही। जो प्रसंग, कथाएं **'उनके शब्दों'** में मिले, उतने ही यहां सूत्रबद्ध हैं। इसलिए कई महत्त्व की घटनाएं इसमें न भी आ पायी होंगी, कई जगहों पर अपूर्णता-सी भी लगेगी। क्योंकि "उन्हीं के शब्द" हों, इसका ईमानदारी से ख्याल रखा गया है। परंतु बावजूद इस मर्यादा के एक परिपूर्ण झांकी इसमें अवश्य मिलेगी।

छोटा बालक एक खेल खेलता है। एक पूरे चित्र के छोटे-छोटे अंश लकडी के अलग-अलग टुकडों पर अंकित होते हैं। पूरा चित्र बनाने की तमन्ना से बालक उन टुकडों को सुसंगत बिठाने की कोशिश करता है और वह चित्र तैयार हो जाता है। कभी उसमें

एकाध भूल भी रह जाती है। और कभी तो वह भूल ऐसी होती है कि सारा चित्र ही बिगड जाता है। पर इसका कारण तो होता है बालक की अक्षमता! इस संकलन में कही कुछ विसंगति, त्रुटि, भूल रह गयी हो तो वह इस कथा के 'प्रथम पुरुष' की नहीं, वह संकलनकर्ता 'तृतीय पुरुष' की है। वे तो इसके अकर्ता ही हैं।

इस संभाव्य कमी का पूरा ख्याल होते हुए भी यह प्रयास किया गया। वास्तव में यह तो एक ऐसी ही बात है कि, ज्ञानदेवमहाराज के शब्दों में,

हें अपार कैसेनि कवळावें । महातेज कवणे धवळावें
गगन मुठीं सुवावें । मशकें केवीं

– इस अपार का किसको आकलन होगा? महातेज को कौन उज्ज्वल करेगा? मच्छर आकाश को कैसे अपनी मुट्ठी में ला पायेगा? **परि एथ असे एकु आधारु ।** परंतु एक आधार है, जिसके कारण यह हो सका। उनसे प्राप्त 'अभय-दान' के कारण अत्यंत भक्तिपूर्वक यह धृष्टता की गयी है। उन्होंने अनेक प्रकार के दान प्रसृत किये, प्राप्त भी किये। परंतु उनसे मिला यह दान उनकी 'अहिंसा की तलाश' का परिपाक ही है, जो उनकी खोज की सफलता को सूचित करता है।

निःसंदेह, यह जीवन-झांकी हमें उस तलाश को आगे ले जाने के लिए प्रयोग करने की प्रेरणा, उत्साह, बल देती रहेगी। कृष्णार्पणमस्तु!

– कालिन्दी

विनोबा

जन्म : गागोदे, जि. रायगड, महाराष्ट्र, 11 सितंबर 1895
निर्वाण : पवनार, जि. वर्धा, महाराष्ट्र, 15 नवंबर 1982

आरंभ में

मैं एक अलग ही दुनिया का आदमी हूं। मेरी दुनिया निराली है। मेरा दावा है कि मेरे पास प्रेम है। उस प्रेम का अनुभव मैं सतत ले रहा हूं। मेरे पास मत नहीं हैं, मेरे पास विचार हैं। विचारों की लेन-देन होती है। विचार मुक्त होते हैं। उन्हें चहारदीवारी नहीं होती, वे बंधे हुए नहीं होते। सज्जनों के साथ विचारविमर्श कर उनके विचार ले सकते हैं और अपने विचार उन्हें दे सकते हैं। हम खुद अपने विचार बदल सकते हैं। इस तरह विचारों का विकास होता रहता है। इसका अनुभव मुझे निरंतर आता है। इसलिए मैं कोई वादी नहीं हूं। कोई भी मुझे अपना विचार जंचा दे और कोई भी मेरा विचार जंचा ले। प्रेम और विचार में जो शक्ति है, वह और किसी में नहीं है। किसी संस्था में नहीं, सरकार में नहीं, किसी प्रकार के वाद में नहीं, शास्त्र में नहीं, शस्त्र में नहीं। मेरा मानना है कि शक्ति प्रेम और विचार में ही है। इसलिए पक्के मतों की अपेक्षा मुझसे न करें। विचारों की अपेक्षा रखें। मैं प्रतिक्षण बदलनेवाला व्यक्ति हूं। कोई भी मुझ पर आक्रमण कर अपना विचार समझाकर मुझे अपना गुलाम बना सकता है। विचार को समझाये बिना ही कोई कोशिश करेगा तो लाख कोशिश करने पर भी किसी की सत्ता मुझ पर चलेगी नहीं।

मैं केवल व्यक्ति हूं। मेरे माथे पर किसी प्रकार का लेबल लगा हुआ नहीं है। मैं किसी संस्था का सदस्य नहीं हूं। राजनैतिक पक्षों का मुझे स्पर्श नहीं है। रचनात्मक संस्थाओं के साथ मेरा प्रेमसंबंध है। मैं ब्राह्मण के नाते जन्मा और शिखा काटकर ब्राह्मण की जड ही काट डाली। कोई मुझे हिंदू कहते हैं। पर मैंने सात-सात बार कुर्आन-बाइबिल का पारायण किया है। यानी मेरा हिंदुत्व धुल ही गया। मेरी बातें लोगों को अच्छी लगती हैं, क्योंकि मेरे कार्य की जड में करुणा है, प्रेम है और विचार है। विचार के अलावा और अन्य किसी शक्ति का इस्तेमाल न करने की मेरी प्रतिज्ञा है। मेरे पास मत नाम की चीज नहीं है, विचार है। मैं इतना बेभरोसे का आदमी हूं कि आज मैं एक मत व्यक्त करूंगा और कल मुझे दूसरा मत उचित लगा तो उसे व्यक्त करने में हिचकिचाऊंगा नहीं। कल का मैं दूसरा था, आज का दूसरा हूं। मैं प्रतिक्षण भिन्न चिंतन करता हूं। मैं सतत बदलता ही आया हूं।

मेरे विषय में एक स्पष्टता मुझे कर देनी चाहिए। कुछ लोग मुझे गांधीजी के विचार का प्रतिनिधि मानने लगे हैं। लेकिन इससे अधिक गलती कोई नहीं होगी। गांधीजी के बताये हुए काम, जो-जो मुझे ठीक लगे, करने में मेरा अभी तक का सारा जीवन गया, यह बात सही है। लेकिन 'जो-जो मुझे ठीक लगे' इतना यद्-वाक्य हमेशा उसमें रहा। उनकी संगति से और विचारों से मैंने भर-भरकर पाया, लेकिन दूसरों के विचारों में से भी पाया और जहां-जहां से जो भी विचार मुझे जंचे हैं, मैंने ले लिये हैं। और जो नहीं जंचे हैं, मैंने छोड दिये हैं। इसलिए मैं एक अपने विचार का प्राणी बन गया हूं। गांधीजी इस चीज को जानते थे। फिर भी उन्होंने मुझे अपने साथियों में से मान लिया था, क्योंकि वे स्वतंत्रता-प्रेमी थे, मुक्तिवादी थे। इसलिए गांधीजी के विचारों का प्रतिनिधित्व करने की मैं इच्छा रखूं तो भी अधिकारी नहीं हूं। वैसी इच्छा भी मैं नहीं करता हूं।

देश में अनेक विचार-प्रवाह काम कर रहे हैं और चूंकि मैं जनता के सीधे संपर्क में रहता हूं, मुझे उनका बारीकी से निरीक्षण करने का मौका मिलता रहता है। इसका परिणाम, जहां तक मेरा ताल्लुक है, यह हो रहा है कि मैं बहुत अधिक तटस्थ बन रहा हूं और मुझे समन्वय का सतत भान रहता है। मेरा किसी से वाद नहीं। किसी का नाहक विरोध करूं, यह मेरे खून में नहीं है। उलटे, मेरी स्थिति वैसी ही है, जैसे तुकाराम ने कहा है – 'विरोध का मुझे सहन नहीं होता है वचन'।

मैं 'सुप्रीम सिमेंटिंग फैक्टर' हूं, क्योंकि मैं किसी पक्ष में नहीं हूं। परंतु यह तो मेरा 'निगेटीव' वर्णन हो गया। मेरा 'पाजिटीव' वर्णन यह है कि सब पक्षों में जो सज्जन हैं, उन पर मेरा प्रेम है। इसलिए मैं अपने को 'सुप्रीम सिमेंटिंग फैक्टर' मानता हूं। यह मेरा व्यक्तिगत वर्णन नहीं है। जो शख्स ऐसा काम उठाता है, जिससे कि हृदयपरिवर्तन की प्रक्रिया से क्रांति होगी, वह एक देश के लिए नहीं, बल्कि सब देशों के लिए 'सिमेंटिंग फैक्टर' होगा। मैंने लुई पाश्चर की एक तसवीर देखी थी। उसके नीचे एक वाक्य लिखा था – "मैं तुम्हारा धर्म क्या है, यह नहीं जानना चाहता। तुम्हारे खयालात क्या हैं, यह भी नहीं जानना चाहता। सिर्फ यही जानना चाहता हूं कि तुम्हारे दुःख क्या हैं। उन्हें दूर करने में मदद करना चाहता हूं।" ऐसा काम करनेवाले इनसान का फर्ज अदा

करते हैं। मेरी वैसी ही कोशिश है।

मेरी यही भावना रहती है कि सब मेरे हैं और मैं सबका हूं। मेरे दिल में ऐसी बात नहीं कि फलाने पर ज्यादा प्यार करूं और फलाने पर कम। मुहम्मद पैगंबर के जीवन में एक बात आती है। अबुबकर के बारे में मुहम्मदसाहब कहते हैं कि 'मैं उस पर सबसे ज्यादा प्यार कर सकता हूं, अगर एक शख्स पर दूसरे शख्स से ज्यादा प्यार करना मना न हो'। यानी खुदा की तरफ से इसकी मनाही है कि एक शख्स पर दूसरे शख्स से ज्यादा प्यार करें। इस तरह की मनाही न होती तो अबुबकर पर ज्यादा प्यार करते। यही मेरे दिल की बात है। यानी प्यार करने में मैं फर्क नहीं कर सकता।

मेरे जीवन में मुझे मित्रभाव का दर्शन होता है। और वह मुझे खींचता है। मां के लिए मुझे आदर है। पितृभाव के लिए भी आदर है। गुरु के लिए तो अत्यंत आदर है। इतना होते हुए भी मैं सबका मित्र ही हो सकता हूं और सब मेरे मित्र। मित्र के नाते ही मैं बोलता हूं। और जब प्रहार करता हूं, तो वह भी इसी नाते करता हूं। फिर भी मेरे अंदर इतनी मृदुता है कि मानो कुल दुनिया की मृदुता उसमें आ गयी।

वैसे ही मैं गुरुत्व का स्वीकार कर नहीं सकता। 'एक-दूसरे की सहायता करें, सब मिलकर सुपंथ पर चलें' – यह मेरी वृत्ति है। इसलिए गुरुत्व की कल्पना मुझे जंचती नहीं। मैं गुरु के महत्त्व को मानता हूं। गुरु ऐसे हो सकते हैं कि जो केवल स्पर्श से, दर्शन से, वाणीमात्र से, बल्कि केवल संकल्पमात्र से भी शिष्य का उद्धार कर सकते हैं। ऐसे पूर्णात्मा गुरु हो सकते हैं। फिर भी यह मैं कल्पना में ही मानता हूं। वस्तुस्थिति में ऐसे किसी गुरु को मैं नहीं जानता। 'गुरु', इन दो अक्षरों के प्रति मुझे अत्यंत आदर है। लेकिन वे दो अक्षर ही हैं। ये दो अक्षर मैं किसी भी व्यक्ति को लागू नहीं कर सका। और कोई उन्हें मुझ पर लागू करें, तो वह मुझे सहन ही नहीं होता।

एक बार हंगेरी से आये एक भाई ने मुझे पूछा कि आपका काम आगे कौन चलायेगा? आपका कोई शिष्य हो तो वह चला सकता है। मैंने कहा कि मेरा काम आगे वही चलायेगा, जिसने मुझे प्रेरणा दी। मैं काम करनेवाला हूं, ऐसी भावना मेरी नहीं है। मेरी न कोई संस्था है, न मेरा हुक्म माननेवाला कोई है, जिस पर मैं डिसिप्लिनरी ॲक्शन ले

सकता हूं। ऐसी हालत में जिस ताकत ने मुझे प्रेरणा दी है, वही ताकत आगे काम करेगी। इसलिए मेरा कोई शिष्य बनेगा, ऐसा मैं नहीं मानता हूं। फिर मैंने कहा कि मेरे पीछे सब महापुरुषों के आशीर्वाद हैं। वे मेरे पीछे हैं, आगे हैं, अंदर हैं, बाहर हैं, ऊपर हैं, नीचे हैं। जैसे सूर्य की किरणें मैं स्पष्ट देखता हूं, वैसे ही सर्वत्र ये आशीर्वाद देखता हूं।

ज्ञान की एक चिनगारी की दाहक शक्ति के सामने विश्व की सभी अडचनें भस्मसात् होनी ही चाहिए, इस विश्वास के आधार पर निरंतर ज्ञानोपासना करने में और दृष्ट ज्ञान का प्रसार करने में मेरा आजतक का जीवन खर्च हो रहा है। यदि दो-चार जीवनों को भी उसका स्पर्श हो जाये, तो मेरा ध्येय साकार हो सकेगा।

मैं जो भी कदम उठाता हूं, उसकी गहराई में जाकर जड पकडे बगैर नहीं रहता। मैंने अपनी जिंदगी के तीस साल एकांत चिंतन में बिताये हैं। उसी में जो सेवा बन सकी वह मैं निरंतर करता रहा। लेकिन मेरा जीवन निरंतर चिंतनशील रहा, यद्यपि मैं उसे सेवामय बनाना चाहता था। समाज में जो परिवर्तन लाना चाहिए, उसकी जड के शोधन के लिए वह चिंतन था। बुनियादी विचारों में मैं अब निश्चिंत हूं। कोई समस्या मुझे डराती नहीं। कोई भी समस्या, चाहे जितनी भी बडी हो, मेरे सामने छोटी बनकर आती है। मैं उससे बडा बन जाता हूं। समस्या कितनी भी बडी हो, लेकिन वह मानवीय है, तो मानवीय बुद्धि से हल हो सकती है। इसलिए मेरी श्रद्धा डांवाडोल नहीं होती। वह दीवाल के समान खडी रहती है, या गिर जाती है।

चाहे मैंने आश्रमों में रहकर काम किया हो या बाहर, मेरे सामने मुख्य विचार यही रहा कि हमारी सामाजिक या व्यक्तिगत सब प्रकार की कठिनाइयों का परिहार अहिंसा से कैसे होगा, इसकी खोज करूं। यही मेरा मुख्य कार्य है। और उसी के लिए मैं तेलंगाना गया था। यदि मैं वह काम टालता तो उसका यही अर्थ होता कि मैंने अहिंसा और शांति-सेना का काम करने की अपनी प्रतिज्ञा ही तोड दी। स्वराज्यप्राप्ति के बाद फौरन जो घटनाएं इस देश में घटीं, उन्होंने अहिंसा की आशा को क्षीण किया था। बहुत ज्यादा हिंसा की ताकतें हिंदुस्तान में प्रकट हुई थीं। इसलिए गांधीजी के जाने के बाद मैं इस तलाश में था कि अहिंसा की सामूहिक प्रतिष्ठा कैसे बने।

मेरा मानसिक झुकाव महावीर की पद्धति की तरफ ज्यादा है। परंतु मेरा जो काम चला, वह बुद्ध भगवान के तरीके से चला। वैसे दोनों में विरोध नहीं है। महावीर का तरीका यह था कि कोई मसला हाथ में लेना है, कोई विचार फैलाना है, ऐसी उनकी दृष्टि नहीं थी। वे जहां पहुंचते, व्यक्तियों के साथ बात करते, सामनेवाले का विचार समझ लेते और उसके जीवन में समाधान हो ऐसी राह उसे दिखाते। जिसकी जिस ग्रंथ पर श्रद्धा हो, उस ग्रंथ के आधार से समझाते और किसी की किसी भी ग्रंथ पर श्रद्धा न हो तो बिना ग्रंथ के आधार के ही समझाते। इस तरह अहिंसा का मूलभूत विचार मध्यस्थ दृष्टि रखकर समझाते थे। बुद्ध भगवान ने अहिंसा का विचार प्रसारित करने के लिए सामाजिक मसले को हाथ में लिया।

कोई आलंबन लिया जाये या न लिया जाये, यह अलग बात है। परंतु उस आलंबन का अर्थ स्थूल हो जाये और जिस सूक्ष्म वस्तु के प्रकाश के लिए वह हो, वही गौण हो जाये, आलंबन ही बलवान हो जाये, जिस विचार के लिए वह लिया है वह विचार ही छिप जाये, तो खतरा पैदा हो जाता है। आलंबन न लेने से विचार बिखर जाता है। सद्भावना अव्यक्तरूप में फैलती है, परंतु विचार अव्यक्तरूप में घनाकार नहीं बनता – आम जनता को उसका आकर्षण नहीं रहता। इस तरह आलंबन लेने में एक खतरा है और आलंबन न लेने में दूसरा खतरा है। आलंबन लेने में एक गुण है और आलंबन न लेने में दूसरा गुण है। मैंने जमीन के मसले का आलंबन अवश्य लिया, परंतु साम्ययोग का, करुणा का विचार समझाना ही मेरी मूलभूत दृष्टि है। आलंबन लेने में मैंने बुद्धि का परिपालन किया, लेकिन मेरा मन सतत आलंबन से परे सोचता है और मेरी बार-बार इच्छा होती है कि अपने मूल स्वरूप में रहूं। फिर भी आलंबन नहीं छोडता। इस तरह मेरे तरीके में दो तरीकों का समन्वय है।

मेरा एक गुण है, जो दोष भी माना जा सकता है, कि किसी व्यक्ति को आग्रह से कोई आदेश नहीं देता। उससे काम कभी देरी से बनता है, पर बनता है तो बनता है, बिगडता नहीं। इतना ही नहीं, मैं जो कुछ कहता हूं उसका दबाव भी किसी पर डालना नहीं चाहता। मेरे पास अनेक श्रेष्ठ विचार हैं, लेकिन उनमें सबसे श्रेष्ठ विचार यही है कि मेरे विचार का किसी पर आक्रमण न हो। मेरा विचार किसी को अगर जंचता

है, तो मुझे खुशी होती है। मेरा विचार किसी को नहीं जंचता है और वह उस पर अमल नहीं करता है, तो भी मुझे खुशी होती है। मेरा विचार किसी को न जंचे और किसी दबाव वगैरह से मान ले, तो मुझे बडा दुःख होता है। यानी विचार बिना पसंद हुए कोई मान लेता है, तो मुझे दुःख ही होगा। लेकिन विचार पसंद पडने के बावजूद यदि कोई उसे अमल में नहीं लाता तो मैं आशा रखता हूं कि आज नहीं तो कल अवश्य लायेगा। और मैं स्वयं किसी की सत्ता नहीं मानता, इसलिए किसी पर सत्ता चलाना भी नहीं चाहता, सत्ता का तो मैं दुश्मन ही हूं। सेवा को काटनेवाली यह चीज है।

मुझ पर परमेश्वर की एक बडी कृपा है कि गलतफहमियों के कारण लोगों की ओर से मुझ पर लगाये हुए आक्षेपों आदि का कोई असर मेरे चित्त पर नहीं होता है। ईश्वर जैसे नचायेगा वैसे नाचता हूं। काम मेरा नहीं, उसका है। वह मुझे घुमा रहा है, इसलिए घूम रहा हूं। मैं इससे अधिक प्रचार की चिंता नहीं करता। प्रकाश के प्रचार के समान ही विचार का प्रचार भी आसमान से होता है। बल्कि प्रकाश के प्रचार को चाहे आसमान रोक सके, लेकिन विचार के प्रचार को वह भी रोक नहीं सकता। इसलिए विचार पर मेरी श्रद्धा है और मैं निर्भय होकर काम करता हूं।

मैं पुण्य का अभिलाषी नहीं हूं, सेवा का अभिलाषी हूं। मैं केवल सेवा-उत्सुक हूं। और मेरी इच्छा यह है कि वह सेवा भी मेरे झोले में जमा न हो। क्योंकि मैं जो सेवा कर रहा हूं, वह सहजप्राप्त है और आज के जमाने और परिस्थिति के लिए जरूरी है। यानी वह जमाने की मांग है। इसका यही मतलब होगा कि जो भी सेवा मैंने की, वह जमाने ने ही करवा ली। तब उस सेवा का श्रेय मुझे कैसे मिलेगा? एक तिनका गंगोत्री में गंगा में गिरा और बहते-बहते 1500 मील बहकर समुद्र में जा मिला, तो भी उस तिनके को तैरने का श्रेय नहीं मिला; क्योंकि वह प्रवाह के अनुसार बह रहा था। यदि वह प्रवाह के विरुद्ध जाता और चार हाथ भी जाता तो भी उसको तैरने का श्रेय मिलता। परंतु 1500 मील बह जाने पर भी उसको वह श्रेय मिला नहीं। वैसे ही मैंने जो सेवा उठायी है, वह प्रवाह के विरुद्ध होती और थोडी-सी भी होती तो भी उसका श्रेय मुझे मिलता। लेकिन वह सेवा प्रवाह को पकडकर चल रही है और जमाने की

मांग के कारण हो रही है, इसलिए वह मेरे नाम पर जमा नहीं होगी। इसका पक्का बंदोबस्त मैंने कर रखा है। यद्यपि मैं सेवा की इच्छा रखता हूं, उसका श्रेय मेरे पल्ले न पडे इसका मेरा प्रयत्न रहता है।

ग्रामदान जाहिर होते हैं। लोग काम करते हैं। बाबा के नाम पर वह चलता है। लेकिन बाबा उसको अपने को छूने नहीं देता। ईश्वर के पास पहुंचा देता है। ऐसा यह फूटबॉल का खेल चल रहा है। मैंने अपना स्वार्थ समाज के स्वार्थ से भिन्न नहीं माना। मैं जिंदा हूं समाज के लिए। यही कारण है कि मेरा सारा काम समाज ही उठा लेता है। मैं दो हाथों से लोगों के लिए काम करता हूं, तो लोग हजारों हाथों से मेरा काम करते हैं।

मुझे यह कभी अनुभव नहीं होता है कि मैं जो उद्देश्य लेकर निकला हूं, उसकी पूर्ति करने का पूरा उत्तरदायित्व मेरे ही ऊपर है। इसका संपूर्ण उत्तरदायित्व तो हम सभी लोगों पर है। यह भगवान का काम है। मुझे दृढ विश्वास है कि यह होकर रहेगा। सत्य का विरोध कोई नहीं कर सकता। सत्य को ग्रहण करने में कुछ समय लग सकता है, पर सत्य को टाला नहीं जा सकता। सत्य का विरोध करनेवाली शक्ति संसार में टिक नहीं सकती। इसी लिए मैं निःसंशय और निर्भय होकर अपने विचार जनता के सामने प्रस्तुत करता हूं। और रात को भगवान की गोद में लेटकर निःस्वप्न निद्रा लिया करता हूं। पुनर्जन्म की भांति दूसरा दिन होता है और मैं अपने काम में जुट जाता हूं।

मैं तो सबके प्रेम का भूखा हूं। मैं चाहता हूं कि सबमें जो नारायण है, उसके दर्शन करूं। मेरे लिए '**नरनारी बाळें अवघा नारायण**' है (सभी स्त्रीपुरुष-बालक यानी भगवान है)। नारद जिस वृत्ति से किसी के पास पहुंचते थे, उसी वृत्ति से मैं भी पहुंच जाता हूं। मेरे लिए तो सब अंतरात्मा और परमेश्वर के ही रूप हैं। उनमें से हरएक में गुण हैं। उन गुणों के जरिये मैं सबके अंतःकरण में प्रवेश पाने की कोशिश करता हूं। यदि मेरी आवाज सच है, तो वह हर घर में जायेगी, हर हृदयतक पहुंचेगी।

मैं कभी विनोद में कहता हूं कि मुझे अपना चेहरा शीशे में देखने का खास मौका कभी मिलता नहीं। उसकी जरूरत भी नहीं। मेरी तो यही भावना है कि ये जो विविध चेहरे मैं देखता हूं, उन सबमें विविधता से सजे-धजे मुझे ही मैं देख रहा हूं। मेरी यात्रा में मैंने सतत यह अनुभव लिया है। जिस प्रदेश में मेरी भाषा लोग समझते नहीं थे और उन्हें मेरे

भाषणों का टूटाफूटा अनुवाद सुनना पडता था, उन सभी प्रदेशों में भी आत्मदर्शन का ही अनुभव मुझे आया और इसका प्रमाण यह है कि लोगों का भी यही अनुभव था। मैं जहां-जहां गया, वहां के लोगों ने यह कभी नहीं माना कि मैं दूसरे प्रदेश से आया हूं। उलटे, अनुभव यह रहा कि महाराष्ट्र के लोग मुझे जितना आत्मीयता से चाहते हैं, उतनी ही आत्मीयता से सभी प्रांतों के लोग चाहते हैं।

मेरे सामने लोग बैठे हुए होते हैं, तो वे कोई मनुष्य की मूर्तियां हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। बल्कि मेरे लिए इतने विविध रूप धारण कर रामजी, जो मेरे अंतर में रहते हैं, मुझे, मेरी आंखों को दीखने के लिए सामने बैठे होते हैं। मेरे बचपन की याद है। मेरी मां रामनवमी के दिन दोपहर बारा बजे 'रामजी का जन्म हो रहा है' ऐसे ख्याल से ध्यान में बैठ जाती थी। उसकी आंखों से आसुओं की धाराएं बहती थीं। मैं कभी विनोद में उससे पूछता था – 'कैसे जन्म हुआ आज रामजी का? कहीं दीखते तो नहीं है।' वह कहती, 'बेटा, दीखेंगे, तुझे भी दीखेंगे।' आज मुझे कहने में बहुत खुशी होती है कि उसके आशीर्वचन के अनुसार मैं आंखों से रामजी को देख रहा हूं। रामनवमी के दिन तो देखता ही हूं, पर बहुत दफा देखता हूं। शायद ही कोई दिन ऐसा जाता हो, जिस दिन उन्हें नहीं देखता। इन दिनों (यात्रा में) तो रामजी का दर्शन बिलकुल अपनी आंखों से रोज ही करता हूं।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद्। वह प्रभु कहां है? इस पर विचार करने पर मुझे ऐसा भास होता है कि उसी का मुझे अखंड दर्शन हो रहा है। सतत तेरह वर्ष तक वह दर्शन मैंने प्राप्त किया और उसके द्वारा मेरा पोषण हुआ। हमारी यह देह अन्न की बनी हुई है; क्योंकि अन्नाधारित उसका पोषण होता है। पर देह के लिए केवल अन्न का ही पोषण पर्याप्त नहीं। दूसरे पोषणों की भी अपेक्षा होती है। तेरह वर्ष तक मुझे वह पोषण मिला, जिसके कारण मैं अनेकविध विषम परिस्थितियों में भी इस शरीर द्वारा सेवाकार्य कर सका। वह पोषण हरिदर्शन का ही पोषण है।

मैं अपने को अनेक कारणों से दुर्बल मानता हूं। एक ही महान बल पर मैं बलवान हूं। उस बल का उद्गम कोई जानता नहीं, प्रभाव सब जानते हैं। उसकी प्राप्ति की परवाह कोई करता नहीं; लेकिन उसके प्रभाव

का आकर्षण सभी को महसूस होता है। वह बल यदि घटा दें, तो मैं सिर्फ एक गोबर का लोंदा रह जाऊंगा, ऐसा मुझे लगता है। मैं अपने में ऐसी कोई ताकत महसूस नहीं करता, जिसके बल पर मेरी यह भूदानयात्रा चल सके। वह एक साक्षात्कार ही हुआ। कुराण में इसे 'अयनुल यकीन' कहते हैं। मेरी चारों ओर से परमात्मा की शक्ति के सिवा और किसी भी तरह का घेरा नहीं है। मैं सिवा ईश्वर के और किसी के भी वातावरण में नहीं रहता। मेरे पास इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि सारे देश में घूमकर लाखों एकड जमीन मांगू और लोग दें। मेरे पास न कोई संस्था है, न कोई अधिकार ही। परमेश्वर ने मुझे संकेत किया, इसलिए मैं चल पडा। और चल रहा हूं। साथ-साथ नाच भी रहा हूं। नहीं तो मुझमें इतनी ताकत कहां!

लोगों को मेरे दर्शन करने की इच्छा होती है, वैसे ही मुझे भी लोगों के दर्शन करने की तीव्र इच्छा होती है, उत्कंठा होती है। लोग मेरे भगवान हैं। भगवान सिर्फ काशी-रामेश्वर के मंदिरों में ही नहीं रहते, वे मेरे सभी भाई-बहनों में रहते हैं। मेरा कृष्ण सिर्फ मथुरा में ही नहीं है, मैं जहां भी जाता हूं, वहां मुझे मेरे कृष्ण का दर्शन होता है। ऐसा न होता तो व्यर्थ घूमते रहने की मूर्खता कौन करता? मुझे लगता है कि इन बारह-तेरह वर्षों में जितना दर्शन मुझे मिला उतना बहुत कम लोगों को मिला होगा। मेरा जो लोकसंपर्क होता है, वह चेहरों का लोकसंपर्क नहीं, हृदयों का लोकसंपर्क होता है।

मेरा मन हमेशा स्थल-काल इत्यादि सबका चिंतन करता है। स्थल-काल का असर मेरे मन पर होता ही हैं। परमेश्वर की यह कृपा है कि मेरे मन पर अच्छा ही असर होता है। किसी भी निमित्त से मुझे परमेश्वर का स्मरण हो जाता है। पंढरपुर के मंदिर में गया था, वहां वह पत्थर देखा – विठ्ठलमूर्ति। परंतु मेरी आंखें पत्थर को नहीं देख सकी। साक्षात् भगवद्रूप प्रकट देखा। वह एक निमित्त था। बाकी अंदर से तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि सर्वत्र यही दर्शन है, दूसरा दर्शन दुनिया में है नहीं। यह मेरा पूर्ण विश्वास है। मेरा हृदय जानता है कि दुनिया में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, मनुष्य तो है ही नहीं, जिसके लिए मेरे मन में प्रेम न हो। मतलब, सिर्फ द्वेष का अभाव ही नहीं, प्रत्यक्ष प्रेम का ही अनुभव करता हूं। कुछ लोगों के चेहरे देखता हूं, तो मुझे अपने आंसुओं को रोकना

पडता है। जब वह बोलता है, तो मुझे परमेश्वर का दर्शन होता है। जब उसका चेहरा बदल जाता है, तब मेरे मन को उसमें भगवान का ही भास होता है। फिर से आंसुओं को रोकना पडता है, क्योंकि उनकी कोई जरूरत नहीं होती।

सतत बोलते रहना मेरे नसीब में है। और बचपन से अभी तक वही रहा है। आज एक बडे और विशाल क्षेत्र में बोलना पडता है। बचपन में विद्यार्थियों के और मित्र-मंडल के सामने, फिर आश्रमवासियों के सामने, फिर जनता के सामने निरंतर बोलने का और चर्चा करने का मेरा काम रहा है। बचपन में मैं बोलने पर बहुत अंकुश नहीं रखता था। मन में सहज जो आता था, वही बोल लेता था। मेरे मित्र जानते थे कि इस मनुष्य के अंदर और बाहर ऐसे दो प्रकार नहीं हैं। इसलिए मैंने चाहे प्रहार किये हों तो भी किसी का मन दुःखी नहीं हुआ, किसी का दिल नहीं टूटा। फिर गांधीजी के संपर्क में आया और मानने लगा कि वाणी पर अंकुश रहना चाहिए, खास करके विषम प्रसंग पर। धीरे-धीरे वह सधता गया। कभी किसी को ज्यादा शब्द कह भी देता, तो मेरे बारे में शिकायत बापू के पास पहुंच जाती। परंतु बापू ने मुझे कभी कुछ कहा नहीं। दूसरों के सामने मेरा बचाव ही करते। मुझे यह मालूम होता तो लगता कि मेरा बचाव बापू को करना पडे यह अच्छा नहीं। इस तरह मुझे वाणी के संयम की शिक्षा मिली।

मेरी पदयात्रा में भारत का जो दर्शन मुझे हुआ, उसको पंडित नेहरू के शब्दों में कहूं तो वह मेरे लिए 'डिसकव्हरी ऑफ इंडिया' है। वैसे भारत मेरे लिए अपरिचित नहीं है। मैं एक तरह से भारत के भूतकाल से, इतिहास से बहुत अच्छी तरह से परिचित था। ऐसे तो भारत के भूतकाल में इतना भरा पडा है कि उसका समग्र ज्ञान होना बहुत दूर की बात है. उसका एक अंशमात्र मिला है। लेकिन मैं कह सकता हूं कि उसकी उस झांकी के लिए बिलकुल बचपन से मेरी सतत कोशिश रही और वैसा मौका भी मुझे मिलता गया। हिंदुस्तान की बहुत सारी भाषाओं के साहित्य का भी परिचय हुआ था तो भारत क्या है, इसका कुछ आकलन हुआ था। परंतु इन यात्राओं के दिनों में, कहना होगा कि एक नया ही दर्शन मुझे हुआ और भारत का हृदय काफी विस्तृत रूप से खुल गया। इसलिए

हर प्रांत में, जहां प्रथम ही प्रवेश हुआ, मुझे एक अप्रत्यक्ष ढंग से ही काम करना पडा। और वह लाभदायी साबित हुआ। उस प्रांत का नया-नया परिचय मुझे मिलता रहा। असम जाने से पहले असम का अध्ययन करने के लिए कितनी ही पुस्तकें मैंने पढी थीं। लेकिन वहां जाने पर नया ही दर्शन मुझे हुआ। ऐसे ही कश्मीर में हुआ। तमिलनाड, केरल, बिहार, पंजाब आदि प्रदेशों में पदयात्रा से पहले भी जाना हुआ था। लेकिन खास कर कश्मीर और असम, दोनों का बिलकुल ही नया दर्शन हुआ। मैं प्रवेश बहुत सावधानी से करता हूं, सावधानी से बोलता हूं। उस प्रदेश के बारे में कम बोलता हूं, सुनता और देखता ज्यादा हूं।

मेरी मां मुझे कहती थी कि 'विन्या माणूसघाणा' है। यानी उसको मनुष्य की बू आती है। वह मनुष्य को टालनेवाला है। लेकिन अजीब बात है कि मैं मनुष्यों के पीछे हूं और मेरे साथ इतने लोग हैं। और मेरा हार्दिक परिचय इतने लोगों से है कि उतना बहुत ही कम लोगों का होगा – बिलकुल बचपन से आज तक। उसका कारण क्या है? मनुष्यों का संग्रह क्यों हुआ? अपना रक्षण कैसे करना और दूसरे के काम में कैसे आना, यह मैं जानता था। अपने रक्षण के लिए गोपन करना, दूसरे के लिए खोलना। यह नल बंद करने और खोलने जैसी सादी बात है। यह शक्ति मुझे हासिल थी। इसलिए मैंने अपने पर किसी का आक्रमण नहीं होने दिया, और न होने देता हूं। न मित्रों का, न बडों का, न अपरिचितों का। लेकिन उपयोग के लिए खोलता हूं। किसी का अच्छा असर होता है तो उसके लिए भी दिल खोलता हूं। और जहां जरूरत नहीं, एकदम बंद कर देता हूं।

योगवासिष्ठ में राम को वसिष्ठ ने उपदेश दिया है – **'अंतस्त्यागी बहिःसंगी लोके विचर राघव'** – अंदर से त्याग और बाहर से समाज का साथ रखकर हे राघव, तुम लोगों में विचरते रहो। माधवदेव ने उसका बहुत अच्छा विवरण किया है – **'बाहिरत संग देखायोक'** – बाहर से दिखाओ कि आसक्ति से काम कर रहे हो, लेकिन अंदर से बिलकुल अनासक्त रहो। मूल संस्कृत में अंदर से त्याग और बाहर से संग इतना ही है। माधवदेव ने विवरण किया है कि अंतर में बोध रखो और बाहर से संग दिखाओ। इस भाव से लोगों में घूमते रहो। यह द्वंद्व नहीं है, बल्कि ध्रुवतारा है। लोकमान्य ने मिसाल दी है कि बंबई से जहाज

निकला तो वह किसी बंदरगाह में ही जायेगा, लेकिन अपने सामने ध्रुवतारा रखकर जायेगा। कहीं निशानी होनी चाहिए, वह है ध्रुवतारा – **'ध्रुवतारे पर रहत निशानी'।** जिसे निवृत्ति कहते हैं, वह है ध्रुवतारा। वह न रहा तो हम भटक जायेंगे। इसी दुनिया का ध्येय रहा तो हम रास्ता चूकेंगे। इसलिए निवृत्ति है ध्रुवतारा और प्रवृत्ति है आपका प्रवासमार्ग! लेकिन ध्रुवतारे पर ध्यान रहता है तो मनुष्य का अ‍ॅप्रोच अप्रत्यक्ष रहता है। अहिंसा का होता है। यही मेरा अ‍ॅप्रोच है।

मेरे साथी मुझसे कहते हैं कि आपका ढंग कुछ गूढ-सा लगता है। बापू में ज्यादा भोलापन, पारदर्शिता दिखायी देती है; गूढता नहीं दीखती है। आपका ढंग गूढ होते हुए भी शास्त्रीय, वैज्ञानिक लगता है।

मैं कहता हूं कि कुछ तो अनुभवों का फर्क होता है, कुछ जमाने का भी फर्क होता है। बापू के जमाने में और अभी के जमाने में; उनके और मेरे अनुभवों में भी फर्क है। यद्यपि बापू नीचे के स्तर में भी बहुत घुलमिल जाते थे और मैं लोगों से काफी अलिप्त-सा रहता हूं, वास्तव में आम जनता का परिचय मुझे जितना सहजता से हुआ, उतना शायद बापू को नहीं हुआ था। बापू जन्मे भी दूसरी श्रेणी में थे, उनके बहुत सारे मित्र भी दूसरे श्रेणी के थे, इसलिए वे हमेशा ऊपर की श्रेणीवालों की तरफ से नीचे की श्रेणी के तरफ देखते थे। उनकी कोशिश रहती थी कि नीचे का समाज उठ खडा हो जाये, लेकिन वे जानते थे कि वह एकदम होनेवाला नहीं है। ऊपरवालों के जरिये नीचेवालों तक पहुंचने की उनकी कोशिश रही। उसके बिना चारा नहीं था। स्वभाव का सवाल था। उनकी प्रकृति ही ऐसी थी, तिस पर भी वे जाग्रत रहते थे। परंतु नीचे की श्रेणी में से नहीं होने के कारण उनका स्वाभाविक संबंध ऊपर की श्रेणी के साथ था। मैं छोटे देहात में जन्मा, बचपन में वहां पला। मेरे साथी भी उसी प्रकार के रहे। मेरे चिंतन का सारा का सारा क्षेत्र बिलकुल आम जनता का रहा। मैंने उन्हीं ग्रंथों का ज्यादा अध्ययन किया, जो आम लोगों में चलते हैं। तमिलनाड में गया तो तिरुक्कुरल, तिरुवाचकम् के साथ एकरूप हो गया। असम गया तो नामघोषा, कीर्तनघोषा में डूब गया। यह मेरी प्रक्रिया है – आम जनता का जिन चीजों के साथ संबंध है, उनके साथ घुलमिल जाना। मेरा जो पढना हुआ, उसमें सेक्यूलर सब्जेक्ट का बहुत कम हुआ। बापू कानून के पंडित थे, बॅरिस्टर थे। मुझे

दुनिया के बहुत सारे विषय प्रिय हैं, गणित से लेकर साहित्य तक, लेकिन उनमें कानून कम से कम प्रिय है। मैं कानून का ज्ञान कम से कम रखता हूं। इसलिए स्वाभाविक ही अॅप्रोच में फर्क पड जाता है।

स्वराज्य के बाद कानून के लाभ और ऊपर के जरिये नीचे पहुंचने की बात में फर्क आया है। आज की जरूरत नीचे से आरंभ करने की है। मतलब यह नहीं कि ऊपरवालों की उपेक्षा हो; उनसे जितनी मदद मिल सकती है जरूर लें। लेकिन आरंभ नीचे के स्तर से होना जरूरी है। शंकराचार्य ने जहां से आरंभ किया, वहां से मैं नहीं करता। विद्वानों के पास पहुंचना, उनका मत-परिवर्तन हो जाये, फिर बाकी का वे कर लें – यह शंकराचार्य का अॅप्रोच है। मेरा अॅप्रोच जो कबीर का था, वह है – सीधे आम जनता में ही जाना।

मुझमें गूढवाद है, इसका मैं इनकार नहीं कर सकता। इसलिए घूमता तो हूं पृथ्वी पर, लेकिन दिमाग मेरा अवश्य दूसरे ही स्तर पर रहता है। और अगर बापू के पास न गया होता तो संभव है कि मैं भी उसी तरफ जाता, जिधर मिस्टिक्स ध्यान-धारणा के कार्यक्रम में आगे बढे। लेकिन गीता का बचपन से आकर्षण था। उसने कर्म और ध्यानयोग को एकरूप दिखाया, इसलिए जीवन में समत्व की आवश्यकता मालूम हुई, और बापू के पास पहुंचने के कारण मेरा विरोध मिट गया। सतत उनकी ही राह पर चला हूं। आज भी उन्हीं की राह पर मेरे पांव चल रहे हैं, रात-दिन उसी का चिंतन है। फिर भी अंदर में एक चीज है, जो इन सबसे अलग प्रकार की है।

मैं यह नहीं मानता कि यह चीज बापू में नहीं थी। यह चीज उनमें थी, लेकिन गूढ रूप में थी। जिन लोगों का उनसे ज्यादा परिचय होता था, उनको मालूम होता था कि यह शख्स बात तो इस दुनिया की करता है, लेकिन धुन उसकी दूसरी है। वह क्या चीज है, यह उनके पहचानने में नहीं आता था, पर ध्यान में आ जाता था। साधारण तौर पर तो यही दिखायी पडता था कि बापू सर्वसाधारण लोगों के स्तर पर हैं। सेवा के सिवा दूसरी बात उनमें दीखती नहीं थी। तो यह वृत्ति का फर्क है। मैंने यह कहा भी है कि गांधीजी प्रधानतः अॅक्टिविस्ट थे, उनके बैकग्राऊंड में मिस्टिसिज्म था। इससे उलटे विवेकानंद बाहर से मिस्टिक थे, बैकग्राऊंड में अॅक्टिविस्ट थे। यानी उनमें प्रधानतः ध्यानादि वृत्ति

दिखायी देती थी। रामकृष्ण परमहंस में पूर्ण मिस्टिसिज्म दीखता है। यद्यपि उनके जीवन में साधारण लोगों के लिए काफी उपदेश मिलता है, उनके जीवन का रूप पूर्णतः गूढवादी था। ऐसा वृत्तियों का फर्क होता है। जब मैं अपने को देखता हूं, तो लगता है कि मैं इन दोनों के बीच खडा हूं।

जीवन में करनेलायक जो भी सूझता गया, उसमें अधिक से अधिक मदद मुझे, शास्त्रग्रंथ छोड दें तो, शंकर, ज्ञानदेव और गांधी, इन तीनों से मिली है। गांधीजी के विचारों और ग्रंथों का अध्ययन तो हुआ ही, अलावा उनकी संगति भी मिली। और उन्होंने जो सेवाकार्य खडे किये थे, उनमें से कुछ सेवाकार्य करने में मेरी जवानी का जीवन बीता। संगति, विचारों का लाभ और तदनुसार काम करने का अवसर, तीनों मिलकर 'महापुरुषसंश्रय' होता है, वह मुझे प्राप्त हुआ। उनका मुझ पर बहुत उपकार है। वैसे ही आदि शंकराचार्य का बहुत उपकार मुझ पर है। क्योंकि जो दार्शनिक शंकाएं तार्किक मन में उठ सकती हैं, वे मेरे मन में भी उठ सकती थीं, उनका निरसन करने में शंकराचार्य की अधिक से अधिक मदद हुई। उनका विचारऋण सर्वथा मेरे सिर पर है। ज्ञानदेव का मुझ पर जो उपकार है, उसका वर्णन करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं। वह चिंतन पर है, हृदय पर है और मेरी कार्यपद्धति पर है। इतना ही नहीं, मैं मानता हूं कि वह मेरे शरीर पर भी है। इतना उनका प्रभाव मुझ पर सभी ओर से है। मैं मूलतः बहुत कठोर हूं। मैं एक ऊबडखाबड पाषाण हूं। इस पाषाण को शंकराचार्य ने मजबूत, पक्का किया। इस पाषाण पर गांधीजी ने कारीगरी कर उसको आकार दिया। लेकिन इस पाषाण को तोडकर उसमें से पानी निकालने का पराक्रम किसी ने किया हो, मेरे जीवन और हृदय को मधुरता किसी ने प्राप्त करा दी हो तो वह ज्ञानदेव ने ही!

मैं जब अपने लिए सोचता हूं कि मैं कौन हूं और मेरा भाग्य क्या है, तो कुछ स्थूल भाग्य भी याद आ जाते हैं और उसका बहुत बडा ढेर हो जाता है। मुझे जो माता-पिता मिले, वे कुछ विशेष ही थे, ऐसा लोग मानते हैं। मुझे जो भाई मिले, उनकी भी अपनी विशेषता है, ऐसा मान सकते हैं। मुझे जो मार्गदर्शक मिले, वे तो निःसंशय ही लोकदृष्टि में महात्मा ही माने गये। मुझे जो स्नेही-मित्र मिले, वे सबके सब लोगों के

प्रेमपात्र हो गये। मुझे जो विद्यार्थी मिले उन पर तो मैं स्वयं ही मुग्ध हूं। तो यह सब भाग्य का ढेर लग जाता है। तिस पर, मुझे अनेक भाषाओं का ज्ञान होने के कारण अनेक संतपुरुषों और धर्मपुरुषों का विचार-रस सेवन करने का निरंतर मौका भी मिला और मिलता ही रहता है। यह भी एक बडा भाग्य ही है। इस तरह एक भाग्यराशि बन जाती है। लेकिन वह सबकी सब काल्पनिक ही है। मुख्य भाग्य वही है, जो मेरा है, आपका है और सबका है कि हम परमेश्वर के अंग, हिस्से, अवयव, तरंग हैं। मुख्य भाग्य तो यही है कि हम परमेश्वर के अंदर समाविष्ट हैं – यह अगर हम महसूस करें, तो हमारा बेडा पार है।

---

1 : अयुक्तः

सन् 1916 तक

: **बाल्यकाल** :

वह गांव, वह घर

हमारे दादा

विन्या की मां

योगी पिताजी

: **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** :

विद्यार्थीदशा

गृहत्याग

बाल्यकाल

वह गांव, वह घर

मेरा बचपन कोंकण (महाराष्ट्र – रायगड जिला) में बीता। बहुत ही छोटा-सा गांव था गागोदे! गांव में स्कूल नहीं था, लिखना-पढना खास किसी को आता नहीं था। प्रातःकाल में घर-घर की स्त्रियां उठ जाती थीं और सबसे पहले पीसने का काम कर लेतीं। उसके बाद आंगन बुहारना, आंगन में गोबर का पानी छिडकना, वगैरह काम शुरू हो जाते। और ये सब काम करते हुए वे मधुर स्वर में ओवी-अभंग (भजन) गाती रहतीं। भगवान का स्मरण करतीं। वह सारा वातावरण प्रातःकाल में पवित्रता का असर करता।

हमारे दादा इनामदार थे। घर बडा था। घर के सामने बडा आंगन था। बचपन में मैंने वहां तरह-तरह के मेंढक देखे। रातभर उनकी 'मांडुक्य-उपनिषद' चलती रहती। इतने सारे असंख्य मेंढकों को देखकर विन्या* बिलकुल घबरा जाता। बाद में वेद में उसका वर्णन पढा। वसिष्ठऋषि का सूक्त है। एक मेंढक बैल जैसा है, एक बकरे जैसा, एक धब्बेवाला। आगे कहते हैं कि जब वे चिल्लाने लगते हैं, तब भास होता है कि ब्राह्मण वेदघोष कर रहे हैं। गरमी में सूख जाते हैं, जैसे तपस्वी ब्राह्मण होते हैं। बारिश होती है तो ताजे बन जाते हैं, तब उनको उत्साह आ जाता है और वे आनंद से चिल्लाते हैं। मेंढक की ओर देखने की वह आध्यात्मिक दृष्टि थी।

लेकिन लोग मुझसे कहते हैं कि अब उस आंगन में एक चौथाई मेंढक भी नहीं रहे हैं। उनकी टांगें अमरीका के लोगों को बहुत मीठी लगती हैं, इसलिए मेंढकों को पकड-पकडकर उनकी टांगें वहां भेजी जाती हैं। कोंकण के लोग मुझसे पूछते हैं कि बाबा, गागोदे कब आयेंगे? तब मैं जवाब देता हूं, "जब उस आंगन में पहले जैसे मेंढक होंगे।"

गागोदे में एक तालाब है। बहुत प्रचंड तालाब! उसके पास एक बहुत ऊंचा पेड और एक प्रचंड मंदिर। बहुत सालों के बाद, चालीस साल की उम्र में जब मैं वहां गया और देखा तब वह मंदिर, पेड, तालाब

---

* विनोबा को मां 'विन्या' (विनायक का लघुरूप) नाम से पुकारती थी – सं.

सब छोटा लगा। तालाब इतना छोटा कि इस किनारे से उस किनारे तक पत्थर फेंक सकते हैं। पेड भी ऐसा कि उस पर चढ सकते हैं। बच्चे की आंख को वह सब बडा दीखता था।

गांव में विन्या इधर-उधर घूमता। मजदूर काम करते वह देखता। एकबार मजदूर एक बडा पत्थर तोड रहे थे। विन्या वहां खडा होकर देख रहा था। मजदूरों ने पूछा, पत्थर तोडना है? विन्या ने कहा, हां। पत्थर पर प्रहार कर-करके वह जब टूटकर बिलकुल दो टुकडे होने आये तब उन्होंने विन्या के हाथ में हथौडा दे दिया। फिर विन्या ने जोरों से प्रहार किया और पत्थर के दो टुकडे हो गये। तब वे मजदूर विन्या को खुश करने के लिए चिल्लाये, 'इनामदार के लडके ने पत्थर तोडा, विन्या ने पत्थर तोडा!'

इस घटना का मेरे मन पर गहरा असर हुआ। मैं मानता हूं कि आखिरी प्रहार, जो कि सफलता का प्रहार होता है, जिसके हाथ से होता है, वह व्यक्ति सबसे कम योग्यतावाला होता है। जो उसके पहले काम करते हैं, वे उससे महान होते हैं। भगवान बुद्ध, शंकराचार्य आदि का नाम दुनिया जानती है। वे तो महान थे ही, परंतु उनसे भी महान उनके गुरु थे, जिनको दुनिया नहीं जानती। जो सर्वश्रेष्ठ पुरुष होते हैं, वे कभी दुनिया के सामने आते ही नहीं, लेकिन उनके हाथ में वे लोग होते हैं, जिनको दुनिया महापुरुष कहती है।

गागोदे के घर में कभी-कभी किसी प्रसंग पर ब्राह्मण आते और वेदपठन होता। वह सुन-सुनकर विन्या ने अपना वेद बनाया था मराठी में। ब्राह्मण जैसे वेद के संस्कृत मंत्र ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत स्वर में बोलते थे, ठीक वैसे ही विन्या अपना वेद बोलता था – "चरति चरति घोऽऽ डेऽऽऽ, चरति घोऽऽ डेऽऽऽ नदीऽऽ कांठींऽऽऽ (नदी किनारे घोडे चर रहे हैं)।"

गागोदे के घर में एक अंधे चाचा थे। वे खूब मेहनती थे और सज्जन स्वभाव के थे। घर में उनकी सेवा बहुत प्रेम से की जाती थी। हम जब पिताजी के साथ बडौदा चले गये, तब अंधे चाचा बडौदा नहीं आये, गागोदे में ही रहे। एक दिन गागोदे से पत्र आया कि अंधे चाचा की मृत्यु हो गयी। गागोदे से कभी किसी की मृत्यु के समाचार आते थे तो मां हम बच्चों को नहलाती थी और खुद भी स्नान करती थी। लेकिन इस बार

ऐसा स्नान-सूतक कुछ हुआ नहीं। मैंने मां से पूछा कि मां, अंधे चाचा की मृत्यु के समाचार आये हैं, फिर हमने स्नान क्यों नहीं किया? मां ने कहा, "बेटा, वे हमारे रिश्तेदार नहीं थे। बडी मुसीबत में थे और उनके आगे-पीछे, उनकी देखभाल करनेवाला कोई नहीं था, इसलिए वे हमारे साथ रहते थे।" बरसों साथ रहनेवाले अंधे चाचा के साथ हमारा खून का कोई संबंध नहीं है, इस बात का पता तब चला जब उनकी मृत्यु हुई।

मेरे जीवन के प्रारंभ के नौ साल उस गांव में और उस घर में बीते। फिर तो हम लोग पिताजी के पास बडौदा चले गये (1905 में)। वे वहां नौकरी करते थे। छुट्टियों में हम लोग गागोदे आते और दादा-दादी के पास रहते थे। लेकिन गांव एक तरह से छूट ही गया। और फिर तो मैं गृहत्याग कर घर से ही निकल पडा। पर कुछ वर्षों के बाद 1935 में मैं गागोदे गया था। दो-चार दिन वहां ठहरा था। एक रात को, चरखे के बारे में बापू को कुछ लिखना था, तो आधी रात तक जागकर लिख लिया। फिर थोडा चिंतन करके सोनेवाला था, उतने में नजदीक एक मंदिर में गांव के लोग इकट्ठे होकर भजन कर रहे थे, उसकी ध्वनि कान पर पडी। मैं उठा और चुपचाप वहां जाकर बैठ गया। एकाध घंटे तक भजन चलता रहा। उनके उच्चार इतने अशुद्ध थे कि मेरे व्याकरण-प्रेम को वह असह्य ही लगता, परंतु भक्तिभाव के आगे मुझे कुछ नहीं लगा। मैं बिलकुल आनंद में मग्न हो गया। उन्होंने उस दिन जो भजन गाये, उनमें से एक भजन मुझे विशेष मधुर लगा, जो आज भी याद है –

सुख नाहीं कोठें आलिया संसारीं । वायां हांवभरी होऊं नका
दुःखबांदवडी आहे हा संसार । सुखाचा विचार नाहीं कोठें

– इस संसार में कहीं भी सुख नहीं है, इसलिए व्यर्थ लोभ मत करो ।
सारा संसार दुःख का बंधन है, सुख का विचार कहीं दीखता नहीं है –

80-85 घरों का वह छोटा-सा गांव! अत्यंत दरिद्री! केवल एक लंगोटी पहने हुए लोग, बदन पर दूसरा कपडा नहीं, बदन की हड्डी-हड्डी दीख रही है, और एक भजन में लीन होकर गाने में तल्लीन हो गये हैं! मैं वह दृश्य देखकर बिलकुल प्रसन्न हो गया। मैं सोचने लगा, जिस गांव में स्कूल नहीं, पढे-लिखे लोग नहीं, उस गांव में इतना ज्ञान लोगों को दिया किसने? ये लोग ज्ञानदेव, तुकाराम आदि संतों के चंद भजन

भक्तिपूर्वक गाते हैं, इसी लिए इतनी बुद्धि आज भी उनके पास बची है। हमारी शक्ति है यह!

तुकाराम के घर में अत्यंत दारिद्रय था। उनकी पत्नी भूख से मरी। तो तुकाराम कहते हैं, हे भगवान, दुःख नहीं होता तो तेरा स्मरण नहीं होता। और इतने दुःख में वे आनंद महसूस कर रहे हैं, गा रहे हैं –

आनंदाच्या कोटी । सांठविल्या आम्हां पोटीं
प्रेमा चालिला प्रवाहो । नामओघ लवलाहो

(हमारे पेट में करोडों राशि आनंद समाया है। प्रेम और नाम का प्रवाह बह रहा है।)

यह जो भक्ति हमारे देश में है, उसके कारण अत्यंत दारिद्रय में भी लोगों के चेहरों पर हास्य दीखता है। वे दरिद्री गागोदे गांव के लोग, लकडी के समान शुष्क देह, लेकिन भक्तिरस की मस्ती उनमें भरी हुई थी।

इससे पहले एक बार 1920 में भी मैं गागोदे गया था और एक दिन वहां रहा था। मरनेवाले मर गये थे। जीनेवाले जी रहे थे। चूल्हे पर पकनेवाले चावल और सूप में रखे हुए चावल, इतना ही फरक! उन्हीं नक्षत्र-तारिकाओं को गागोदा में देख रहा था, जिन्हें वर्धा में देखा था। गागोदे में भी मेरी वही वृत्ति थी, जो वर्धा में थी। वहां के पहाड देखकर तो तृप्ति ही नहीं हो रही थी। मुझे लगता है, मैं पहाड में ही रहनेवाला कोई प्राणी रहा हूंगा – किसी योगी की संगति में रहा हुआ हिरण या बाघ, मालूम नहीं, और गलती से इस जन्म में मनुष्यों में आ पडा, अभी भी पूरा 'पालतू' नहीं बना हूं। गांधीजी में तला, जमनालालजी (बजाज) में मिलाया फिर भी विनोबा विनोबा ही रहा।*

तब मैंने एक पत्र में लिखा था एक पहाड और दूसरी मां, दोनों के दरमियान आयेंगे बाकी सारी सृष्टि और सगे-संबंधी। मां की याद चार दिन में चालीस बार आयी होगी। गीता, मां और तकली – मेरे जीवन की त्रिमूर्ति है, मेरा सारा विष्णुसहस्रनाम इस 'तीन' में आ गया है।

* *

---

* विनोबाजी के मित्र उनके लिए एक मराठी कहावत कहा करते थे – 'करेला तेल में तला, चीनी में मिलाया फिर भी करेला करेला ही रहा वैसे विनोबा गांधीजी में तला...' – सं.

हमारे दादा

हमारे दादा (शंभुराव भावे) बडे भक्तिमान थे। रोज सुबह शिवजी की पूजा करते। उनकी पूजा घंटों चलती रहती। हम बच्चे सुबह उठकर आंगन से फूल-पत्ती बिनकर दादा की पूजा के लिए ले आते। दादा विन्या से पूजा के लिए चंदन भी घिसवा लेते। उनका सतत मंत्रोच्चारण चलता रहता। विन्या पास ही बैठा रहता। बीच में कभी गांव के पटेल आदि लोग मिलने आते और उनके साथ दादा की बातें चलतीं। वे जब चले जाते तब पुनः जप शुरू हो जाता। कभी दादा भूल जाते कि कहां तक जप किया था, तो विन्या से पूछते – "क्यों रे विन्या, कहां तक आया था मैं?" विन्या को याद हो तो विन्या बता देता, परंतु यदि विन्या भी भूल गया हो तो पुनः नये सिरे से जप शुरू कर देते। इस तरह कभी-कभी उन्हें जप पूरा करने में घंटे-दो घंटे लग जाते।

उस वक्त मैं सात-आठ साल का था। एक दिन रोज की तरह दादा पूजा में बैठे थे। इतने में भगवान की मूर्ति पर एक बिच्छू आकर बैठ गया। देखनेवाले सब चिल्लाने लगे – बिच्छू आया, मार डालो। तब सबको रोकते हुए दादा ने मानो उपनिषद-वाक्य कह डाला – "बिच्छू ने भगवदाश्रय लिया है। वह भगवदाश्रित है इसलिए उसे कोई न मारे।" उन्होंने भगवान की पूजा सांगोपांग पूरी की। बिच्छू वहीं बैठा था। मूर्ति पर फूल-चंदन-पानी सब चढाया। थोडी देर बाद बिच्छू वहां से उतरकर चला गया। विन्या के मन पर इसका गहरा संस्कार हुआ कि जिसने भगवान का आश्रय लिया है, वह हमारे लिए आदरणीय है।

मुझे याद आता है, हमारे घर में एक लडके ने एकबार चोरी की। दादी ने दादा के पास शिकायत की कि इस लडके ने गुड चुराकर खाया। उस पर दादा ने कहा कि "उसने चोरी नहीं की। बिना पूछे गुड ले लिया है। यह घर उसका भी है और गुड भी उसका है। पूछकर लेता तो भी उसे गुड मिलता ही, बिना पूछे लिया तो भी मिला। इसे चोरी नहीं कहते।" फिर उन्होंने उस लडके को पास बुलाया और कहा, "देखो, तुमको जब इच्छा हो तब गुड मांग लो, तुम्हें जरूर मिलेगा। और जब गुड लिया तब क्या तुमने हाथ धो लिये थे?" लडके ने कहा, नहीं धोये थे। तब उन्होंने उसे समझाया कि पहले हाथ धोकर, पोंछकर फिर गुड लेना चाहिए। तब से धीरे-धीरे उस लडके की चोरी की आदत छूट गयी।

एकबार हमारे आश्रम में ऐसा ही एक प्रसंग बना। एक लडका चोरी से बीडी पीता था। वह पहले छात्रावास में रहता था, जहां उसे यह आदत पड गयी थी। आश्रम में वह बहुत अच्छा काम करता था, फिर भी उसने यह बात छिपा रखी थी। चोरी से बीडी पीता रहा। आश्रम के एक भाई ने उसे देखा। उसे मेरे पास लाया गया। मैंने देखा, बेचारा घबडा गया था। मैंने उससे कहा, "घबडाओ नहीं। बडे-बडे लोग बीडी पीते हैं। तुमने कुछ बुरा काम नहीं किया। बुरी बात यह है कि यह काम चोरी से किया। इसलिए आज से मैं यहां एक कोठरी रखूंगा, जिसमें तुम बीडी पी सकते हो। सप्ताह में कुछ बंडल तुम्हें दूंगा।" आश्रम के कुछ भाइयों को यह तरीका अजीब लगा। तब मुझे व्याख्यान देकर समझाना पडा, "बीडी पीना निःसंशय गलत है, हम बीडी नहीं पीते, यह वह भी जानता है। उसे आदत पड गयी, इसी लिए वह पीता है। लेकिन छिपाने की आदत ज्यादा खराब है और दुनिया में खुलेआम पीना भी गलत है। इसलिए उसे आदत छोडने का मौका देना चाहिए। यह अहिंसा का विचार है। अहिंसा में सहन-शक्ति होती है। इसलिए छोटी-छोटी चीजों में आग्रह नहीं होना चाहिए।"

एकबार दादा पूजा के लिए बैठे थे और एकाएक उनका शरीर कांपने लगा, और उन्हें सिहरन हो उठी। उनको बुखार था। उनकी पूजा करीब दो-तीन घंटे चलती थी। पूजा में इस तरह का विघ्न उन्हें शायद सहन नहीं हुआ। शरीर में कंपन शुरू होते ही वे उठे और पास के कुएं में कूद पडे। दादी को लगा कि अचानक यह क्या हुआ? परंतु वे तो कुशल तैराक थे। पांच-सात मिनट अच्छी तरह से तैरकर ऊपर आ गये और शरीर पोंछकर पुनः पूजा में बैठ गये। यह घटना मैंने अपनी आंखों से देखी है। मेरी पदयात्रा में मुझे भी यह अनुभव आया है कि पानी में भीगने से कुछ भी हानि नहीं होती, क्योंकि पानी में सारी औषधियां भरी हैं। इसी लिए वेद ने पानी को 'विश्वभेषजः' की उपाधि दी है।

गणेश चतुर्थी के दिन हमारे घर में गणपति की मूर्ति की स्थापना होती थी। गणेशजी की मूर्ति दादा हम बच्चों की सहायता से खुद बनाते। हमसे चंदन घिसवाते और उसकी मूर्ति बनाते। उसकी प्रतिष्ठापना होती, रोज पूजा-आरती होती। दस-ग्यारह दिन तक घर में उत्सव का वातावरण

रहता। लेकिन ग्यारहवें दिन मूर्ति का विसर्जन होता, मूर्ति पानी में डुबो दी जाती। इतने परिश्रम से जिस मूर्ति को बनाया, दस-बारह दिन तक पूजा-अर्चना की, उसको डुबो देना – वह भी उत्सव मनाते, गाते-बजाते हुए – इस विचार से बहुत दुःख होता। बाद में समझ में आया कि उसके पीछे हेतु है। हिंदूधर्म में मूर्तिपूजा के साथ-साथ मूर्ति-गौणता की भी युक्ति समझायी है। मूर्ति-भंजन नहीं करना है, सादर मूर्ति-विसर्जन करना है। आवाहन-विसर्जन की यह क्रिया बहुत ही सुंदर है। जिसका सर्जन किया, उसी का विसर्जन करने की शक्ति – अनासक्ति हममें आनी चाहिए।

दादा का व्रत-उपवास आदि चलता ही रहता। वे चांद्रायण व्रत करते थे। उस व्रत में प्रतिपदा के दिन एक ही कौर भोजन लेना और फिर रोज चंद्र की कला के साथ एक-एक कौर बढाते-बढाते आखिर पूर्णिमा के दिन पंद्रह कौर भोजन लेना, और फिर एक-एक कौर घटाते-घटाते अमावस के दिन पूरा उपवास करना, ऐसी पद्धति रहती है। चांद्रायण व्रत करते समय दादा चंद्रोदय के बाद चंद्रमा की पूजा-आरती करके ही उस दिन जितने कौर खाने के होते थे उतने खा लेते थे। चंद्रोदय रोज किसी एक निश्चित समय पर तो होता नहीं। कभी संध्या को, तो कभी रात को, तो कभी देर रात को! इसलिए कई बार चंद्रोदय होता तब विन्या सोया हुआ होता। दादा मां से उसको जगाने के लिए कहते। मां विन्या को बिस्तर से उठाकर दादा के पास लाकर बिठाती। विन्या आधी नींद में रहता, पर दादा की पूजा-आरती समाप्त होते ही झट अपना हाथ प्रसाद के लिए आगे बढा देता। और दादा अपने कौर में से थोडासा हिस्सा विन्या के हाथ पर रख देते।

मुझमें जो थोडी-बहुत पवित्रता है, वह दादा के कारण है। वह दादा की मेरे लिए उत्तम विरासत है। अच्छी-अच्छी चीजें खिला-पिलाकर जो दुलार करने होते हैं, वे तो उन्होंने जरूर किये होंगे, परंतु आधी रात को भी भगवान के दर्शन के वास्ते जगाकर उन्होंने मेरे मन पर जो संस्कार डाले हैं और वह जो प्रसाद मुझे मिला है, उसे मैं कभी भूल नहीं सकता। उनका यह मुझ पर महान उपकार है

* *

विन्या की मां

मेरे मन पर मेरी मां का जो संस्कार है, उसके लिए कोई उपमा नहीं है। मुझे अनेक सत्पुरुषों की सत्संगति प्राप्त हुई है। अनेक महापुरुषों के ग्रंथ मेरे पढने में आये हैं, जो अनुभव से भरे हैं। उन सबको मैं एक पलडे में रखता हूं और मां से मुझे साक्षात् भक्ति का जो शिक्षण मिला उसे दूसरे पलडे में रखकर तौलता हूं तो यह दूसरा पलडा भारी होता है; उसका वजन ज्यादा होता है।

मैं मां का बेटा हूं। कुछ बच्चे मां के होते हैं, कुछ पिता के होते हैं, तो कुछ दादा या दादी के होते हैं। मैं मां का हूं। यही मेरी असली पहचान है। मतलब, मेरे जीवन पर मां का जितना प्रभाव है, उतना और किसी का नहीं होगा। मुझ पर मेरी मां की जितनी सत्ता चलती है, उतनी और किसी रिश्तेदार की या साथी-मित्र की नहीं चलती। उसीकी लगायी हुई आदतें, उसीकी बतायी हुई दिशा! मां ने जो सिखाया, उसमें से जितना भी ले सका उतना लिया। उसकी कही हुई कहानियों की जितनी याद आती है और जितना उपयोग होता है, उतना अन्य किसी बात का होता नहीं। बहनों की तरफ देखने की मेरी दृष्टि भी वैसी ही बनी है। मैं बहनों की ओर हमेशा मातृदृष्टि से ही देखता आया हूं। मैंने गीता का जो अनुवाद किया, उसको 'गीताई' नाम दिया। इतनी बडी दुनिया में कहीं आश्रय न भी मिले, मां का आश्रय तो कोई छिन नहीं सकता। 'गीताई' नाम देने के पीछे मेरा उद्देश्य यही बात कहने का था।

मां परम भक्त थी। घर के सब लोगों को खिला-पिलाकर, घर का काम पूरा कर, बिना कुछ खाये वह भगवान के सामने बैठ जाती। भगवान की सांगोपांग पूजा करती। आरती करना, भगवान पर फूल चढाना इत्यादि पूजा की जो विधि है, उसके अनुसार पूजा करती, जैसे कि सभी करते हैं, परंतु पूजा-समाप्ति पर वह भगवान को प्रणाम करती तब उसके भक्त-हृदय का दर्शन होता। प्रणाम करने के बाद अपने दोनों कान पकडकर वह बोलती – 'हे अनंत कोटि ब्रह्मांडनायक! मेरे अपराधों को क्षमा कर।' और उस समय उसकी आंखों से आसुओं की अविरत धारा बहने लगती। ईश्वर का और उसका मानो सीधा संबंध हो, ऐसा वह अद्भुत दृश्य होता था। ऐसी अश्रुधारा आदेश से नहीं बह सकती।

हृदय भक्ति से भरा हो तभी यह हो सकता है। आदत के मुताबिक, विशेष दिन पर हमारी आंखों से भी आंसू बह सकते हैं। जैसे रामनवमी है, कृष्णाष्टमी है। ऐसे दिन पर उत्सव होता है, भगवान की मूर्ति रखी जाती है, तो वह देखकर अश्रुधारा बह सकती है। परंतु रोज की पूजा में इस तरह अश्रु की धारा बहते हुए मैंने देखी है। यह भक्ति के बिना हो नहीं सकता। मेरे हृदय में मां के जो स्मरण बचे हैं, उनमें यही सर्वश्रेष्ठ स्मरण है।

मां रात को सब सो जाने के बाद आखिर में सोती थी। बडी फजर सबसे पहले उठती और चक्की पर बैठकर पीसने लगती। पीसते समय भगवान के मधुर गीत गाती। इससे हम बच्चों को उत्तम शिक्षा मिली। आज जब भी इस बात का स्मरण होता है तब मेरी आंखें भर आती हैं। प्रातःकाल के इस पीसने में कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग – तीनों एकरूप हो जाते थे!

हमारी मां मामूली घर-गृहस्थी के काम में थी। दिनभर काम में लगी रहती लेकिन उसका चित्त निरंतर ईश्वरभावना से भावित रहता था। वह संसार में थी, लेकिन उसके चित्त में, उसकी वाणी में संसार नहीं था। उसके मुख से कभी कटु शब्द सुना नहीं। सुबह उठी कि नामस्मरण शुरू हो जाता। चक्की पीसने बैठी तो भगवान के गीत शुरू हो जाते। वह जो गाने गाती थी, वह सब भगवान के होते थे। अत्यंत प्रेम से और भक्ति से गाती थी। उसकी आवाज बहुत मधुर थी। और उसकी विशेषता यह थी कि बिलकुल तन्मय होकर गाती थी। एकबार मैंने मां से कहा कि रोज नया भजन गाओ, कल गाया हुआ आज नहीं, आज गाया हुआ कल नहीं चलेगा। तो छः महीने तक यह कार्यक्रम चला। उसने मुझे रोज नया भजन सुनाया। इतने भजन उसको कंठस्थ थे। वह कर्नाटक की थी। उसका मायका वहां था। तो उसको कन्नड भजन भी आते थे। पुरंदरदास का 'एनगू आणे रंगा निनगू आणे। एनगू निनगू इब्बरिगु भक्तराणे' भजन वह बहुत मधुर आवाज में गाती थी। उसका अर्थ है – भगवान, तुमको भी और मुझे भी भक्तों की कसम है। यदि मैं तुम्हें छोडकर दूसरे का आश्रय लूं, तो मुझे कसम; तुम मेरा हाथ छोडोगे, तो तुम्हें कसम।

उसका स्नान, रसोई वगैरह जो भी चलता तब अंदर कुछ न कुछ धुन चलती रहती। कई दफा यहां तक होता था कि वह रसोई में दुगना

नमक डाल देती। वह तो सबका भोजन हो जाने के बाद भगवान की पूजा करके ही खाना खाती। मैं सबसे पहले खाने बैठता, लेकिन खाने की तरफ मेरा बहुत ही कम ध्यान रहता, जो सामने होता वह खा लेता और चला जाता। बाद में पिताजी खाना खाने बैठते। वे कहते कि सब्जी में नमक ज्यादा पडा। शाम को वह मुझसे पूछती कि सब्जी में नमक ज्यादा था तो तुमने मुझे कहा क्यों नहीं। मैं उससे कहता, तू ही पहले चखकर क्यों नहीं देख लेती? लेकिन भगवान की पूजा करने से पहले, उनको नैवेद्य चढाये बगैर कैसे चखें? वह उसको जंचता नहीं था।

मां को पिताजी के लिए बहुत आदर था, फिर भी वह मुझे भी मानती थी। एक बार उसने भगवान को एक लाख चावल के दाने चढाने का संकल्प किया। रोज चावल के दाने गिन-गिनकर चढाती। पिताजी ने उसे चावल के दाने गिनते हुए देखा, तो कहने लगे, ''यह तुम क्या कर रही हो? उससे तो यह करो कि एक तोला चावल नाप लो, उसमें कितने दाने आते हैं वह गिन लो और उस हिसाब से लाख दाने जितने तोले में आयेंगे उतना तोला चावल ले लो। चाहे तो आधा तोला ज्यादा ले लो, ताकि गिनती में कहीं कमी न रह जाये।'' इस पर मां कुछ बोली नहीं। उसे जवाब सूझा नहीं। शाम को मैं घर आया तब उसने मुझसे पूछा – ''विन्या, तुम्हारे पिताजी ने ऐसी बात कही, इसमें क्या रहस्य है, मुझे बताओ।'' मैंने कहा, ''तुम जो चावल के लाख दाने भगवान को चढा रही हो, वह गणित-हिसाब का काम नहीं है। वह तो भक्ति है। संतों और ईश्वर के स्मरण के लिए वह है। एक-एक दाना गिनते समय चित्त में नामस्मरण चलता रहे, इसलिए एक-एक दाना गिनना ही चाहिए।'' उसे एकदम संतोष हुआ और पिताजी को उसने वैसा ही जवाब दिया।

नागपंचमी का त्यौहार आता तो मां नागदेवता की पूजा करती। उस दिन वह मुझसे नागदेवता का चित्र खींच देने के लिए कहती। मैं कहता, मां, बाजार में सुंदर चित्र मिलता है। वह कहती, ''सुंदर हो तो भी वह नहीं चाहिए। मुझे तो तेरे हाथ का खींचा हुआ चित्र चाहिए।'' बेटे के लिए इतनी भावना थी। फिर मैं छोटे पीढे पर कुंकुम से नागदेवता का चित्र खींचकर देता।

रोज रात को दूध में जामन डालते समय मां भगवान का नाम लेती। एक दिन मैंने उससे पूछा, मां, दही जमाने में भी भगवान को लाने की

क्या जरूरत है? बोली, "बेटा, हमने अपनी ओर से भले पूरी तैयारी कर ली हो, फिर भी दही तो तभी जमेगा जब भगवान की कृपा होगी। इसलिए मैं भगवान का नाम लेती हूं।" भक्त का प्रयत्न और भगवान का अनुग्रह, दोनों का भान उसको था।

बचपन में मां ने मुझसे रोज तुलसी के पौधे को पानी देने का नियम करवाया था। एकबार मैं स्नान करके आया और भोजन के लिए पीढे पर बैठ गया। मां ने पूछा, तुलसी को पानी दिया? मेरे 'ना' कहते ही वह बोली, "पहले तुलसी को पानी देकर आओ, तब तुझे भोजन दूंगी।" उसका मुझ पर यह अनंत उपकार है। उसने मुझे दूध पिलाया, खाना खिलाया, बीमारी में रात-रात जागकर मेरी सेवा की, ये सारे उपकार हैं ही। लेकिन उससे कहीं अधिक उपकार उसने मुझे मानव के आचार-धर्म की शिक्षा देकर किया है।

गागोदे में हमारे घर के आंगन में एक कटहल का पेड था। मैं तो बच्चा ही था। पेड को कटहल लग जाते तब मैं मां से पूछता कि कब कटहल खाने को दोगी? कटहल पक जाता तो मां उसे तोडती और पत्ते के बहुत सारे दोनों में थोडे-थोडे कटहल के कोएं भर देती। फिर मुझे पहले ये दोने अडोस-पडोस के घरों में दे आने को कहती। सबदूर कटहल बांटने का काम पूरा हो जाता, तब फिर वह मुझे अपने पास बिठाकर मीठे कोएं खाने को देती, कहती, **विन्या, पहले देकर फिर खाना चाहिए।** कितने बडे गहरे तत्त्वज्ञान की शिक्षा उसने मुझे दी! वह कहा करती – उसने वह व्याख्या ही बना दी थी – "जो देता है वह 'देव' (भगवान) है, और जो रखता है वह 'राक्षस' है।" उसकी इस शिक्षा का मुझ पर इतना असर हुआ कि मेरा मानना है कि वह शिक्षा न मिलती तो मुझे भूदान-यज्ञ का विचार न सूझता।

अडोस-पडोस के किसी घर की बहन बीमार हो तो मां उसके घर जाकर रसोई बना देती। तब वह अक्सर पहले अपने घर की रसोई बनाती और फिर उस घर की बनाने जाती। एकबार मैंने कहा, मां, तू बडी स्वार्थी है। पहले अपने बच्चों का, अपने घर का ख्याल कर लेती है, फिर दूसरे के घर का करने जाती है। तब वह हंसने लगी, बोली, "जल्दी रसोई बनाकर रख दूं तो वह ठंडी हो जायेगी। उन्हें गरम खाना मिले इसलिए वहां समय पर जाकर रसोई बना देती हूं और यहां पहले बना

लेती हूं। यह स्वार्थ नहीं, परार्थ है।''

बचपन में विन्या को एकबार भूत का डर लगा। तो मां ने विन्या को समझाया कि ''परमेश्वर के भक्तों को भूत कभी नहीं सताता। भूत का डर लगे तो लालटेन लेकर जाओ और रामनाम जपो। भूत-वूत जो होगा सब भाग जायेगा।''

एकबार रात को दीवार पर एक बडी परछाई मैंने देखी। मेरी ही परछाई थी। लंबी दीख रही थी। इतना लंबा आदमी मैंने कभी देखा नहीं था। तो दौडकर मां के पास चला गया। मां ने कहा – ''घबडाने की क्या जरूरत है, वह तो तेरा गुलाम है। तू जैसी आज्ञा करेगा, वैसा वह करेगा। तू खडा होगा तो वह खडा होगा, तू बैठेगा तो वह बैठेगा।'' मैंने सोचा, करके तो देखूं, क्या होता है। तब मैं बैठ गया, वह भी बैठ गया। मैं खडा रहा तो वह भी खडा रहा। मैं चलने लगा तो वह भी चलने लगा। मैं लेट गया तो वह भी लेट गया। तो फिर ध्यान में आया कि यह तो अपना गुलाम है, इससे क्या डरना। इस तरह मां ने भूत का डर श्रद्धा से और छाया का डर बुद्धि से निकाला।

दरवाजे पर कोई भिक्षा मांगने आता तो मां उसे कभी खाली हाथ लौटने नहीं देती। एक दिन एक हट्टा-कट्टा भिखारी आया। मां उसे भिक्षा देने लगी। मैंने मां से कहा – यह तो अच्छा हट्टा-कट्टा दीखता है। ऐसे लोगों को अगर भिक्षा देते जायेंगे, तो देश में आलस्य बढेगा। अपात्र को दान करते हैं तो उससे दान देनेवालों का भी अकल्याण होता है। यों कहकर मैंने उसको गीता का **देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्**, यह श्लोक भी बता दिया। मां ने सुन लिया और शांति से कहा – ''विन्या, पात्र-अपात्रता की परीक्षा करनेवाले हम कौन होते हैं? हमारे लिए तो दरवाजे पर आये हर व्यक्ति को परमेश्वर समझना और यथाशक्ति देना, इतना ही रहता है। उसकी परीक्षा करनेवाली मैं कोन हूं!'' मां की इस दलील पर विन्या को आज तक दूसरी दलील सूझी नहीं।

हमारे पिताजी अक्सर किसी न किसी जरूरतमंद विद्यार्थी को अपने घर पर रखते थे। उन दिनों एक गरीब विद्यार्थी हमारे घर पर रहता था। घर में कभी कुछ ठंडा खाना बच जाता तो मां खुद खा लेती थी या ज्यादा हो तो विन्या को दे देती। उस विद्यार्थी को तो वह हमेशा ताजी रोटी परोसती। मैं रोज देखता था। एक दिन मैंने मां से पूछा, ''मां, तू तो

हमें कहती है कि सबको समान दृष्टि से देखना चाहिए, परंतु तेरा भेदभाव अभी तक गया नहीं। देख, उस लडके को तू ठंडा खाना कभी परोसती नहीं, और मुझे परोसती है। इतना फरक तो तू भी करती है न?''

सुनते ही मां ने जवाब दिया – ''तेरी बात सही है। अभी मुझसे तेरे में और दूसरे में भेद होता है। यह तुझमें मेरी आसक्ति है, मेरे हृदय में तेरे लिए पक्षपात है. तू मुझे आसक्ति के कारण पुत्रस्वरूप दीखता है, जबकि यह लडका मुझे भगवत्-स्वरूप दीखता है। जिस दिन तू मुझे भगवत्-स्वरूप दीख पडेगा उस दिन यह भेदभाव खतम हो जायेगा।''

एकबार मेरे हाथ में एक लकडी थी और मैं उससे मकान के खंभे को पीट रहा था। मां ने मुझे रोककर कहा, ''उसे क्यों पीट रहे हो? वह भगवान की मूर्ति है। उसको क्यों तकलीफ देना चाहिए?'' मैं रुक गया। यह जो भावना है खंभे को भी नाहक तकलीफ न देने की, वह यहां की हवा में है। सब भूतों में भगवत्-भावना रखें, यह बात बिलकुल बचपन से मां ने पढायी।

बचपन में मैं बहुत बीमार रहता था। इसलिए डाक्टर की दवा भी कुछ न कुछ चलती रहती थी। दवा पिलाते समय मां मुझसे एक श्लोक बुलवाती – **'औषधं जाह्नवी-तोयं वैद्यो नारायणो हरिः।'** एक दिन मैंने उसका अर्थ पूछा, तो उसने बताया कि डाक्टर को भगवान समझो और वह जो कुछ औषध दे उसको गंगाजल समझो। मैंने कहा, मेरा अर्थ दूसरा है कि भगवान को वैद्य और गंगाजल को दवा समझो। तब उसने कहा कि ''तेरा अर्थ भी सही है, पर उसके लिए वैसी योग्यता चाहिए। आज तो तेरे लिए यही अर्थ है कि डाक्टर को भगवान समझो।'' ये दो भूमिकाएं हैं और दोनों बातों में तथ्य है।

हमारी मां पढी-लिखी नहीं थी, परंतु भक्तिविजय आदि पोथियों से उसका परिचय था। एक दिन भक्तिविजय पढते-पढते मैंने मां से कहा – ऐसे संत तो केवल प्राचीन काल में ही हो सकते थे। उस पर मां बोली – ''संत तो आज भी हैं। बस, हम उनको जानते नहीं हैं। यदि संत-सज्जन नहीं होते तो फिर यह पृथ्वी टिकती किसके तप के आधार से?'' यह उसकी श्रद्धा थी, विश्वास था। इस विश्वास के आधार से उसने विन्या को जो शिक्षा दी, वह जीवनभर उसके काम आयी।

मां को पढना-लिखना विन्या ने ही सिखाया। एक दिन वह

भक्तिमार्गप्रदीप पढ रही थी। एक-एक अक्षर लगा-लगाकर पढने में, एक भजन पूरा करने में उसको पंद्रह मिनट लग गये। मैं ऊपर के कमरे में बैठा था, वहां से उसका पढना सुन रहा था। आखिर नीचे आ गया और उससे पूरा भजन पढवा लिया। फिर तो रोज थोडा-थोडा करके सारी किताब पूरी कर दी।

एक दिन सुबह मैं ऊपर के कमरे में वर्डस्वर्थ की एक कविता पढ रहा था। उसने सुना तो कहा, "विन्या, प्रातःकाल में यह येस्-फेस?" मैंने उसको कविता का आशय समझाया और कहा कि मैं अच्छी किताब ही पढ रहा हूं। तब वह बोली – "मैं जानती हूं, तुम गलत किताब कभी पढोगे नहीं। और अंग्रेजी में भी अच्छी बातें लिखी हुई हो ही सकती हैं। अंग्रेजी पढना बुरा नहीं, वह भी पढना चाहिए। लेकिन प्रातःकाल में तो संस्कृत पढना चाहिए।" मतलब, दिन के दूसरे समय में और पढा जा सकता है पर प्रातःकाल की पवित्र वेला में संस्कृत ही पढें।

संस्कृत पढने की प्रेरणा उसी ने मुझे दी। मैं जब हाईस्कूल में पढने जानेवाला था, तब हमारे घर में चर्चा निकली कि मुझे कौनसा विषय लेना चाहिए, 'सेकंड लैंग्वेज' (दूसरी भाषा) के तौर पर। पिताजी ने कहा, फ्रेंच ली जाये। मैंने कहा, ठीक है। मां को उसमें बहुत ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन हमारी चर्चा उसने सुनी थी। शाम को स्कूल से वापस आया, खाने बैठा, तब वह मेरे पास बैठी। उसने पूछा, तुमने कौनसा विषय लिया है? मैंने कहा, फ्रेंच। उस पर वह बोली, "ब्राह्मण का लडका संस्कृत नहीं सीखेगा?" मैंने उसको इतना ही जवाब दिया कि "ब्राह्मण का लडका है तो संस्कृत सीख लेगा। संस्कृत स्कूल में जाकर ही सीखनी चाहिए, ऐसी बात नहीं है।" लेकिन मां के उस वाक्य का मुझ पर गहरा असर हुआ, जिसका वर्णन मैं नहीं कर सकता। फिर मैंने संस्कृत का अध्ययन किया। दस-बीस भाषाएं तो मैंने सीख ली हैं, लेकिन मराठी के अलावा सांगोपांग ज्ञान मुझे सिर्फ संस्कृत का है। संस्कृत मैंने स्कूल या कालेज में नहीं सीखी, मैं स्वयंशिक्षक था।

शायद 1915 की बात है। बडौदा में एक प्रवचनकार आये थे। वे गीता पर प्रवचन करते थे। मां रोज रात को उनका प्रवचन सुनने जाती। दो-चार दिन के बाद कहने लगी – "विन्या, वे गीता पर बोलते हैं, मेरी समझ में नहीं आता, मुझे एक मराठी गीता की पुस्तक ला दो।" वैसी

किताब मैं मां के लिए ले आया। उसे पढने के बाद वह बोली कि यह तो गद्य है, मुझे पद्य ला दो। गद्य से पद्य पढना शायद सुलभ जाता होगा। वामन पंडित का गीता का मराठी अनुवाद 'समश्लोकी गीता' उपलब्ध था। वह किताब मैंने मां को दी। थोडे दिन के बाद वह बोली, यह तो कठिन है, समझ में नहीं आता। मैंने कहा, अब क्या किया जाये? इससे सरल अनुवाद है नहीं। तब वह झट से बोली – **"तू ही क्यों नहीं करता मेरे लिए गीता का मराठी में सरल अनुवाद? तू यह कर सकता है।"** मां के इस विश्वास ने ही मुझसे गीताई की रचना करवायी है।

बचपन में मैं अपनी ही धुन में रहता। ब्रह्मचर्य से रहना है इसलिए गद्दी पर नहीं सोना, जूता नहीं पहनना आदि नियम करता। एक दिन मां ने मुझे कहा – "विन्या! तुम वैराग्य का नाटक तो खूब करते हो, लेकिन अगर मैं पुरुष होती तो बताती असली वैराग्य क्या होता है।" मतलब, स्त्रियों की गुलामी का सूचन उसमें था, अगरचे घर में हमारे पिताजी की ओर से सबको पूर्ण स्वातंत्र्य दिया हुआ था। मुझे विश्वास है, जैसा कि मां ने कहा वैसा सचमुच वह कर सकती। उसके तीनों बेटे ब्रह्मचारी निकले। वह कहती – "विन्या, गृहस्थाश्रम का अच्छी तरह से पालन करने से एक पीढी का उद्धार होता है, परंतु उत्तम ब्रह्मचर्यपालन से बयालीस पीढियों का उद्धार होता है।" मां 36 साल की थी, तब हमारे माता-पिता ने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया, मां की प्रेरणा से। मां के जाने के बाद यह बात खुद पिताजी ने मुझे बतायी थी।

मां 42 की उम्र में गयी (24 अक्तू. 1918)। मां तुकाराम के भजन बहुत पढती थी। वे भी 42 में गये थे, मां भी 42 में गयी। उसकी मृत्यु के समय मैं उसके पास था। मेरा ख्याल है, वह अच्छे समाधान में गयी। मैंने उससे पूछा था – 'समाधान है?' तो उसने कहा था – "मुझे पूरा समाधान है। एक तो, तू अब बडा हो गया, तेरी चिंता नहीं और तू अपने भाइयों को देखेगा इसलिए वह चिंता भी मुझे नहीं। और दूसरी बडी बात, दो महीने पहले मुझे भगवान के दर्शन हुए।" दो महीने पहले वह डाकोरनाथ का दर्शन करके आयी थी। डाकोर बडौदा से चार घंटे के रास्ते पर है, पर बारह साल में वह वहां जा न सकी थी घर के काम के कारण। तो वह समाधान भी उसे मिल गया था।

मां के अंतिम संस्कार की बात चली, तब मैंने कहा, अंतिम संस्कार

ब्राह्मण के हाथ से नहीं होंगे, मैं करूंगा। बाकी लोगों का इसके लिए विरोध था। पिताजी कहने लगे – तुम्हारी मां क्या पसंद करती, वह सोचो। मैंने कहा, मुझे विश्वास है कि ऐसे ब्राह्मणों के बजाय वह मेरे हाथ से ही अंतिम संस्कार कराना पसंद करती। लेकिन वह बात मान्य नहीं हुई। तो मैं मां के अंतिम संस्कार के समय स्मशान में नहीं गया। और उस दिन से मैंने वेदमाता का अध्ययन शुरू किया। स्नान करके वेद पढने बैठ गया।

मेरी मां की सुगंध आसपास फैली थी। जब उसकी मृत्यु हुई, तो कितने ही लोगों ने कहा कि एक 'महान योगिनी' की मृत्यु हुई। उसको ख्याल में रखकर ही मैंने गीता-प्रवचन में लिखा है कि ऐसी कितनी ही माताएं होंगी, जो आगे बढ गयी होंगी और योगी अहंकार में फंसे पडे होंगे।

मां के कुछ वचनों का तो मेरे विचार पर इतना प्रभाव है कि उन वचनों को मैंने 'विचार-पोथी' में दर्ज कर रखा है –

– विन्या, ज्यादा मत मांगो। ध्यान में रखो, थोडे में मिठास है और ज्यादा में बदमाशी।

– भरपेट अन्न और शरीरभर वस्त्र, इससे अधिक की जरूरत नहीं।

– भगवान की और साधुसंतों की बातों के अलावा दूसरी कोई भी बात सुननी नहीं चाहिए।

– देशसेवा करेंगे तो भगवान की भक्ति उसमें आ ही गयी; फिर भी थोडा भजन चाहिए।

मां की उसके बेटे पर पूरी श्रद्धा थी और उस श्रद्धा ने ही मुझे बनाया है। मैं घर छोडकर गया तब पिताजी मां को समझाते कि वह थोडे दिन में वापस आ जायेगा। पर मां वैसा नहीं मानती थी। वह कहती थी कि "विन्या एकबार जो बोला, उसमें फर्क पडेगा नहीं।" आसपास की बहनें मां से कहतीं कि आजकल के लडके होते ही ऐसे हैं, मां-बाप की परवाह नहीं करते हैं। पर मां उन्हें कहती, "मेरा विन्या नाटक-वाटक जैसी गलत बातों के लिए थोडे ही घर छोडकर गया है! उसके हाथ से कभी गलत काम नहीं होगा।" मेरा मानना है कि मेरी मां आज भी निरंतर मेरे पास ही रहती है।

मां! तुमने मुझे जो दिया है वह और किसी ने भी नहीं दिया है, परंतु मृत्यु के बाद तुम जो दे रही हो, वह तुमने भी जीवित होते हुए नहीं दिया। आत्मा के अमरत्व का इतना ही सबूत मेरे लिए पर्याप्त है।

* *

योगी पिताजी

पिताजी का प्रायः सारा वर्तन बापू की पद्धति पर रहा है। अपनी मुख्य वस्तु का आग्रह, बाकी सब विषयों में अनाग्रह। दूसरे को दुःख न दिया जाये, वृद्धों की मर्यादा रखी जाये, पडौसियों की सेवा की जाये, ऐसा उनका जीवन था। उन्होंने मुझे बचपन में दासबोध की उपदेश-पाठ नामक पुस्तक दी थी। उसमें ये सब सिखावनें थीं। वे मुझे मेरी शरारतों के लिए मारते थे। यह मैं उनका अपने पर भारी अनुग्रह समझता हूं। मुझे जब उनका स्मरण होता है, तब वैसा ही आनंद होता है, जैसा अपनी मां के स्मरण से होता है। यह बात सही है कि जितने संस्मरण मैंने मां के सुनाये हैं, उतने उनके नहीं सुनाये, लेकिन वे मेरे जीवन में गहरे पैठे हैं।

पिताजी का सारा काम वैज्ञानिक ढंग से चलता। उनका भोजन नियमबद्ध था। शाम को कटोरीभर दूध, गेहूं की तीन रोटी और दस तोला सब्जी। सुबह नाश्ते में एक पाव दूध। इसमें कभी फरक नहीं पडा। सुबह और शाम का आहार उन्होंने खुद तय कर लिया था। दोपहर का खाना उन्होंने मां पर छोड दिया था। मां जो बनायेगी वह ले लेते थे, लेकिन कितना खाना, यह उनका तय रहता था।

पिताजी को मधुमेह की बीमारी थी। उन्होंने अपने आहार के बारे में सोचा और सब तरह की शर्करा छोडने का तय किया। दूध में भी शर्करा होती है, इसलिए दूध के बदले दूध का छेना लेने लगे और गेहूं वगैरह सब प्रकार का अनाज छोड दिया। सोयाबीन लेने लगे। सोयाबीन में ज्यादा से ज्यादा प्रोटीन है, बीस फी सदी चरबी है और कारबोहाइड्रेट्स बहुत कम हैं। सोयाबीन उन्होंने किस तरह बढाया, यह भी देखने लायक है। पहले दिन सोयाबीन का एक दाना लिया और उसके बदले में गेहूं के तीन दाने कम किये। दूसरे दिन सोयाबीन के दो दाने लिये और गेहूं के छः दाने कम किये। यों करते-करते जितने गेहूं के दाने लेते थे उसके चालीस प्रतिशत तक आ पहुंचे। इस तरह करने में डेढ महीना लगा। आखिर में 15 तोला सोयाबीन तक पहुंच गये। थोडी शाक-भाजी वे लेते

थे। उनका रोग दूर हो गया।

उनको बवासीर की व्याधि भी थी। एक दिन किसी के घर भोजन के लिए गये। वहां पूडी और करेले की सब्जी खायी। दूसरे दिन शौच साफ हुआ, तकलीफ नहीं हुई। तो सोचने लगे कि यह किस चीज का परिणाम है, पूडी का या करेले का? तो दूसरे दिन सिर्फ पूडी खाकर देखा। लाभ नहीं हुआ। फिर सिर्फ करेले की सब्जी खाकर देखा, तो मालूम हुआ कि वह पेट साफ होने के लिए अनुकूल है। वह लेने लगे। इस तरह उनका सारा काम शास्त्रीय और प्रयोगात्मक रहता था।

मां जाने के बाद तीस साल वे जीये। तब करीब बीस साल वे केवल दूध पर ही थे। बीच-बीच में सोयाबीन भी लेते थे।

मां की मृत्यु के बाद एकबार बालकोबा ने उनसे पूछा था – 'मां गयी तो उसका आप पर क्या असर हुआ?' उन्होंने जवाब दिया – "तुम्हारी मां गयी तो मेरा स्वास्थ्य जरा ठीक रहता है। मैं संयम से और विचार से बरतनेवाला आदमी हूं। फिर भी एक समय का भोजन मैंने तुम्हारी मां के हाथ में रखा था, वह जो खिलाती वह खा लेता। स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छा-बुरा नहीं देखता। परंतु अब अपने स्वास्थ्य के अनुकूल सोचकर जो चाहिए वह लेता हूं।" बालकोबा ने जब यह बात मुझे कही तब मैं बिलकुल गद्‌गद हो गया। कितने वैराग्य का उत्तर है! करीब-करीब तुकाराम की भाषा। **'बाईल मेली मुक्त झाली, देवें माया सोडविली'** (पत्नी मर गयी तो वह मुक्त हो गयी और भगवान ने मुझे माया से छुडवा दिया)।

पिताजी योगी थे, गणितज्ञ थे, वैसे ही शास्त्रज्ञ भी थे। वे रसायनशास्त्री थे। रंग के विविध प्रयोग करते रहते थे। कपडे के छोटे-छोटे टुकडों को रंगाते और फिर कौनसा रंग कच्चा, कौनसा पक्का, कौनसा रंग धूप में टिकेगा, कौनसा पानी में टिकेगा, कौनसा दोनों में टिकेगा, इस तरह से तरह-तरह के प्रयोग करते रहते थे। उन छोटे-छोटे टुकडों की उन्होंने एक पुस्तक भी तैयार की थी, और हरएक टुकडे के आगे उस रंग का नाम लिख रखा था। एकबार मां ने कहा, ऐसे छोटे-छोटे टुकडे रोज रंगाते हो, उतने में तो मेरी एक साडी रंग जाती और पहनने के काम में आती। पिताजी कहने लगे – "यदि प्रयोग सफल हुआ तो उसमें से एक नहीं, अनेक साडियां मिलेंगी। परंतु जब तक

प्रयोग सफल नहीं हुआ, तब तक तो टुकडे ही हाथ में रहेंगे।''

बडौदा में कपडे की पहली मिल शुरू हुई तब पिताजी को बहुत आनंद हुआ। उस दिन घर आकर वे बहुत ही आनंद से हमको जानकारी देने लगे। वे इतनी खुशी में थे कि उनकी वह खुशी देखकर मां कहने लगी कि विन्या के जन्म की वार्ता सुनकर भी आपको इतना आनंद नहीं हुआ होगा! आधुनिक विचारकों को मशीनरी के आने से आनंद होता है कि नया युग आया, पुराने युग के औजार अब फेंक देंगे। जैसे पक्षी होता है, अंडे के बाहर आया तो अब आसमान में ऊंची उडान मारेगा, उसी तरह पुराने औजारों के अंडे में हम बंदी थे, अब बाहर जायेंगे, ऊंची उडान मारेंगे, ऐसा आधुनिक विचारक महसूस करते हैं। और हम हमारे पिताजी के मुख से रोजमर्रा यह सुना करते थे – 'भारत का आधुनिकीकरण होना चाहिए।'

फिर भी जब गांधीजी ने ग्रामोद्योग संघ शुरू किया तब वह कल्पना हमारे पिताजी को बहुत पसंद आयी। गांधीजी के निमंत्रण से वे मगनवाडी (वर्धा) आये थे। उन्होंने उस उद्योग का निरीक्षण किया था और सलाह दी थी कि कागज की लुगदी बनाने के लिए मशीन का उपयोग किया जाये। बाकी क्रिया हाथ से ठीक है। वह 1934-35 का समय था। उस समय हर क्रिया हाथों से करने पर जोर था, इसलिए उनकी सलाह पर उस समय अमल नहीं हुआ। लेकिन बाद में वह चीज मान्य हुई। अब हाथ-कागज के कारखाने में लुगदी मशीन से ही बनती है।

उस समय पिताजी ने मुझे एक पत्र लिखा था। दुर्भाग्य से वह पत्र अब कहीं मिलता नहीं। मुझे संभालकर रखना चाहिए था, लेकिन मैंने मुझे आये हुए कोई भी पत्र संभालकर नहीं रखे। उसी में शायद वह भी गया। दस-बारह पन्नों का पत्र था। बडे-बडे अक्षरों में लिखा हुआ था। कागज के रंग में कुछ नीलापन था। पत्र में लिखा था – ''इस पत्र की सब क्रियाएं मेरे हाथ से हुई हैं। कागज मैंने बनाया। जो स्याही इस्तेमाल की है, वह मैंने बनायी। जिस कलम से पत्र लिखा है, वह कलम मैंने बनायी। और पत्र मैंने खुद लिखा है।'' इस तरह वह पत्र परिपूर्ण स्वावलंबन का द्योतक था। आगे लिखा था – ''कागज में कुछ नीलापन रह गया है। वह निकाल सकते थे, लेकिन निकालने के लिए जो द्रव्य लगता है, वह बाहर से मंगवाना पडेगा। इसलिए सोचा कि वह वैसा ही

रहने दें, नीलापन खराब तो नहीं।''

पिताजी अत्यंत स्वावलंबी वृत्ति के थे। अपना कोई भी काम वे मां या बच्चों को नहीं करने देते। मां की मृत्यु के बाद भी कभी किसी से सेवा उन्होंने ली नहीं। एकबार उनसे कहा कि बर्तन मांजना, झाडू लगाना ऐसे कामों के लिए नौकर रख लीजिए, तो उन्होंने कहा – ''कितना भी अच्छा नौकर हो, उससे कभी कुछ ग़लती हो ही जायेगी, तो फिर हम कुछ कटु बोल देंगे। उससे बेहतर यही है कि अपना काम हम खुद करें। इसमें थोडा श्रम तो होता है, लेकिन किसी को दुःख देने का प्रसंग नहीं आता।''

एक बार जमनालालजी (बजाज) साबरमती से लौटते समय बाबा (पिताजी) से मिलने के लिए बडौदा गये। बाबा को पहले सूचित कर रखा था। बाबा ने क्या किया? जमनालालजी की व्यवस्था अच्छी तरह कर सकें इस हेतु एक मारवाडी सज्जन के यहां गये, मारवाडी भोजन में क्या-क्या होता है, कैसे परोसा जाता है इत्यादि पूरी जानकारी ले ली। फिर बाजार जाकर दाल, चावल, गेहू लाये। क्योंकि बाबा खुद अन्न लेते नहीं थे। ये चीजें साफ कर, पिसवाकर खाना बनाया – फुलके, पापड, घी सब रखा। जमनालालजी को लेने स्टेशन गये, टांगे में उन्हें घर ले आये। जमनालालजी ने भोजन किया, थोडा आराम किया और शाम की गाडी से वर्धा के लिए निकले। उन्होंने मुझे सारा बताया और कहा, ''ऐसा प्रेमल मनुष्य मैंने देखा नहीं। उन्होंने जो किया उससे अधिक जानकीबाई (जमनालालजी की पत्नी) भी नहीं करतीं। मैंने पूछा, खाना किसने बनाया? तो बोले, सबकुछ मैंने ही किया है। यह सुनकर तो मैं गद्गद हो गया।'' और यह कहते हुए भी उनकी आंखों में पानी आ गया था।

उनकी समयनिष्ठा और संयम अत्यंत दृढ थे। बडौदा में उनके एक मित्र थे, जिनके घर रोज शाम को वे शतरंज खेलने जाया करते थे। रोज आधा घंटा खेलना, उससे ज्यादा नहीं, यह उनका तय था। सामने घडी रखकर खेलने बैठते और समय होते ही उठ जाते। कभी-कभी तब तक खेल पूरा नहीं होता। पिताजी उठ खडे हो जाते, तो मित्र कहते, अभी तो न कोई जीता, न कोई हारा, पांच मिनट में खेल पूरा हो जायेगा, खेल पूरा करके ही जाइए। परंतु पिताजी मानते नहीं थे, वे कहते, ''खेल तो कल भी पूरा हो सकता है। इसको ऐसा ही छोड दो, कल यहीं से शुरू

करेंगे।'' उनको कोई मना नहीं सकता था। उनके नियम में कभी फरक नहीं पडा।

संगीत में उनको बहुत रुचि थी। आखिर के तीस सालों में उन्होंने भारतीय संगीत का अध्ययन किया। एक मुसलमान गवैये के पास संगीत की शिक्षा प्राप्त की। चौदह-चौदह घंटे रियाज करते थे। हमारा पुराना शास्त्रीय संगीत लुप्त न हो जाये, इसलिए अतिशय परिश्रम कर संगीत की दो किताबें – नादरखां का मृदंगबाज और शेख राहतअली का ठुमरी-संग्रह, अपने खर्चे से प्रकाशित कीं। और भी आठ-दस पुस्तकें प्रकाशित करनेलायक उनके पास थीं।

मैंने बचपन में पिताजी की बहुत मार खायी है। लगभग रोज पीटते थे। उनकी दृष्टि बिलकुल सूक्ष्म थी। गडबड मामला नहीं था। और बात ऐसी थी कि अगर हम दुनिया को कहते कि पिताजी मारते हैं तो कोई नहीं मानता। घर के बाहर वे बिलकुल गुस्सा नहीं करते थे। बिलकुल शांत रहते थे। अत्यंत निर्विकार मनुष्य! लेकिन मन में था कि लडका अच्छा होना चाहिए। अहिंसा में पक्का होना चाहिए। हम नहीं पीटेंगे तो आदत नहीं रहेगी, और, दूसरा कोई पीटेगा तो डर जायेगा, इसलिए पीटते थे, ऐसा सोचना होगा। वे पीटते थे, वह भी वैज्ञानिक ढंग से। हड्डियों पर न लगे इस ढंग से मारते थे। घूमकर रात को देरी से घर आना, मेरा रोज का ही कार्यक्रम था। भोजन करके सोने से पहले पिताजी के पास हाजिरी लगती थी। दिनभर के कार्यक्रम में मेरी कोई न कोई शरारत या गैरव्यवस्था उनकी नजर में आ ही जाती थी। कभी उनकी किताब जगह पर नहीं रखी, कभी कपडे ठीक ढंग से नहीं रखे, कभी किसी बात पर अपना आग्रह रखा, ऐसा कुछ न कुछ कारण मिल ही जाता और उनकी मार पडती। कभी-कभी मैं मां से पूछता कि मां तुम मुझे क्यों नहीं मारती हो? तो वह कहती, क्या उधर से तुझे कम मार पडती है कि मैं उसमें और जोडूं?

परंतु एक दिन कुछ और ही हुआ। रोज के जैसा घूमकर आया, भोजन हो गया, लेकिन पिताजी की ओर से बुलावा नहीं आया। मैं तो इंतजार में था कि कब पिताजी बुलाते हैं, पर उन्होंने बुलाया नहीं, सो गये। मैंने सोचा, आज तो मार से छूट गये। लेकिन दूसरे दिन, तीसरे दिन, चौथे दिन ऐसा ही हुआ। उसके बाद उन्होंने कभी मारा ही नहीं।

आगे जब मैंने मनुस्मृति पढी तब इसका रहस्य मेरे ध्यान में आया। मनु ने कहा है – '**प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्।**' उस दिन मैंने सोलहवें में प्रवेश किया था, तो मनु की आज्ञा के अनुसार उस दिन से उन्होंने मुझे पीटना बंद कर दिया। इसका मतलब, वे शिक्षा का एक अनिवार्य भाग समझकर ही मारते थे और जिस दिन मारना बंद करना था, उस दिन से बंद कर दिया। मार मिलना बंद हो गया तो मैं सजग हो गया और गलतियां कम होने लगीं, यानी जिम्मेदारी महसूस हुई। उनका मैं अत्यंत प्रेम और उपकार महसूस करता हूं। '**भय बिना होई न प्रीति**' – क्योंकि जलधि जड था। वैसे ही बच्चा जड है।

पिताजी गागोदे से जब बडौदा आये तब शुरू में हम लोग मां के साथ गागोदे में ही रहते थे। पिताजी बीच-बीच में गागोदे आते थे तब हमारे लिए कुछ चीज ले आते थे। एकबार दीपावली की छुट्टियों में वे घर आनेवाले थे। मां ने मुझसे कह रखा था कि पिताजी आयेंगे तब तुम्हारे लिए कुछ मिठाई लायेंगे। हम राह देख रहे थे। पिताजी आ गये तो मैं मिठाई लेने दौडा। उन्होंने मेरे हाथ में एक पैकेट रखा। मैं सोच रहा था कि मिठाई यानी गोल-गोल लड्डू-पेढे का पुडा होगा, लेकिन यह तो चौकोनी पैकेट था, तो मुझे लगा कि अंदर बर्फी होगी। मैंने ऊपर का कागज खोला तो अंदर दो किताबें निकलीं – बालरामायण और बालमहाभारत। मैं किताबें लेकर मां के पास गया। मां ने किताबें देखीं और उसकी आंखों में आंसू आ गये। बोली, "पिताजी तुम्हारे लिए जो मिठाई लाये हैं, उससे अच्छी मिठाई हो नहीं सकती।" मां का वह वाक्य मैं कभी भूला नहीं और सचमुच, उस मिठाई का मुझे ऐसा चस्का लग गया कि वह आज तक छूटा नहीं।

अपने परिवार में दूसरे को रखने और उसे अपनी बराबरी में रखने से कितना आनंद होता है, इसका अनुभव मुझे बचपन से है। हमारे पिताजी हमेशा यह ख्याल रखते थे कि घर में अपने बच्चों के अलावा और भी कोई एक गरीब लडके को रखना चाहिए। इसलिए ऐसा कोई न कोई लडका हमेशा हमारे साथ रहता था। हमारे साथ खाता-पीता और सोता था। उसकी तालिम का इंतजाम भी हमारे साथ होता था। हमारा परिवार छोटा-सा था, फिर भी उसको सार्वजनिक स्वरूप आ गया था।

इसलिए मुझे आदत हो गयी थी कि जो व्यवहार अपने भाई के साथ करते है, वैसा ही दूसरे के साथ करना है।

संस्कार देने की उनकी विशेष पद्धति थी। कोई भी बात हो, उसे बुद्धि के द्वारा समझाने की कोशिश करते। मां-पिता दोनों को भोजन के समय थाली में जूठन छोड दें तो पसंद नहीं आता था। उनका कहना रहता कि भले ही थोडा कम खाओ, उसमें नुकसान नहीं है। मां कहा करती थी कि "हरएक के नाम पर कितना अन्न है वह लिखा रहता है; कम खाओगे तो ज्यादा दिन चलेगा, ज्यादा दिन जीओगे।" कितना विलक्षण तत्त्वज्ञान है! पिताजी बुद्धि के आधार से समझाते। वे कहते, "खाने का स्वाद कहां आता है? स्वाद का स्थान जिह्वा है, तो वहां ज्यादा देर रखो, एकदम पेट में मत ढकेल दो। यानी चबा-चबाकर खाओ।" चबा-चबाकर खायेंगे तो कम खाया जायेगा। विज्ञान की प्रक्रिया पिताजी ने और उपनिषद का रहस्य मां ने बता दिया। दोनों बातें याद रखने में बडा सार है।

अंतिम दिनों में वे बीमार हुए, लेकिन उन्होंने अपने बेटों को उसकी खबर नहीं दी। मेरे मित्र बाबाजी मोघे बडौदा गये थे, वे पिताजी से मिलने गये तब पता चला। वर्धा आने के बाद उन्होंने मुझे उसकी खबर दी। उन दिनों शिवाजी* धुलिया में था। मैंने उसको पिताजी के पास जाने को कहा। वह बडौदा गया और पिताजी को आग्रहपूर्वक धुलिया ले गया। वहां शरदपूर्णिमा के दिन उनकी मृत्यु हुई (29.10.1947)।

फिर अस्थि-विसर्जन की बात चली। गोदावरी नजदीक (नासिक में) थी, वहां विसर्जन करने की बात चली। उनके अंतिम दिनों में मैं वहां पहुंच गया था। मैंने कहा, पिताजी की अस्थियों पर गोदावरी का क्या हक है? गोदावरी पानी है और हड्डियां मिट्टी हैं। पानी का मिट्टी पर क्या अधिकार? मिट्टी पर तो मिट्टी का ही अधिकार हो सकता है। तेज तेज में, वायु वायु में, पानी पानी में और मिट्टी मिट्टी में मिल जानी चाहिए। इसलिए जब उनके शरीर का दहन हो गया और उसकी राख हो गयी तब हमने, वहीं घर के अहाते में एक गढा खोदकर उसमें राख डाल दी और गढे को बंद कर दिया। ऊपर पारिजात का पौधा लगा दिया।

---

* विनोबाजी के छोटे भाई शिवाजी भावे – सं.

लोगों को लगा कि यह हमने बडा विचित्र काम किया। अस्थियां कहीं गंगा में प्रवाहित करनी चाहिए थीं। परंतु मैंने तो वेद में से यह अर्थ निकाला। वेद में प्रार्थना है कि हे माता, मेरी लाश के लिए तू मुझे जगह दे। पश्चिम के टीकाकारों ने सवाल खडा किया कि पहले दफनक्रिया होती थी या दहनक्रिया? इस तरह केवल ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। सिर्फ अंदाज की बात। परंतु, वेद के एक ही सूक्त से दो अर्थ निकलते हैं। पहले लाश का दहन किया जाये और फिर जो राख होगी उसकी दफन-क्रिया की जाये। तो इस प्रकार वेद का आधार लेकर हमने पिताजी की अस्थियां नदी में नहीं, भूमि में विसर्जित कीं। और पिताजी की समाधि पर एक पत्थर पर समर्थ रामदासस्वामी का वचन लिख दिया – **'अवघे चि सुखी असावें, ही वासना'** (सब सुखी हों, यह कामना)।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

विद्यार्थीदशा

हमारे पिताजी ने सोचा था कि लडके को स्कूल नहीं भेजेंगे, डाईंग (रंगाई) सिखायेंगे। इसलिए पांचवीं-छठी कक्षा तक उन्होंने मुझे घर में ही पढाया। फिर बडौदा के कलाभवन में भेजा। वहां उनकी बडी प्रतिष्ठा थी। सब मुझे 'भावे का लडका' करके पहचानते थे। पर वहां मुझे प्रवेश न मिल सका। मुझे पूछा गया कि अंग्रेजी कितनी सीखे हो? मैंने कहा, दो-तीन कक्षाओं तक। वहां तो इंटरमिजिएट तक के लोग आये थे, तो मेरा नंबर लगा नहीं। पिताजी ने सोचा, ठीक है, और पढायेंगे। पढाते रहे। लेकिन देखा, लडका जितना पढता है, उससे ज्यादा घूमता है। तो फिर गणित के सवाल ज्यादा देने लगे, ताकि बैठकर पढाई में समय लगाये।

मैं क्या करता था? गणित की किताब में आखिर में बारीक टाईप में कठिन सवाल दिये होते हैं, वे हल कर लेता था, बाकी करता ही नहीं था। पिताजी देख लेते थे कि पढता-वढता नहीं है पर जानता है, तो कुछ बोलते नहीं थे। पिताजी के पास मैं गणित सीखा, उसके बाद मैट्रिक तक मुझे गणित सीखना नहीं पडा। मैं एक घंटे में गणित और अंग्रेजी का मेरा अध्ययन पूरा कर लेता था और घूमने निकल जाता था। चार-चार, पांच-पांच घंटे घूमता रहता था। आखिर लाचार होकर पिताजी ने मुझे स्कूल में भेजा।

वहां भी मेरा धंधा यही रहा। मैं खुद घूमने जाता था और मित्रों को भी घर से खींचकर ले जाता था। उनको भी पढने नहीं देता था। मेरे मित्र बाबाजी मोघे मेरे डर से किसी मंदिर में छिपकर पढने बैठ जाते। मैं उन्हें खोज निकालता और खींचकर ले जाता। उन दिनों मैं एक वाक्य कहा करता था मराठी में – "विश्वविद्यालय के भ्रम का कद्दू हर साल फूटता है और उसमें से सैकडों बीज (बी. ए. ज) बाहर आते हैं।"

बचपन में मुझे दो आदतें थीं – घूमना और पढना। जब भी समय मिलता, घूमने चला जाता। मेरा मित्र रघुनाथ (धोत्रे) हमेशा कहता था कि तेरे पैर पर चक्र है। मां कहती, विन्या, तू पिछले जन्म में निश्चित ही बाघ रहा होगा। एक तो तुझे दिनभर घूमने को चाहिए और दूसरे, तेरी

नाक बहुत तीव्र है, जरा-सी भी गंध तुझे सहन नहीं होती। बडौदा के सब रास्ते मेरे परिचय के हो गये थे। घूमने के लिए मुझे कोई भी समय प्रतिकूल नहीं मालूम होता। दौडना भी पसंद था। खूब दौडता था। कितना दौडा, इसका अंदाज भी नहीं रहता था।

एक दिन रात को साढे बारह बजे मैं दौडने लगा। बडौदा के राजमहल की पासवाली सडक पर दौड रहा था। तो संतरी उसके नियम के अनुसार जोर से चिल्लाया – 'हुकुम ऽऽ डर ऽऽऽ' ('हू कम्स देअर' का हिंदी अपभ्रंश)। मैंने ध्यान नहीं दिया और दौडता ही रहा। थोडी देर के बाद वापस उसी रास्ते से लौटा। इस समय संतरी ने मुझे रोक लिया। और पूछा, काहे दौड रहे हो? मैंने कहा, व्यायाम के लिए दौड रहा हूं। उसने कहा, रात के एक बजे कोई व्यायाम के लिए दौडता है? जरूर तेरा चोरी करने का इरादा होगा। मैंने जवाब में पूछा – चोरी करनेवाला जिस रास्ते से आता है, क्या उसी रास्ते से वापस लौटता है? तो वह चुप हो गया और उसने मुझे छोड दिया।

एकबार दिवाली के दिनों में मैं यह देखने निकला कि किस घर में दीया नहीं जला है। तीन दिन तक घंटों गली-गली घूमकर देख लिया। पूरे बडौदे में एक भी घर ऐसा नहीं मिला, जहां दीया न जला हो। मुसलमानों के घर में भी दीये जलाये गये थे।

फिर अलग-अलग मंदिरों में जाता। कमाठी बाग के पास ही एक मंदिर था। उसका नाम मैंने 'परीक्षेश्वर' रखा था। क्योंकि उसके नजदीक ही हमारा कालेज था और परीक्षा के दिनों में उस मंदिर में विद्यार्थियों की भीड लग जाती थी दर्शन के लिए और आशीर्वाद मांगने कि हमें परीक्षा में पास कर दो।

स्कूल-कालेज में मेरा ध्यान इधर ही रहता कि कब क्लास खतम होती है और मैं बाहर निकलता हूं। एकबार क्लास में एक शिक्षक हमसे कुछ लिखवा रहे थे। मैं लिख नहीं रहा था, केवल सुन रहा था। शिक्षक ने देख लिया। लिखवाना पूरा होने के बाद उन्होंने मुझे खडे होकर अपनी नोट्स पढने के लिए कहा। मैं तुरंत खडा हो गया और नोटबुक हाथ में लेकर पढना शुरू कर दिया, जो सुना था वह सबका सब बोल दिया। शिक्षक आश्चर्य में पड गये, बोले, जरा तुम्हारी नोटबुक देखने

दो। मैंने कोरी नोटबुक उन्हें देते हुए कहा कि मेरा लिखा हुआ आप पढ नहीं सकेंगे।

गणित तो मेरा खास विषय ही था। गणित के हमारे शिक्षक थे भी अच्छे। और उनका मेरे प्रति प्रेम था। एकबार वे एक कठिन सवाल विद्यार्थियों को समझा रहे थे। उन्होंने बोर्ड पर पूरा सवाल हल कर लिया, लेकिन उसका जो अंतिम परिणाम निकला, वह गणित की पुस्तक में दिये हुए परिणाम से मिलता नहीं था। उन्होंने बार-बार जांच की कि कहां गलती रह गयी है, पर कहीं भी गलती मिली नहीं। आखिर उन्होंने मुझे बुलाया और कहा कि तुम जरा इसको जांच कर देखो। मैंने कहा, मैंने पहले ही जांच लिया है, पुस्तक में दिया हुआ परिणाम गलत है, आपका सही है। तब वे निश्चित हो गये।

उन शिक्षक का विद्यार्थियों पर प्रेम था और बहुत आस्थापूर्वक अपना विषय सिखाते थे। एकबार मैंने उनको गणित का एक सवाल पूछा। बहुत कठिन सवाल था। उन्होंने उस पर सोचा और कहा कि इसका जवाब मैं कल सोचकर दूंगा। मैं वर्षों से गणित सिखाता आया हूं इसलिए आधी नींद में भी सिखा सकूंगा, इतनी आदत हो गयी है। परंतु तुम्हारा सवाल अलग प्रकार का है, इसका जवाब मैं कल दूंगा। उनके इस जवाब से उनकी बहुत गहरी छाप मुझ पर पडी।

वैसे ही हमारे फ्रेंच के शिक्षक। बहुत सौम्य और शांत स्वभाव के। कभी भी ऊंची आवाज में नहीं बोलते थे। आवेश के साथ भी नहीं बोलते थे। एकबार हमारा इम्तिहान चल रहा. था। मैं पेपर लिखने में मग्न था। उन्होंने रोलकॉल लेना शुरू किया। मेरा नाम आते ही मैं जोर से चिल्लाकर बोला – प्रेझेंट सर। रोलकॉल पूरा कर वे मेरे पास आये, बोले, ''देखो, यह बात सही है कि तुम पेपर लिखने में एकाग्र हो गये थे; फिर भी इतना जोर से चिल्लाना ठीक नहीं। आवाज सौम्य होनी चाहिए। और यह मैं तुमको क्यों कह रहा हूं? बिकॉज आइ लव्ह यू।'' यह सुनते ही मेरी आंखों में आंसू आ गये।

फ्रेंच के शिक्षक सौम्य स्वभाव के थे, तो इतिहास के जोरदार थे। वे हमको 'हिस्टरी ऑफ लिबरेशन' पढाते थे। उनसे 'वॉर ऑफ इंडिपेंडन्स' का वर्णन सुनते हुए हमे लगता कि पढाई छोडकर ब्रिटिशों के साथ लडने के लिए चले जायें।

हमारे स्कूल के दूसरे एक शिक्षक बच्चों को बहुत पीटते थे। उन्होंने शायद मान ही रखा था कि छडी के आधार से ही विद्या आयेगी। उनके पास लंबी छडी रहती थी और वे उसे ताले में बंद कर रखते थे। बच्चों को उनका यह पीटना पसंद नहीं था, लेकिन करें क्या? आखिर एक दिन मैंने किसी तरह वह ताला खोला और उस छडी को दूर फेंक दिया। शिक्षक आये और देखा, जगह पर छडी नहीं थी। वे समझ तो गये कि यह किसी लडके की शरारत है, लेकिन बोले कुछ नहीं। दूसरे दिन दूसरी छडी ले आये। मैंने उसे भी फेंक दिया। तीसरे दिन तीसरी छडी लाये। वह भी फेंक दी। तब तो वे बहुत ही नाराज हो गये और बच्चों से पूछने लगे कि किसकी यह शरारत है। बच्चे चुप थे, क्योंकि वे मेरे पक्ष के थे। शिक्षक को ख्याल आ गया कि किसकी यह शरारत होगी, और आखिरकार उन्होंने ढूंढ निकाला।

अब इस शरारत के लिए सजा देनी थी। उन्होंने विन्या को पांच-सौ उठ-बैठकें लगाने की सजा दी और दूसरे एक लडके को गिनने के लिए खडा कर दिया। वह तो मेरा मित्र ही था। वह गिनने लगा – एक, दो, तीन, चार, सात, दस.... फिर थककर बैठ गया। लेकिन मैं बैठकें लगा ही रहा था। आराम करके वह फिर गिनने लग जाता। आखिर उसने जाहिर कर दिया कि पांच-सौ बैठकें हो गयीं। पर इधर मैं भी अपने मन में गिन रहा था, 123 बैठकें ही हुई थीं, तो मैंने अपना काम चालू ही रखा। शिक्षक ने कहा, बैठ जाओ। मैंने कहा, अभी पूरी पांच-सौ नहीं हुई, एक-सौ तेईस ही हुई हैं। शिक्षक के ध्यान में आ गया कि यह लडका झूठा नहीं है। वे बोले, 'तू समझता नहीं, तेरी 18 बैठकें ज्यादा *ही हुई हैं।' मैं बैठ गया, लेकिन बात मेरी समझ में नहीं आयी। मैं* सोचता ही रहा उस पर, तब ध्यान में आया कि 500 यानी 5+100, 5×100 नहीं। उस हिसाब से मेरी 18 बैठकें ज्यादा हुई थीं। यह उन शिक्षक की दयाबुद्धि थी। तब से यह आंकडा मैं कभी भूलता नहीं।

एक दफा अंग्रेजी के शिक्षक ने एक निबंध लिखने के लिए कहा – 'ए डिस्क्रिप्शन आफ मैरेज सेरीमनी'। मैं तो कभी किसी 'मैरेज सेरीमनी' में जाता नहीं था, तो क्या लिखूंगा उसका वर्णन? लेकिन शिक्षक ने तो लिखकर लाने को कहा था। तो मैंने लिख डाला कि किस प्रकार एक जवान ने शादी की, उससे वह कैसे दुःखी हुआ और दूसरों

को भी कैसे दुःखी किया। ऐसा एक काल्पनिक चित्र पेश कर दिया। शिक्षक ने देखा तो उस पर एक टिप्पणी लिख दी कि यद्यपि पूछे गये प्रश्न का यह जवाब नहीं है, फिर भी बुद्धि चलायी है और दस में से सात मार्क्स दे दिये।

बडौदा की सेंट्रल लाइब्रेरी उस वक्त भारत की बडी लाइब्रेरियों में से एक मानी जाती थी। छुट्टी के दिनों में रोज दोपहर को खा-पीकर मैं लाइब्रेरी में जा बैठता। दो-तीन घंटे सहज ही निकल जाते। ग्रंथपाल ने मुझे खुद किताबें देखने की इजाजत दे दी थी। गरमी के दिन थे, इसलिए मैं कमीज निकालकर खुले बदन बैठता था। एक दिन वहां काम करनेवाले भाई मेरे पास आये और बोले, आपका ड्रेस डिसेंट नहीं है। कपडे कैसे पहनने चाहिए, यह समझना चाहिए। मैंने कहा, भगवान ने मुझे जो समझ-शक्ति दी है, उसके मुताबिक मैं कपडे पहनता हूं। यों कहकर मैं पढने में मग्न हो गया।

ग्रंथालय के प्रबंधक एक गोरेसाहब थे। लाइब्रेरी की तीसरी मंजिल पर बैठते थे। उनके पास शिकायत पहुंची कि नीचे एक विद्यार्थी खुले बदन पढने बैठता है और कहने पर भी किसी की सुनता नहीं है। मुझे तुरंत ही ऊपर बुलाया गया। गोरेसाहब शर्टपटलून पहने थे। सिर पर पंखा घूम रहा था। उनका मिजाज उन दिनों अंग्रेजों का साधारणतः जैसा रहता था वैसा था। मुझे उनके सामने खडा कर दिया। वे मुझसे बडे थे, इसलिए उनके सामने खडे रहने में मेरी कोई इज्जत जाती नहीं थी। उन्होंने मेरे खुले बदन की ओर निर्देश करके पूछा, क्यों, सभ्यता जानते हो या नहीं? मैंने कहा, मैं तो अपने देश की सभ्यता जानता हूं। उन्होंने पूछा, क्या है तुम्हारे देश की सभ्यता? मैंने कहा, जो मनुष्य खुद कुर्सी पर बैठे और दूसरे को खडा रखे, उसे हमारे देश में असभ्य मानते हैं। मेरे जैसे लडके की यह हिम्मत देखकर वे खुश हो गये और मुझे बैठने के लिए एक कुर्सी दे दी। फिर मैंने उनसे कहा कि हमारे देश में और एक सभ्यता है कि जब बहुत गरमी होती है तब बदन खुला रखना चाहिए। उन्होंने मेरी बात मान ली। फिर मैं क्या-क्या पढता हूं, सब जानकारी पूछ ली और मुझे किताबों के बारे में जो भी सहूलियतें चाहिए थीं, सब देने के लिए लाइब्रेरियन को सूचना दे दी।

एकबार मित्रों के साथ शिवाजी-जयंती मनायी थी। मित्रों ने पूछा

कहां मनायेंगे? मैंने कहा, स्वातंत्र्यप्रेमी शिवाजी की जयंती किसी कमरे में नहीं मनायी जा सकती, हम पहाड पर जायेंगे या जंगल में चले जायेंगे और आकाश के नीचे समारोह मनायेंगे। लेकिन दूसरी एक अडचन थी। उस दिन स्कूल को छुट्टी नहीं थी। मैंने सुझाया कि इतिहास में शिवाजी के बारे में पढाया जाता ही है, तो हम इतिहास की क्लास छोड देंगे, उस समय जंगल में चले जायेंगे। सब जंगल में गये और खूब श्रद्धापूर्वक जयंती मनायी। वापस लौटते समय चर्चा चली कि कल स्कूल में शिक्षक इसकी सजा देंगे, तो क्या करना है? मैंने कहा कि कल हम सब चार-चार आने (25 पैसे) अपने साथ लायेंगे और सजा का जुर्माना भर देंगे। दूसरे दिन इतिहास की क्लास में शिक्षक ने पूछा कि तुम लोग कल कहां गये थे? हमने कहा, शिवाजी-जयंती मनाने जंगल गये थे। शिक्षक ने पूछा, क्या शिवाजी-जयंती स्कूल में नहीं मनायी जा सकती थी? मैंने तुरंत कह दिया – "स्वातंत्र्यप्रेमी शिवाजी की जयंती गुलामखाने में नहीं मनायी जा सकती।" शिक्षक नाराज हो गये, बोले, तुम सब पर जुर्माना होगा। हम सबने तुरंत जेब से चार-चार आने निकालकर उनके सामने रख दिये।

इस प्रकार विशेष दिनों पर, विशेष विषयों पर चर्चा-वादविवाद चलता ही रहता था। एक साथ घूमने जाना और जोर-जोर से चर्चा करते हुए घूमना, यह भी चलता था। हम दस-पंद्रह मित्र थे। हम सबकी लोकसेवा करने की इच्छा थी, तो हमने इसको कुछ स्वरूप देने का सोचा और हमारा एक 'विद्यार्थी-मंडल' बना (1914 में)। शिवाजीजयंती, दासनवमी* ऐसे उत्सव बाकायदा मनाना शुरू किया। अलग-अलग विषयों पर अध्ययन करते, अध्ययन-चर्चा चलाते, भाषण देते आदि। संत-साहित्य, देशप्रेम, बडे व्यक्तियों के चरित्र, चारित्र्य-विकास, ऐसे विषय रहते। पहले तो किसी के घर इकट्ठा होकर ये कार्यक्रम करते थे, बाद में एक कमरा ही ले लिया था, जिसका किराया चार-पांच आने था। शुरुआत में तो मैं हर माह मां से उतना पैसा लेकर किराया भर देता था। बाद में हर कोई चंदा देता था। फिर हमने वहां अच्छी लाइब्रेरी भी बनायी थी। चरित्र, प्रवासवर्णन, इतिहास, विज्ञान आदि की लगभग 1600 पुस्तकें इकट्ठा हुई थीं। वहां मेरा मैजिनी पर

* महाराष्ट्र के संत समर्थ रामदास स्वामी की पुण्यतिथि – स.

एक भाषण हुआ था, जो हमारे मित्रों के खूब ध्यान में रह गया। अधिकतर भाषण मेरे ही होते थे और मैं पूरी गंभीरता और ईमानदारी से भाषण देता था। मेरा सार्वजनिक जीवन इसी विद्यार्थी-मंडल से शुरू हुआ और, मैं मानता हूं, बाद में (1935 में) ग्राम-सेवा-मंडल की स्थापना की, उसका सूत्र इस विद्यार्थी-मंडल से ही जुडा हुआ है। विद्यार्थी-मंडल में जिन विषयों का अध्ययन किया, भाषण दिये, उन सबका लाभ तो मुझे मिला ही, परंतु मुख्य लाभ यह हुआ कि उनमें से कई साथी मेरे जीवनसाथी बन गये, जिन्होंने मुझे आखिर तक छोडा ही नहीं। आगे, 1917 में इसके वार्षिक-उत्सव पर मैं बडौदा आया था और तब मैंने यह विचार रखा कि हिंदी भाषा का प्रचार करना चाहिए। मैंने गांधीजी को लिखा था कि मेरा विश्वास है कि आपने हिंदी-प्रचार का जो काम शुरू किया है, उसमें बडौदा की यह संस्था काम करने के लिए तैयार रहेगी।

हाइस्कूल से कालेज में गया, लेकिन वहां पढाई के प्रति नफरत ही लगने लगी। था क्या उस शिक्षा में? कालेज में एक बार मैंने क्लास को पढाया था। बोर्ड पर सूचना थी, "दि प्रिन्सिपॉल इज इनडिस्पोज्ड, सो देअर विल बी नो क्लास टुडे"। तब विद्यार्थियों में से एक उठा और बोला, "प्रिन्सिपॉल इज इनडिस्पोज्ड। लेट मिस्टर भावे टेक दि चेअर"। मैं उठा और एक अंग्रेजी कविता पढाने लगा। वह एक बिलकुल ही मामूली कविता थी। 'व्हाईट फूट लाईट फूट' ऐसे कुछ शब्द याद हैं। क्या था उस कविता में? प्रोफेसर के दिमाग को इतनी-सी भी तकलीफ नहीं। क्लास खतम होने के बाद मैंने कहा, अब मुझे प्रिन्सिपॉल की तनखा देंगे या नहीं? 1200 रुपये तनखा थी। हफ्ते में केवल एक-दो क्लास लेने होते थे। यह तो बिलकुल लूटना था। इसलिए कालेज में मन रमा नहीं। आखिर छोड ही दिया।

बडौदा में हमारे घर के नजदीक एक वृद्ध भाई रहता था, जो दिनभर तकुए पर जनेऊ का सूत कातता रहता। जनेऊ बनाता और उसे बेचकर पेट पालता। हमें लगता, कैसा बेवकूफ आदमी है! सूत कातकर जनेऊ बेचना, इसमें देश का क्या भला होनेवाला है? वह बूढा हम मित्रों के लिए विनोद का विषय बन गया था। उसे देखकर हम कहते – "देखो, यह है पुराने जमाने का खंडहर!" परंतु, हममें से करीब सभी

लोग आगे बापू के पास पहुंचे और चरखे पर सूत कातने लगे!

* *

गृहत्याग

दस साल की उम्र में मैंने ब्रह्मचर्य का संकल्प किया। घर छोडने का विचार तो बचपन से ही मेरे दिमाग में था। इसकी प्रेरणा तीन महापुरुष दे रहे थे। एक थे गौतम बुद्ध। दूसरे घर छोडनेवाले थे महाराष्ट्र के संत रामदास। वह दूसरा आकर्षण था। और तीसरे थे जगद्गुरु शंकराचार्य। बुद्ध अपनी पत्नी और पुत्र को त्याग कर घर से बाहर निकल पडे। रामदास विवाहवेदी से सब छोडकर चले गये। और शंकराचार्य तो आठ साल की उम्र में ही ब्रह्मचर्य के संकल्प के साथ घर से निकल पडे। ये तीन व्यक्ति मेरे सामने रहते थे। इसलिए कभी न कभी घर छोडूंगा, ऐसी मुझे अंदर से प्रेरणा थी। और जैसे विवाह तय हो जाने के बाद लडकी का चित्त पहले ही मायके को छोडकर ससुराल पहुंच जाता है, वैसे मेरा चित्त घर से निकल चुका था। बाहर दुनिया में जाने के बाद अपना घडा कच्चा साबित न हो, इसका पूरा ख्याल मुझे था और उस दृष्टि से अलग-अलग तरह से मैं अपनी खूब तैयारी कर रहा था। अध्ययन और चिंतन, ये दो बातें तो चलती ही रहती थीं, अलावा शरीर को भी पक्का बनाने की कोशिश साधना की दृष्टि से अपनी बुद्धि के अनुसार करता रहता।

उन्हीं दिनों में मेरे हाथ में एक किताब आयी, जिसमें ब्रह्मचारी के धर्म बताये थे। उसमें मनु के कुछ उद्धरण भी दिये थे। ब्रह्मचारी के लिए कुछ चीजें निषिद्ध बतायी थीं। **'वर्जयेत् उपानच्छात्रधारणम्'।** ब्रह्मचारी को जूता नहीं पहनना चाहिए और छाता इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। तीसरी चीज बतायी थी, गद्दा नहीं इस्तेमाल करना चाहिए। मैंने गद्दे पर सोना छोड दिया। जूता पहनना और छाता इस्तेमाल करना भी छोड दिया। गद्दी और छाता छोडने से तो मेरा कोई नुकसान नहीं हुआ, लेकिन बडौदा की कडी धूप में जूता न पहनने से आंखें बिगडती गयीं। भरी दुपहरी में तारकोल के रास्तों पर घंटों घूमता रहता। मनु के जमाने में संभव है, विद्यार्थी आश्रम में ही रहते होंगे और जूते की जरूरत नहीं होती होगी। बचपन में इस बात की मन में बहुत तीव्रता थी कि शरीर को कसना है।

खाने-पीने के भी मेरे नियम थे, जिनका मैं बराबर पालन करता था। विवाह आदि प्रसंगों पर कहीं खाने के लिए नहीं जाता था। हमारी एक बहन थी, बचपन में ही उसकी शादी करा दी गयी। उसकी शादी में मैं भोजन के लिए नहीं गया था। मैंने मां से कह दिया कि मैं शादी का भोजन नहीं करूंगा। मां कुछ बोली नहीं, मेरे लिए अलग पकाकर मुझे खिला दिया। फिर मुझसे कहा, "विन्या, शादी के भोजन में जो मिष्टान्न आदि होता है, वह तुम मत खाओ, लेकिन वहां का दाल-चावल खाने में क्या उज्र होना चाहिए? वही दाल-चावल तुम्हारे लिए मैं यहां अलग पकाती हूं, तो वहां का दाल-चावल खाने में क्या दोष है, मेरी समझ में नहीं आता।" यह मां की कुशलता थी। पहले तो विरोध किये बिना अलग पकाकर मुझे खिला दिया और फिर समझाया। तब मैंने वहां का दाल-भात खाना मंजूर कर लिया।

अपने विचारों को कविता में बिठाने का मुझे शौक था। मैं रचना करता। एक-एक कविता बनाने में दो-दो, तीन-तीन घंटे – कभी तो दिन – लग जाते। फिर उसको गाता, कुछ कमी महसूस हुई तो ठीक कर लेता और जब पूरा समाधान हो जाता कि कविता अच्छी बन गयी, तब उसको अग्निनारायण में स्वाहा कर देता। एकबार ठंड के दिनों में चूल्हे के पास बैठकर तप रहा था और अपनी कविताएं जला रहा था। मां ने देखा और पूछा, क्या जला रहे हो? मैंने बताया तब वह कहने लगी कि मैंने तो तुम्हारी कविता देखी नहीं। फिर कभी-कभी कविता बन जाने के बाद उसको सुना देता, फिर जला देता। काशी जाने के बाद गंगा के किनारे बैठकर इसी प्रकार कविता बनाता और समाधान हो जाने के बाद गंगा में विसर्जित करता।

बडौदा में हमारे घर के नजदीक एक कुम्हार का घर था। उसका एक गधा था। रात में जब मैं पढने बैठता तब वह चिल्लाने लगता। उससे मुझे तकलीफ होती। खास कर जब मैं गणित के सवाल हल करने बैठता, तब तो उसके चिल्लाने से बिलकुल त्रस्त हो जाता। मैं इसका इलाज ढूंढने लगा। उसी वक्त एक घटना घटी। हमारे कालेज में कुछ विदेशी संगीतकार आये थे, उनका संगीत का कार्यक्रम रखा था। मैं सुनने गया, लेकिन मुझे उसमें बिलकुल रस नहीं आया, सारा कर्णकटु लगा। अब वह भी संगीत हैं, वहां के तमाम लोग उसको पसंद करते हैं,

पर मेरे कानों को उसकी आदत न होने के कारण मुझे वह मधुर नहीं लगा। तब मेरे मन में विचार आया कि गधे के रेंकने से मुझे तकलीफ होती है, परंतु दूसरे गधों को क्या होता होगा? उनको तो उससे आनंद ही होता होगा। तो फिर उसे बुरा क्यों मानना चाहिए? उस दिन से उस आवाज को अच्छा मानने का अभ्यास मैंने शुरू कर दिया। जब भी गधे की आवाज सुनायी देती तब मैं अपना पढना बंद कर उस आवाज को मधुर मानने का प्रयत्न करने लगता। कभी-कभी उसके साथ एकरूप होने के लिए उसके साथ वैसे ही चिल्लाने लगता। फिर तो मुझे उस आवाज में 'करुणा' सुनायी देने लगी और मैंने उसे 'गर्दभराग' नाम दे दिया।

बचपन में मेरा शरीर बहुत कमजोर था। कभी-कभी जोरदार सिरदर्द होता था। जब मुझे वह असहनीय हो जाता तब मैं सोचने लगता और जोर-जोर से कहता भी रहता – "जो सिर दुख रहा है वह मैं नहीं हूं, मैं दुखनेवाला सिर नहीं हूं, मैं सिर नहीं हूं।" उससे मुझे बहुत लाभ होता। 'मैं देह नहीं हूं' इसका अभ्यास करने का मुझे आकर्षण था।

बचपन में मैंने योगशास्त्र पढा था। उसमें वर्णन था कि समाधिस्थ पुरुष कैसे बैठता है। मैंने वैसा आसन लगाकर बैठना शुरू किया। मैं कल्पना करता था कि मेरी समाधि लगी, लेकिन बीच में ही चित्त दौड जाता था। बडौदा में गरमी बहुत ज्यादा रहती है। तो मैंने नल के नीचे बैठकर आसन लगाना शुरू किया। ऊपर से बिलकुल बूंद-बूंद पानी सिर पर गिरता था, तो मैं समझता था कि मैं भगवान शिव हूं और मेरी समाधि लग गयी है। ऐसा नाटक करते-करते कभी-कभी चित्त इतना शांत हो जाता था, लगता था कि समाधि लग गयी। शास्त्र के मुताबिक वह समाधि थी या नहीं, पता नहीं, परंतु आनंद बहुत आता था। मन में किसी प्रकार कोई वासना रहती नहीं थी।

महाराज सयाजीराव गायकवाड ने बडौदा के एक बगीचे में बुद्ध भगवान की एक मूर्ति स्थापित की थी। उस बाग को ज्युबिली गार्डन कहते थे। परंतु मैंने उसे नाम दिया था – 'बुद्धोद्यान'। मुझे बुद्ध की प्रतिमा का बहुत आकर्षण था; क्योंकि मेरे मन में गृहत्याग के विचार थे। इसका नित्य दर्शन मुझे भगवान बुद्ध की मूर्ति में होता था, जो अपना राज्यवैभव और सांसारिक सुखों को तुच्छ समझकर जवानी में ही बाहर निकल पडे। बुद्धोद्यान में एकांत नहीं रहता था; फिर भी वहां जाकर मैं

मूर्ति को निरखता रहता, उसका ध्यान करता। उसका मुझ पर बहुत असर हुआ।

घर छोडने से पहले मैंने अपने मैट्रिक आदि के सारे सर्टिफिकेट जला दिये। पूरे रूप से रस्सी काट देना चाहता था। मां ने देखा तो उसे बडा दुःख हुआ, बोली, क्यों जला रहे हो? मैंने कहा, मुझे अब इनकी जरूरत नहीं है। मां ने कहा, आज जरूरत नहीं है, फिर भी पडे रहते तो तेरा क्या बिगडता? मैंने जवाब दिया, मुझे कोई नौकरी नहीं करनी है।

घर छोडने का विचार मेरे मन में पहली बार 1912 में आया। परंतु चार साल तक मैं अपने को निश्चय की कसौटी पर कसता रहा। फिर जो निश्चय किया सो किया, उसमें पीछे मुडकर नहीं देखा। मैं काशी जाना चाहता था। उसके दो हेतु थे। एक तो मैंने पश्चिम का शिक्षाशास्त्र पढा था, संतों के जीवन पढे थे और मेरी मान्यता हुई थी कि प्रवास किये बिना शिक्षण पूरा नहीं होता। काशी तो ज्ञान का भंडार माना गया था, खास करके संस्कृत और शास्त्रों का। तो वह एक मनशा थी कि वहां जाकर शास्त्रों का अध्ययन करूं। और दूसरा, काशी से हिमालय और बंगाल, दोनों के रास्ते थे, और इन दोनों का मुझे आकर्षण था।

घर में माता-पिता के लिए मेरे मन में बहुत आदर था, भक्ति थी। मां का तो इतना आकर्षण था कि आगे, उसकी अंतिम बीमारी में (1918 में) मैं उसके पास आया था और उसकी मृत्यु के बाद उसकी दो चीजें अपने साथ ले गया था। एक उसकी साडी, वह साडी बहुत कीमती थी, क्योंकि वह उसकी शादी की साडी थी। और दूसरी चीज थी अन्नपूर्णादेवी की मूर्ति, जिसकी पूजा मां रोज किया करती थी। साडी का उपयोग मैं सिरहाने के तकिये के रूप में करता था। बहुत दिन वह साडी मेरे पास थी। फिर आगे खादी की बात चली। साडी खादी की तो नहीं थी। तो क्या किया जाये! मैं गया साबरमती पर और स्नान करके उस साडी को साबरमती के पानी में विसर्जित कर दिया।

अन्नपूर्णादेवी की मूर्ति कुछ समय तक मैंने अपने पास रखी। कभी-कभी ध्यान के लिए उसका उपयोग करता था। यों तो ध्यान ही पूजा है। लेकिन मूर्ति को नित्य पूजा की आदत थी, तो मैं सोचता था कि ऐसी कोई स्त्री मिले, जो मां की तरह मूर्ति की नित्य पूजा करे, तो उस भक्त-हृदय स्त्री को मूर्ति सौंपकर मैं निःशंक हो जाऊं। ऐसी स्त्रियां तो बहुत

मिल सकती थीं, लेकिन मेरी भक्ति काशीबेन गांधी के लिए थी। मैंने उनसे पूछा कि यह मेरी मां की पूजा की मूर्ति है, क्या उसे आप लेंगी और उसकी कायम पूजा करेंगी? उन्होंने बहुत भक्तिपूर्वक और प्रीतिपूर्वक उसका स्वीकार किया।

माता-पिता के प्रति मेरी इतनी भावना होते हुए भी, वह आसक्ति मुझे घर छोडने से रोक न सकी। ब्रह्मजिज्ञासा इतनी तीव्र थी कि उसके आगे बाकी सब फीका था।

उन दिनों इंटर की परीक्षा के लिए बंबई जाना पडता था। हम दो-चार मित्र एकसाथ बंबई जाने निकले। लेकिन मैं अपने दो मित्रों (श्री बेडेकर तथा श्री तगारे) के साथ बीच में सूरत स्टेशन उतर गया और काशी की ट्रेन में बैठ गया। मैंने पिताजी को पत्र लिख दिया – "मैं परीक्षा देने के लिए बंबई जाने के बदले अन्यत्र जा रहा हूं। आप विश्वास रखें, मैं कहीं भी जाऊं, मेरे हाथ से अनैतिक काम कभी नहीं होगा।" वह दिन था, जिस दिन मैं घर से निकला, 25 मार्च 1916।

---

2 : युक्तः

सन् 1916 से 1951

: संत-चरण-रज-सेवन :

काशीवास
सत्याग्रहाश्रम
एक साल की छुट्टी
बापू से नित्य निकटता

: अंत्योदय की साधना :

साधना की भूमिका
कताई उपासना
'दो आने आहार' योजना
बापू का सिपाही
ग्रामोपासना
खंडित मूर्तियों की उपासना
चालीस वर्ष की समाप्ति पर
कारावास आश्रम
गीता-प्रवचन का जन्म
पवनार आगमन
प्रसाद-प्राप्ति
व्यक्तिगत सत्याग्रह
अंतिम लडाई
हरिजन-उपासना
गो-उपासना
शांति-उपासना
कांचन-मुक्ति का प्रयोग

संत-चरण-रज-सेवन

काशीवास

ब्रह्मसाक्षात्कार की जिज्ञासा से मैंने घर छोडा और काशी पहुंचा। काशी के दुर्गाघाट पर एक मकान में तीसरी मंजिल पर रहने के लिए जगह मिली। मेरे दो साथी मेरे साथ थे। उनमें से एक तो थोडे ही दिनों में वापस घर चला गया। दूसरा मेरे साथ रहा।

यद्यपि मैं भूतकाल का स्मरण बहुत सारा भूलता हूं और भविष्य की चिंता छोडकर वर्तमान में रहता हूं, फिर भी भूतकाल का प्रभावी स्मरण टाला नहीं जा सकता। मैंने अपने इस साथी को काशी में खोया, यह काशी की मुख्य याद है। उसका नाम था बेडेकर, लेकिन उसे हम 'भोला' कहते थे। वह मन से सरल, बेफिक्र और शरीर से अच्छा, मजबूत था। मुझ पर उसकी निरपेक्ष प्रीति थी। वह तैरकर गंगाजी को पार करके फिर वापस किनारे पर आता था। मैं तो केवल देखता ही रहता था।

एकबार बडौदा में एक महाराज आये थे। भोला ने कहा, चलो, मिलने चलेंगे। मैं अक्सर बिना पूछताछ किये किसी को संत मानकर मिलने नहीं जाता था। पर भोला का बहुत आग्रह रहा, तो उसके साथ गया। वहां काफी लोग थे। मैंने कहा, हम दूर से ही देखेंगे और सुनेंगे। किसी ने सवाल पूछा, महाराज, आप कहां से आये? तो उन्होंने जवाब दिया, नारायण का वास सर्वत्र है। यह सुनते ही मैंने भोला का हाथ पकडा और वहां से निकल पडा। और भोला से कहा, तुमको यही सुनना था तो मैं तुमको कब का उपनिषद सुनाता। कहां से आये, इस सादे प्रश्न का वैसा ही सीधा जवाब देना चाहिए था कि अमुक गांव से आया हूं। तू तो भोला ही है।

काशी में दो ही महीनों में भोला बीमार हो गया। और बीमारी एकदम गंभीर होती चली गयी। उसको वहां के रामकृष्ण मिशन के अस्पताल में रखा। दीख रहा था कि वह अब ठीक नहीं होगा। वह भी इस बात को समझ गया था। मैंने उससे पूछा कि क्या घर पर खबर पहुंचानी है? तो कहने लगा कि क्या जरूरत है? घर के साथ अब क्या संबंध? परलोक जाने पर कभी न कभी खबर पहुंचेगी ही। फिर बात चली कि मृत देह को अग्नि कौन देगा? मैंने पूछा, तुम्हारी क्या इच्छा है? तो कहने लगा, तुम

ही देना। मैंने कहा, ठीक है। दूसरे दिन उसकी मृत्यु हुई।

मेरे लिए यह पहला ही प्रसंग था। कभी स्मशान में जलाने के लिए गया नहीं था। मेरे पास (स्कूल में पढाता था उसके) चार रुपये बचे थे। उतने में चाहे जितनी स्मशानयात्राएं हो सकती थीं। मुख्य तो लकडी का खर्च करना था। गंगा के किनारे मंत्रोच्चारण के साथ अंतिम विधि की। दूसरे दिन, जिस अन्नछत्र में हम भोजन के लिए जाते थे वहां चर्चा चली कि इन लोगों ने भडाग्नि दी। मैंने सबको जवाब दिया, गंगा की महिमा अपार है, उसके किनारे भडाग्नि देने पर कौआ भी स्वर्ग में चला जायेगा, इसलिए यह तो अब सीधा स्वर्ग में जायेगा। इस तरह से हमारे भोला की विदाई हुई।

काशी में प्रारंभ में सुबह का भोजन हम एक अन्नछत्र में करते थे। वहां दक्षिणा के तौर पर दो पैसे मिलते थे। शाम को मैं उसमें से एक पैसे का दही लेता था और एक पैसे के दो शकरकंद। उस पर मेरा चल जाता था।

वहां एक अंग्रेजी पढानेवाला खानगी स्कूल था। मैंने देखा, वहां के शिक्षक को भी अंग्रेजी नहीं आती थी। मैंने वहां रोज घंटा-दो घंटा पढाना शुरू किया। उन्होंने पूछा, कितनी तनख्वाह चाहिए? मैंने कहा, महीने के दो रुपये। उन्होंने पूछा, इतना बस है? मैंने कहा, भोजन मुझे अन्नछत्र में मिलता है, इसलिए इससे ज्यादा की मुझे जरूरत नहीं। दो महीने पढाया, तो चार रुपये मिले।

काशी की म्युअर सेंट्रल लाइब्रेरी में संस्कृत-हिंदी के काफी धर्मग्रंथ थे। थोडे ही दिनों में मैंने वहां के लगभग सभी ग्रंथ देख लिये। घंटों वहां पढने में बिताता था। मुझे संस्कृत भी सीखनी थी। मैं एक पंडित के पास गया और पूछा कि संस्कृत सीखने के लिए कितने दिन लगेंगे? उसने कहा, बारह साल। मैंने कहा, इतना समय मेरे पास नहीं है। उसने पूछा, कितने साल में सीखना चाहते हो? मैंने कहा, दो महीने में। वह मेरी तरफ देखते ही रहा।

रोज रात को एक घंटा गंगा के किनारे बिताता था। कभी ध्यान करता। कभी जोरदार चिंतन चलता। कभी कविताएं बनाता और फिर उनको गंगा में छोड देता।

वहां गंगा के किनारे रोज ही पंडितों की चर्चाएं चलतीं, सभाएं होती

रहतीं। कभी-कभी मैं सुनने बैठ जाता। एक दिन एक सभा में द्वैती और अद्वैतियों के बीच विवाद चला और अद्वैतियों की जीत हुई। मैं खडा हो गया और बोला, अध्यक्षमहाराज, मुझे कुछ बोलना है। अध्यक्ष को लगा, लडका है, बोलेगा कुछ, उन्होंने मुझे बोलने की इजाजत दी। मैंने कहा, आप लोगों ने अभी देखा कि अद्वैतियों की कैसी हार हुई। लोग देखने लगे कि यह क्या उलटा बोल रहा है। मैंने आगे कहा, जो अद्वैती है, वह विवाद के लिए खडा ही कैसे रहेगा? जो द्वैतियों के साथ चर्चा में उतरते हैं, वे पहले से ही हारे हुए हैं। अद्वैती के मन में द्वैत रहता है तभी तो विवाद का सवाल खडा होता है। इतना कहकर मैं वहां से निकल आया।

एकबार मुझे ताले की जरूरत पडी। मैं खरीदने गया। अन्नछत्र की ओर जानेवाले रास्ते पर ही दुकान थी। मैंने ताले की कीमत पूछी। दुकानदार ने दस आने बतायी। मैंने ताला खरीद लिया और उसे दस आने देकर कहा, आप दस आने मांग रहे हैं इसलिए दस आने दे रहा हूं, परंतु वास्तव में इस ताले की कीमत दो आने हैं, आप बहुत ज्यादा मांग रहे हैं। उस समय तो दुकानदार कुछ बोला नहीं। मैं रोज ही उस रास्ते से जाता, परंतु अपने रास्ते निकल जाता, उसकी तरफ देखता नहीं। दो-एक दिन के बाद उसने मुझे बुलाया और कहा, उस दिन मैंने आपसे ताले के ज्यादा पैसे लिये थे, मेरी गलती हुई। उसने उतने पैसे मुझे वापस दे दिये। इसका मुझ पर बहुत असर हुआ और उसके लिए आदर पैदा हुआ।

घर छोडकर निकला तब मैंने अपने साथ एक ही पुस्तक ली थी – ज्ञानेश्वरी। ज्ञानेश्वरी पर मेरी बहुत श्रद्धा थी। एक दिन रात को स्वप्न आया। दूसरे दिन से मैंने ज्ञानेश्वरी को सिरहाने लेकर सोना शुरू किया। तो स्वप्न आना बंद हो गया।

इस तरह दो माह और कुछ दिन काशी में रहना हुआ। और फिर मेरे पैर बापू की ओर मुडें।

* *

सत्याग्रहाश्रम

छोटा था तभी से मेरा ध्यान बंगाल और हिमालय की ओर खींचा हुआ था। मैं हिमालय और बंगाल जाने के सपने संजोया करता था। एक

ओर बंगाल की 'वंदेमातरम्' की क्रांति की भावना मुझे खींचती, तो दूसरी ओर हिमालय का ज्ञानयोग मुझे खींचता। हिमालय और बंगाल, दोनों के रास्ते में काशी नगरी पडती थी। कर्मसंयोग से मैं वहां आ पहुंचा था। पर न मैं हिमालय गया, न बंगाल ही। लेकिन अपने मन से दोनों जगह एकसाथ पहुंच गया। मैं गांधीजी के पास गया और उनके पास मुझे हिमालय की शांति और बंगाल की क्रांति मिली। वहां जो पाया, उसमें क्रांति और शांति, दोनों का अपूर्व संगम था।

मुझे तो बचपन से अज्ञात में ही कूदने का शिक्षण मिला है। घर छोडकर निकला तब मेरी उम्र 20-21 साल की थी। मैंने कालेज छोडकर 'ब्रह्मविद्या' का नाम लेकर अज्ञात में कूदने का साहस किया। मुझे मालूम नहीं था कि दुनिया में कौनसा आश्रय मिलेगा। लेकिन दो-तीन महीनों के अंदर गांधीजी का आश्रय मिला। मुझे इसका कोई ख्याल ही नहीं था। गुरुदेव हमें सिखा रहे हैं, अरे डरना क्या है, तू तो अज्ञात में प्रवेश कर ही चुका है। क्या तेरी मां तुझे पहले ज्ञात थी? भगवान ने तुझे पहले से ही अज्ञात में प्रवेश करने की हिम्मत दे रखी है। तो जैसे अज्ञात में जन्म लिया, अज्ञात में स्नेहमयी माता मिली, वैसे ही मैंने ब्रह्मविद्या में कूदने का साहस किया तो महात्मा गांधी जैसी स्नेहमयी माता मुझे मिली।

जब मैं काशी आया तो वहां बापू के एक व्याख्यान की चर्चा चल पडी थी। वहां के हिंदू विश्वविद्यालय में बापू का यह व्याख्यान हुआ था। उस व्याख्यान में उन्होंने अहिंसा के बारे में बहुत-सी बातें बतायी थीं। मुख्य बात यह थी कि निर्भयता के बिना अहिंसा चल ही नहीं सकती। मन ही मन हिंसा का भाव रखने की अपेक्षा खुलकर हिंसा की जाये तो भी वह कम ही हिंसा मानी जायेगी। यानी मानसिक अहिंसा ही मुख्य अहिंसा है और वह बिना निर्भयता के आ नहीं सकती। उस भाषण में उन्होंने उन राजा-महाराजाओं की भी कसकर आलोचना की थी, जो तरह-तरह के आभूषणों से सजकर आये थे। मैं वहां पहुंचा तब इस ऐतिहासिक व्याख्यान को एक महीना हो चुका था, फिर भी नगर में उसकी शोहरत थी। जब मैंने वह व्याख्यान पढा तो कितनी ही शंकाएं और जिज्ञासाएं उठ खडी हुईं। इसलिए मैंने बापू के नाम पत्र लिखा, जिसमें अपनी जिज्ञासाएं उनके समक्ष प्रस्तुत की थीं। उन्होंने उस पत्र का मुझे बहुत ही अच्छा जवाब दिया।

दस-पंद्रह दिनों के बाद मैंने पुनः उनसे शंकाएं पूछीं। तब उनका एक कार्ड आया कि अहिंसा के बारे में जो जिज्ञासाएं की हैं उनका समाधान पत्राचार से नहीं हो सकता। इसके लिए जीवन से ही स्पर्श होना चाहिए। इसलिए कुछ दिन के लिए मेरे पास आश्रम में आइए और रहिए तो धीरे-धीरे बातचीत हो सकती है। उनका यह जवाब कि **''समाधान बातों से नहीं, जीवन से होगा''** मुझे जंच गया।

उस जवाब के साथ बापू ने आश्रम का एक नियम-पत्रक भी भेजा था, जो मेरे लिए और भी आकर्षक था। उस समय तक किसी भी संस्था का वैसा पत्रक मेरे पढने में कभी आया नहीं था। उसमें लिखा था – 'इस आश्रम का ध्येय विश्वहित-अविरोधी देशसेवा है और उसके लिए हम निम्नलिखित व्रत आवश्यक मानते हैं।' नीचे सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, शरीरश्रम आदि एकादश-व्रतों के नाम लिखे थे। मुझे यह बहुत ही आश्चर्यकारक लगा। मैंने बहुत-से इतिहास पढे, पर कहीं भी यह देखने को नहीं मिला कि देश के उद्धार के लिए व्रतों का विधान आवश्यक माना गया हो। ये सारी बातें योगशास्त्र में, धर्मग्रंथ में, भक्ति-मार्ग में आती हैं, लेकिन देशसेवा के लिए भी आवश्यक होती हैं, यह बात उस पत्रक में थी। इसलिए मेरा मन उनकी ओर आकृष्ट हो गया। मुझे लगा, यह पुरुष ऐसा है, जो देश की राजनैतिक स्वतंत्रता और आध्यात्मिक विकास दोनों साथ-साथ साधना चाहता है। मुझे यही पसंद था। बापू ने लिखा था, 'तुम यहीं चले आओ।' और मैं बापू के पास पहुंच गया।

वह दिन था 7 जून 1916। मैं अहमदाबाद स्टेशन पर उतरा। मेरे पास बहुत सामान था नहीं, तो खुद ही उठा लिया और रास्ता पूछते-पूछते ही चल पडा। एलिस ब्रिज के रास्ते से चलकर सुबह आठ बजे (कोचरब) आश्रम पहुंचा। बापू को खबर पहुंचायी गयी कि एक नये भाई आये हैं। उन्होंने कहा, ठीक है, नहा-धोकर मुझसे मिलने आयें। नहा-धोकर मैं उनके पास पहुंच गया। वे सब्जी काट रहे थे। मेरे लिए यह भी एक नया ही दृश्य था। सब्जी काटने-बनाने का काम भी राष्ट्रनेता करते हैं, यह मैंने कभी सुना नहीं था। उनके प्रथम दर्शन में ही मुझे श्रम का पाठ मिला। बापू ने एक चाकू मेरे हाथ में भी दे दिया। मैंने तो उससे पहले कभी यह काम किया नहीं था। पर, उस दिन पाठ मिला। मेरी यह प्रथम दीक्षा थी, जो वहां मिली।

फिर सब्जी काटते हुए ही उन्होंने मेरी पूछताछ की। फिर कहा, "यदि तुम्हें यहां का रहन-सहन अच्छा लगता हो और अपना जीवन तुम सेवा-कार्य में लगाना चाहते हो तो यहां रहो। मुझे इससे खुशी होगी।" मेरी जिज्ञासा उन्होंने परख ली थी। बोले, "लेकिन तुम बहुत दुर्बल दीखते हो। आत्मज्ञानी साधारणतः शरीर से कमजोर रहते हैं, परंतु तुम तो बीमार दीखते हो। आत्मज्ञानी कभी बीमार नहीं पडते।" यह दूसरा पाठ! बापू की यह बात मैं कभी भूल नहीं सकता।

उस दिन सब्जी काटते-काटते बापू से जो बातें हुईं सो हुईं, उसके बाद सिर्फ काम की बातें होती थीं। बाकी समय मैं अपने काम में खोया रहता था। बापू की अनेकों से बातें होती रहती थीं, वह सुनता रहता था। बापू जानते थे कि लडका सद्भावना से आया है। लेकिन बाकी सबका ख्याल था कि यह एक जड जैसा है। एक दिन गीता के एक श्लोक पर बापू बोल रहे थे। एक शख्स ने बापू से पूछा कि "गीता में एक स्थान पर कहा है, 'कर्म श्रेष्ठ है' और दूसरे स्थान पर कहा है, कि 'कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है', इसका क्या अर्थ?" बापू ने उससे कहा, "पहले वाक्य की भाषा गौण है और दूसरे की श्रेष्ठ है।" मैं चर्चा सुन रहा था। मैंने कहा, "पहले वाक्य की भाषा भक्ति की है तथा दूसरे वाक्य की भाषा ज्ञान की है।" बापू खुश होकर बोले, "तुमने बिलकुल ठीक कहा। मैं ठीक शब्द ढूंढ रहा था, लेकिन मुझे मिला नहीं। यहां गौण-श्रेष्ठ का सवाल नहीं है। दोनों श्रेष्ठ हैं, लेकिन एक भक्ति की भाषा है तो दूसरी ज्ञान की।" यह थे बापू कि मेरे जैसे बच्चे की बात को भी महत्त्व देकर स्वीकार कर लेने की नम्रता उनके पास थी। तब सबको लगा कि इसको भी बोलना आता है।

इसमें लोगों का भी कोई दोष नहीं था। उस समय मैं बहुत रुक्ष मनुष्य था। 21 साल का छोकरा था। मेरे मित्र जानते हैं कि जिसे सभ्यता, शिष्टता कहते हैं, वह मुझमें बहुत ही कम थी। किसी के साथ बातचीत भी न करता था। काम में लगा रहता, या फिर अध्ययन, ध्यान, चिंतन आदि में।

एक दिन बडी फजर उठकर मैं अपने कमरे में उपनिषद बोल रहा था। आश्रमवासियों ने सुना तो उन्होंने बापू को खबर दी कि यह तो संस्कृत जानता है। फिर बापू ने पूछताछ की। बीच-बीच में वे मुझे प्रार्थना

में कुछ कहने के लिए बताने लगे। मुझे बोलने की आदत पहले से थी। (बडौदा में विद्यार्थी-मंडल में उसका अच्छा अभ्यास हुआ था।) लेकिन यहां प्रार्थना में बोलना पडा, इससे बहुत लाभ हुआ। बापू की हाजिरी में बोलना है, तो ऐसी तैयारी होती थी कि एक शब्द भी ज्यादा न जाये, कम न पडे। समत्वयुक्त कैसे बोलना, इसका बहुत अच्छा अभ्यास हुआ। बोलने से पहले यह नहीं सोचता था कि किस प्रकार बोलूं। इसके बारे में तो जीसस क्राईस्ट ने आज्ञा दे रखी है कि जब प्रचार के लिए जाओगे तब क्या बोलना सोचना नहीं, तो भगवान तुमको प्रेरणा देगा। सोचोगे तो वह तुम्हारी अपनी प्रेरणा होगी। ऐसा चला।

बापू ने मुझे गढने का तय ही कर डाला था। लोगों को मेरे पास भेजते। वर्धा जाने के बाद, सेवाग्राम में जो भी जिज्ञासु आता, उसे बापू पूछते कि आप विनोबा से मिल आये? न मिले हों तो जरूर मिल लेना चाहिए। एक दिन बापू ने एक भाई को मेरे पास भेजा। वे भारत के एक प्रख्यात क्रांतिकारी थे। बापू ने कहा था इसलिए वे पैदल चलकर पवनार तक आये थे। मैं खेत में खोद रहा था। नजर उठाकर देखता हूं तो ये भाई सामने खडे हैं। मैंने पूछा, कैसे आना हुआ? उन्होंने जवाब दिया, ऐसे ही; दर्शन करने आया हूं। फिर क्या? दूसरी कोई बातचीत नहीं हुई। कुछ ही देर में मेरे हाथ पुनः काम में लग गये। नजर काम पर चली गयी। वे भाई खडे रहे, पर कुछ बोले नहीं। वापस जाकर उन्होंने बापू से शिकायत की कि आपने मुझे कैसे आदमी के पास भेज दिया! मेरे साथ उसने कोई बात तक नहीं की। बापू समझ गये। बोले, आप गये तब वह क्या करता था? 'जमीन खोद रहे थे।' तब बापू बोले, तो फिर उसमें नाराज होने की क्या बात है? विनोबा अपना काम कर रहा था, तब वह आपके साथ बोलता कैसे? आपको पता नहीं कि किसी से मिलने जाना हो, तो पहले से समय मांग लेना चाहिए। इस प्रकार बापू ने उनको तो समझा दिया, लेकिन बाद में जब मुझसे मिले तो मुझे फटकारा कि भले आदमी, कोई आता है तो उससे मिलना और उसके साथ बातचीत करना भी एक प्रकार का काम ही है। इस तरह उनके हाथों में धीरे-धीरे गढा गया हूं। मैं स्वभाव से एक जंगली जानवर जैसा रहा हूं। बापू ने मुझे पालतू जंगली जानवर बनाया। उनके चरणों में बैठकर ही मैं असभ्य मनुष्य से सेवक बना हूं। बापू के साथ रहकर मुझे सेवा की लगन लगी। मैं सेवा को भगवान की

पूजा का साधन और जनता को अपना स्वामी मानता हूं।

बापू ने मेरी कसौटी की होगी या नहीं, मैं नहीं जानता। लेकिन अपनी बुद्धि से मैंने उनकी बहुत परीक्षा कर ली थी। और यदि उस परीक्षा में वे कम उतरते तो उनके पास मैं टिक नहीं पाता। मेरी परीक्षा करके उन्होंने मुझमें चाहे जितनी खामियां देखी होंगी या देखते होंगे, तो भी वे मुझे अपने साथ रखते थे। परंतु अगर मुझे उनकी सत्यनिष्ठा में कुछ भी कमी, न्यूनता या खामी दीखती तो मैं उनके पास टिक नहीं पाता। मैंने ऐसे बहुत-से महापुरुष देखे हैं, जिन्हें अपने बारे में ऐसा भास होता है कि वे मुक्त पुरुष हैं, पूर्ण पुरुष हैं। फिर भी ऐसे किसी का मुझे आकर्षण नहीं हुआ। लेकिन सदैव अपने को अपूर्ण माननेवाले बापू का ही मुझे अनोखा आकर्षण रहा। वे हमेशा कहते थे कि मैं अभी पूर्ण सत्य से बहुत दूर हूं। मुझ पर जितना असर बापू का पडा, उतना पूर्णता का दावा करनेवाले दूसरे सज्जनों का नहीं पडा।

मैं बापू से मिला और उन पर मुग्ध हो गया, सो उनकी अंतर्बाह्य एकता की अवस्था के कारण। फिर, कर्मयोग की दीक्षा तो मुझे बापू से ही मिली। गीता में तो वह कहा ही है, पर उसका साक्षात्कार हुआ बापू के जीवन में। गीता के कर्मयोग का प्रत्यक्ष आचरण मैंने बापू में देखा। गीता में स्थितप्रज्ञ-लक्षण आते हैं। यह वर्णन जिसको लागू हो ऐसा स्थितप्रज्ञ देहधारी खोजने पर बडे भाग्य से ही मिलेगा। लेकिन इन लक्षणों के निकट पहुंचे महापुरुष को मैंने अपनी आंखों से देखा।

बापू के पास आश्रम का जो कुछ जीवन-स्वरूप अपनी दृष्टि से देखा, उससे मुझे बहुत कुछ मिला। कई नयी चीजें मिलीं। खास करके जीवन के मूलभूत तत्त्वों पर श्रद्धा – 'एब्सोल्यूट मोरल व्हैल्यूज' के बारे में साफ दृष्टि मिली। मैं सत्यादि धर्म मानता था, लेकिन ये 'रिलेटीव' (सापेक्ष) हैं, परिस्थिति पर निर्भर हैं, ऐसा मेरा चिंतन था। बापू के पास आने के बाद खास चीज यह कि उसमें फर्क हुआ। दुनियाभर की चीजें हमारे लिए हैं, हम उनके लिए नहीं, वैसा जीवनसिद्धांत के लिए नहीं हो सकता। जीवनसिद्धांत हमारे लिए हैं ऐसा नहीं, हम ही उनके लिए हैं। शास्त्रग्रंथों में भी यह बात मिलती है। जैसे शास्त्र में है कि ब्राह्मण धर्म के लिए पैदा हुआ। अभी हम ब्राह्मण-क्षत्रियादि पद्धति से सोचते नहीं, साधक के लिए सोचते हैं। यह केवल उदाहरण के लिए कह रहा हूं।

लेकिन उसका अर्थ यह है कि हम धर्म के लिए हैं, हम धर्म के सेवक हैं। सिद्धांत हमारे लिए नहीं, हम सिद्धांतों के लिए हैं, यह बात वहां मेरे ध्यान में आयी। परिणामस्वरूप मुझे अनुभव हुआ कि जीवन एकरस और अखंड है। बापू कभी अपने को गुरु के तौर पर नहीं मानते थे और अपने को किसी के शिष्य के तौर पर भी नहीं मानते थे। इसी तरह मैं भी न किसी का गुरु हूं, न किसी का शिष्य; यद्यपि मैं गुरु के महत्त्व को बहुत मानता हूं। लेकिन गुरुत्व की यह भाषा छोडकर मैं इतना ही कहूंगा कि मुझे बापू के आश्रय में जो कुछ मिला, वहीं अब तक मेरे काम में आ रहा है। बापू का आश्रम मेरे लिए दृष्टिदायी मातृस्थान है।

एकबार बापू से बातें हो रही थीं। खान अब्दुल गफारखां की मदद में जाने की बात चल रही थी। तब उन्हें लगा कि ऐसा भी हो सकता है कि वापस लौटना न हो। इसलिए उन्होंने मुझे बातें करने के लिए बुलाया। लगभग 15 दिन तक हमारी बातें चलीं। दो-तीन दिन तो वे सवाल पूछते गये और मैं जवाब देता गया। फिर एक दिन मैंने उनसे ईश्वरविषयक अनुभव के बारे में पूछा। मैंने कहा, "आप 'सत्य ही परमेश्वर है' कहते हैं सो तो ठीक है, लेकिन उपवास के समय आपने कहा था कि आपको अंदर की आवाज सुनायी दी, यह क्या बात है? इसमें कोई रहस्य – गूढता है?" उन्होंने जवाब दिया, "हां, इसमें कुछ ऐसा है जरूर। यह बिलकुल साधारण बात नहीं। मुझे आवाज साफ-साफ सुनायी दी थी। मैंने पूछा, मुझे क्या करना चाहिए? तो जवाब मिला, उपवास करना चाहिए। मैंने पूछा, कितने उपवास करने चाहिए? जवाब था, इक्कीस।"

इसमें एक पूछनेवाला था और दूसरा जवाब देनेवाला था। यानी बिलकुल कृष्णार्जुन-संवाद ही था। बापू तो सत्यवादी थे, इसवास्ते यह कोई भ्रम तो हो नहीं सकता। उन्होंने कहा कि साक्षात् ईश्वर ने मुझसे बात की। इसलिए फिर मैंने पूछा, "ईश्वर का कोई रूप हो सकता है?" उन्होंने कहा, "रूप तो नहीं हो सकता, लेकिन मुझे आवाज सुनायी दी थी।" मैंने कहा, यह कैसे? रूप अनित्य है तो आवाज भी अनित्य है। फिर भी आवाज सुनायी देती है, तो फिर रूप क्यों नहीं दीखता? फिर मैंने उनसे दुनिया में दूसरों को हुए ऐसे गूढ अनुभव की बातें कहीं। अपने भी कुछ अनुभव कहे। ईश्वर-दर्शन क्यों नहीं होता, इस बारे में

भी बातें हुईं। आखिर उन्होंने स्वीकार किया कि यद्यपि उन्हें आवाज सुनायी दी, रूप का दर्शन नहीं हुआ, फिर भी वह हो सकता है।

जब बापू की आत्मकथा प्रकाशित हो रही थी, तब एकबार उन्होंने मुझे उसके बारे में पूछा। मैंने बताया, आप सत्यवादी हैं, मिथ्या तो कुछ लिखेंगे नहीं, इसलिए किसी का नुकसान तो नहीं होगा, लेकिन फायदा क्या होगा, मालूम नहीं, क्योंकि जिसको जो लेना है, वही लेता है। बापू बोले, तुम्हारे जवाब से मुझे जो चाहिए था, वह मिल गया। 'नुकसान नहीं होगा' उतना बस है। जहां तक फायदे का ताल्लुक है, – वे गुजराती में बोल रहे थे – **'आपणां बधां कामोनुं परिणाम मींडुं छे'** (हमारे सभी कामों का परिणाम शून्य है)। उन्होंने हवा में उंगली से बडा गोल करके दिखाया और आगे कहा – **'आपणे तो सेवा करी छूटीए'** (हमें तो सेवा कर छूट जाना है)। यह बात बिलकुल मेरे हृदय में पैठ गयी। बापू का सारा का सारा तत्त्वज्ञान इसमें आ जाता है।

मुझे अपना जीवन अत्यंत भाग्यवान मालूम पडता है, कारण जीवन में मुझे परम भक्ति का अनुभव होता है। शास्त्रों में जिसे वियोग-भक्ति कहा जाता है, उसका मुझे अनुभव हुआ है। बापू से दूर रहकर उनके विचारों का मैं बडी ही बारीकी से अध्ययन करता था और उसमें से जो मिलता, उस पर अमल करने का यथाशक्ति प्रयत्न भी करता था। यह मेरा बडे-से-बडा भाग्य था।

मारग में तारण मिले, संत राम दोई
संत सदा शीश ऊपर, राम हृदय होई

– मीराबाई का यह वचन मुझ पर भी ठीक-ठीक लागू होता है। मुझे भी मार्ग में दो ही तारण मिले। भगवान की कृपा से एक का आशीर्वाद मेरे सिर पर है और दूसरे का स्थान मेरे हृदय में है।

* *

एक साल की छुट्टी

सन् 1917 की बात है। मैं बापू से एक वर्ष की छुट्टी लेकर बाहर चला गया था। उसका एक कारण तो था स्वास्थ्य-सुधार और दूसरा अध्ययन। प्रथम वाई में रहकर संस्कृत का अध्ययन करने का विचार था। ऐसे तो गीता पर मेरा जो प्रेम था उस कारण घर में ही मेरे मित्र

गोपालराव की मदद से मैंने संस्कृत का अध्ययन शुरू कर दिया था। अब वेदांत और दर्शन का अध्ययन करना था। वाई में मुझे इसका उत्तम अवसर मिला। वहां नारायणशास्त्री मराठे नामक एक बालब्रह्मचारी विद्वान वेदांत तथा दूसरे शास्त्र पढाने का काम करते थे। उनसे उपनिषद वगैरह पढने का 'लोभ' हुआ और वहां कुछ अधिक समय रह गया।

वहां मैंने उपनिषद, गीता, ब्रह्मसूत्र और शांकरभाष्य, मनुस्मृति, पातंजल योगदर्शन, इन ग्रंथों का अध्ययन किया। अलावा इसके, न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र, याज्ञवल्क्यस्मृति, ये ग्रंथ पढ गया। फिर ज्यादा पढने का मोह नहीं रहा। लगा कि मैं अब अपने-आप अधिक पढ सकूंगा।

दूसरा काम था स्वास्थ्य सुधारना। उसके लिए पहले मैंने दस-बारह मील घूमना रखा था। बाद में छः से आठ सेर अनाज पीसना शुरू किया। फिर तीन-सौ सूर्यनमस्कार शुरू किये। इससे स्वास्थ्य सुधर गया।

आहार भी मैं सोच-विचार कर लेता था। पहले छः महीनों तक नमक खाता था, पर बाद में छोड दिया। मसाला वगैरह बिलकुल नहीं खाया और न खाने का व्रत ले लिया। दूध शुरू किया। कई प्रयोग करने के बाद साबित हुआ कि दूध के बिना अच्छी तरह काम नहीं चल सकता। एक महीना केवल केले, नींबू और दूध पर रहा। ताकत कम हो गयी। तो खुराक निश्चित कर ली – दूध (डेढ सेर), रोटी दो (बीस तोले जवार की), केला (चार-पांच), नींबू एक (जब मिल सके)।

स्वाद के लिए और कोई पदार्थ खाने की इच्छा नहीं होती थी, फिर भी हमेशा लगता रहता कि यह आहार भी काफी अमीराना है। रोज का खर्च कुल ग्यारह पैसे होता था। केला और नींबू चार पैसे, जवार दो पैसे, दूध पांच पैसे।

यद्यपि यह सारा मैं स्वास्थ्य की दृष्टि से कर रहा था, उसमें एकादश-व्रतों के पालन की दृष्टि भी थी। मैं आश्रम से दूर था, पर सत्याग्रह-आश्रम के निवासी की हैसियत से ही अपना आचरण रखने की मेरी पूरी कोशिश थी। जैसे अस्वाद-व्रत का ख्याल रखा था, वैसे ही अपरिग्रह का भी। उस समय मेरे पास बहुत कम सामान था। लकडी की थाली, कटोरा, आश्रम का एक लोटा, धोती, कंबल और पुस्तकें, बस, इतना प्रपंच रखा था। कुर्ता, कोट, टोपी वगैरह इस्तेमाल न करने का

व्रत लिया था। करघे पर बुने हुए कपडे ही काम में लेता था। इसलिए विदेशी का मेरे साथ कोई वास्ता ही नहीं रहता, तो स्वदेशी व्रत का पालन भी हो जाता था। और मुझे विश्वास है कि अपनी जानकारी के अनुसार सत्य-अहिंसा-ब्रह्मचर्य, इन तीन व्रतों का परिपालन मैंने अच्छी तरह किया।

यह सब करते हुए सेवा की दृष्टि से दूसरे कुछ काम भी कर रहा था। गीता का एक निःशुल्क वर्ग चलाया। उसमें छः विद्यार्थियों को पूरी गीता अर्थ के साथ पढायी। दूसरे एक वर्ग में चार विद्यार्थियों को ज्ञानेश्वरी के छः अध्याय पढाये। दो विद्यार्थियों को नौ उपनिषद पढाये। मैं खुद हिंदी अच्छी तरह नहीं जानता था, लेकिन हिंदी-प्रचार की दृष्टि से रोज विद्यार्थियों को साथ लेकर हिंदी अखबार पढने का कार्यक्रम रखा था।

वाई में 'विद्यार्थी मंडल' नाम की एक संस्था स्थापित की। उसके वाचनालय की सहायता के लिए पीसने का एक वर्ग रखा। उसमें पंद्रह विद्यार्थी और मैं खुद, सब पीसते थे। जो लोग चक्की से पिसवा लाते, उनका काम दो सेर पर एक पैसा लेकर करना और पैसा वाचनालय को देना। बडे साहूकारों के बच्चे भी इसमें भरती हुए थे। वाई पुराने विचार का स्थान होने के कारण और इस वर्ग में हाईस्कूल में पढनेवाले सारे ब्राह्मणों के लडके होने के कारण सभी ने हमारी मूर्खों में गिनती कर ली। फिर भी यह क्लास दो महीने चली। वाचनालय में 400 पुस्तकें जमा हो गयीं।

इसी साल मैंने लगभग 400 मील का पैदल प्रवास किया। ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से महाराष्ट्र के चार-पांच जिलों में मैं पैदल घूमा था। घूमने के पीछे मेरा हेतु था किले देखना (रायगढ, सिंहगढ, तोरणगढ आदि इतिहासप्रसिद्ध किले देखे), संतों के स्थानों का दर्शन करना, अच्छे लोगों से मिलना और लोक-निरीक्षण करना।

उस समय मैं लोगों के पास जाकर गुप्त ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। किसी के घर में पुराने ग्रंथ हों तो उन ग्रंथों को देखता। इतिहास-संशोधन, विशेषतः आध्यात्मिक ग्रंथ देखने का मुझे शौक था। उस समय लोग मुझे खास जानते नहीं थे, इसलिए यह लाभ मिल सका। वह एक विशेष ही लाभ कहा जायेगा। तुकाराम ने कहा है, **'रिघावें पोटांत, पाया पडूनि घ्यावा अंत'** (पेट में – हृदय में प्रवेश करें और पैर

पकडकर अंदर की बात निकाल लें)। वैसे ही मैं करता था। अब तो मुझे किसी के चरण पकडने का अवसर नहीं मिलता। उलटे लोग ही मुझ पर जुल्म करते हैं, पैर छू-छू कर ऊबा देते हैं। लेकिन मुझे चरण छूने का मौका मिलता नहीं।

जब घूमता था, तब गीता पर प्रवचन करता था। उस समय मैं कोई अनुभवी व्यक्ति था, ऐसी बात तो नहीं, 23 साल की मेरी उम्र थी। मैं गीता को कितना समझा था, यह एक भगवान श्रीकृष्ण ही जानें; लेकिन बिलकुल तन्मय होकर अंतःकरण की छटपटाहट से बोलता था। उसमें मेरा केवल जप का हेतु था। शिवजी के लिंग पर बूंद-बूंद अभिषेक होता है, वैसे विचारों का सतत जप होता गया, तो विचार चित्त पर अंकित होता है, इस भावना से व्याख्यान करता था। गीता के लिए मेरे अंतःकरण में ऐसी ही भक्ति है।

एक गांव में अधिक से अधिक तीन दिन ठहरता था। पहला दिन परिचय में जाता था। रात को नौ बजे प्रवचन होता था और लोगों को सुनने की इच्छा है, ऐसा दिखायी दिया तो और दो दिन ठहर जाता था। पहले दिन पंद्रह-बीस भाई-बहन प्रवचन सुनने आते। उन पंद्रह-बीस भाई-बहनों के सामने मैं इस तरह बोलता था, मानो मैं हजार लोगों के सामने बोल रहा हूं। दूसरे दिन संख्या बढ जाती – सौ दो-सौ तक लोग हो आते।

एकबार मैं एक गांव में ठहरा। संकेश्वर मठ के शंकराचार्य भी उस समय वहां थे। उनका व्याख्यान सुबह होता था। उनको मालूम हुआ कि गांव में कोई जवान साधु आया है, उसकी सभाएं बहुत अच्छी हो रही हैं, तो उनकी ओर से मिलने के लिए इशारा हुआ। परंतु मेरा दिनभर का बंधा हुआ कार्यक्रम रहता था, समय नहीं था, तो प्रथम तो मैं उनके पास गया ही नहीं। इतने में उनकी चिट्ठी मिली, तो मैं गया। मैंने शंकराचार्य को प्रणाम किया। वे कहने लगे, "तुझे मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई। यदि बछडा गाय से मिलने नहीं आता तो गाय को बछडे के पास जाना पडता।" यह सुनते ही मेरी आंखों में आंसू भर आये। आज भी वह वाक्य मुझे याद है। उस वाक्य ने मुझे जीत लिया। फिर उन्होंने पूछा, शंकराचार्य का भाष्य पढा है? मैंने कहा, गीता-भाष्य पढा है, ब्रह्मसूत्र-भाष्य पढ रहा हूं। तो उनको बहुत अच्छा लगा।

एक गांव (तासगांव) में मुझे सात दिन रहना पडा। क्योंकि, वहां पहुंचा तब मेरे पैर को एक फोडा हुआ था, इसलिए मैं चल नहीं सकता था। पहले दिन तो वह सतत चौबीस घंटे दुखता रहा। फिर उसका आपरेशन किया गया। इसलिए सातों दिन मैं व्याख्यान की जगह बैलगाडी में बैठकर जाता था। लेकिन मजा यह कि श्रोता इकट्ठा हो जाते और मेरा व्याख्यान शुरू हो जाता तो फोडा दुखना बंद हो जाता और व्याख्यान समाप्त हो जाता और श्रोता अपने-अपने घर चले जाते तो दुखना फिर शुरू हो जाता। उस सात दिन के मुकाम में मैंने ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य संपूर्ण पढ डाला। दिनभर पढता रहा।

जिस गांव में ठहरता वहां के जवानों से संपर्क करता, उन्हें पदयात्रा का निमंत्रण देता। बडे तडके नहा-धोकर घूमने निकल जाता। साथ में कोई हो तो जोरदार चर्चा चलती। अक्सर जवान लोग साथ रहते ही। कभी अकेला ही रहता तो चिंतन चलता। दस-ग्यारह बजे तक घूमता रहता।

ऐसी मस्ती में वह समय बीता। अपनी चर्चाओं में तथा आचरण के द्वारा सत्याग्रह-आश्रम का प्रचार करने की मैंने कोशिश की। चित्त में एक ही विचार था। सपने आते तब भी एक ही विचार मन में आता कि क्या ईश्वर मुझसे सेवा करा लेगा? यही एक धुन थी कि यह शरीर ईश्वरसेवा में समर्पित हो।

आश्रम में वापस लौटने की मीयाद मैंने बापू को दे रखी थी, ठीक उसी दिन मैं वापस आश्रम में पहुंच गया।*

* *

बापू से नित्य निकटता

बापू का प्रेम और विश्वास मैंने बहुत पाया। मैंने भी अपना सर्वस्व उनके चरणों में समर्पित किया था। बापू थे तब मैं निश्चिंत होकर अपने प्रयोग करता। लेकिन अब सोचता हूं कि कुछ बरस पहले बाहर निकला होता तो बापू की जिंदगी जिस आग में होम हो गयी, उस आग को

---

* एक साल के अपने काम का ब्योरा देनेवाला पत्र विनोबाजी ने बापू को लिखा था, जिसे पढकर बापू के उद्गार थे – 'गोरख ने मछंदर को हरा दिया! भीम है भीम!' और जवाब में लिखा था – "तुम्हारे लिए कौनसे विशेषण का प्रयोग करूं, समझ में नहीं आता। तुम्हारा प्रेम और चारित्र्य मुझे मुग्ध कर रहे हैं।" – सं.

झेलने का मौका तो शायद न आता, लेकिन बापू के पहले स्वयं होम हो जाने का संतोष शायद मुझे मिल जाता। बापू पर गोली चलने के बाद मुझे ऐसा लगा कि मैं पांच-दस वर्ष पहले ही अपने स्थान से बाहर आया होता तो संभव हैं कि कुछ मदद हो जाती। कम से कम 1945 में जेल से छूटने के बाद यदि मैं बापू के व्यापक काम में आ गया होता तो मुझे ऐसा लगता है कि बापू के ऊपर का प्रहार मैं अपने ऊपर ले पाता।

आखिर जो कुछ होता है, सब भगवान की योजना के अनुसार होता है। दुर्भाग्य की बात है कि एक सिरफिरे आदमी ने बापू की हत्या की। इस घटना के दो घंटे बाद पवनार में मुझे खबर मिली। दो-तीन दिन तक तो मेरा चित्त शांत रहा। मेरी ऐसी आदत है कि किसी भी बात का मुझ पर एकदम असर नहीं होता। ऐसा ही तब हुआ। लेकिन दो-तीन दिन के बाद असर होने लगा और चित्त में व्याकुलता भी आयी। उन दिनों रोज प्रार्थना में मुझे बोलना पडता था। सेवाग्राम आश्रम में एक दिन प्रार्थनाभूमि पर जब मैं बोलने लगा तो मेरी आंखों से आंसू बहने लगे। यह देखकर किसी भाई ने पूछा, क्या विनोबा रोये? मैंने कहा, हां भाई, मुझे भी भगवान ने हृदय दिया है। इसवास्ते मैं भगवान का उपकार मानता हूं। लेकिन मेरी आंखों में जो आंसू आये, वे बापू की मृत्यु के लिए नहीं। क्योंकि मैं मानता हूं कि उनकी मृत्यु तो ठीक वैसी ही हुई, जैसी किसी भी महापुरुष की हो सकती है। पर मुझे दुःख इस बात का था कि अपने भाइयों की इस हत्याकारी मनोवृत्ति को मैं रोक नहीं सका।

बापू की मृत्यु के समाचार सुनते ही मेरे मन में ऐसा लगा कि बापू अमर हो गये। और तब से आज की घडी तक मेरी सतत यही भावना रही है। बापू देह में थे तब उनसे मिलने के लिए जाने में कुछ न कुछ समय लगता ही था। लेकिन अब तो उनसे मुलाकात होने में एक पल की भी देर नहीं लगती। आंख बंद की कि मुलाकात हुई समझो। जब बापू जीवित थे तब तो मैंने उनके कामों में अपने को गडा दिया था और कभी-कभार ही मैं उनके साथ बात करता था। लेकिन अब तो नित्य उनसे बात करता हूं और अनुभव करता हूं कि वे मेरे आसपास ही हैं।

तुलसीदासजी ने गाया है – **'जनम जनम मुनि जतनु कराहीं अंत राम कछु आवत नाहीं'**। गांधीजी के मुख से आखिरी शब्द निकला 'हे राम'। कोई भी भक्त इससे अधिक और क्या कर सकता है?

गांधीजी के श्राद्धदिन पर पवनार में धामनदी में उनका अस्थिविसर्जन किया गया। उस दिन धामनदी के किनारे जो दृश्य देखा, वह किसी नये जन्म का ही दृश्य था। उस समय ईशावास्य उपनिषद बोलते हुए मुझे जो अनुभव हुआ, उसका शब्दों में वर्णन करने में मैं असमर्थ हूं। ज्ञानी पुरुषों ने हमें आत्मा की व्यापकता का बोध दिया है। हमारी इस पर श्रद्धा बैठती है सही, लेकिन उस दिन उसका साक्षात्कार हुआ। जब महापुरुष अपनी देह में होते हैं, तब उनकी शक्ति सीमित होती है, और जब वे देहमुक्त हो जाते हैं, तब उनकी शक्ति असीम हो जाती है।

अंत्योदय की साधना

: अप्रैल 1921 से फरवरी 1951 :

साधना की भूमिका

हमारे सभी मित्र किसी न किसी कारण से राजनैतिक कार्य में लगे हुए थे। जिनका रचनात्मक कार्य में खिंचाव था वे भी राजनीति के प्रवाह में थे। व्यापक चिंतन होते हुए भी उस प्रवाह में न होना – इसे एक योग ही कहना होगा और ईश्वर की कृपा से मुझे वह सध गया था। मानो दुनिया में कुछ चल ही नहीं रहा है इतनी तटस्थता से, लेकिन दुनिया का निरीक्षण करते हुए तीस साल मेरा कार्य चलता रहा। कार्य के उस अनुभव और तटस्थ निरीक्षण के कारण कुछ ऐसी बातों का आकलन मुझे हो सका, जो उस प्रवाह में पडे हुए लोगों को नहीं हो सकता था।

सन् 1921 से 1951 तीस वर्ष, अपरिहार्य जेलयात्रा छोडकर, मेरा सारा समय और जीवन ही, विधायक और रचनात्मक कार्य में बीता। उस समय भी मेरा ध्यान रचनात्मक कार्य के मूलभूत विचारों की तरफ अधिक था। शिक्षण, अध्ययन, अध्यापन, ध्यान, चिंतन, निरीक्षण इत्यादि कार्य मैं कर रहा था, फिर भी जिसे राजनैतिक आंदोलन कहते हैं, उसमें मैंने ज्यादा भाग नहीं लिया। कर्तव्यबुद्धि से झंडा सत्याग्रह, व्यक्तिगत सत्याग्रह, 42 का आंदोलन आदि जो अपरिहार्य था, वह किया। बाकी तीस वर्ष एक ही स्थान पर बैठकर समूचे विश्व के साथ अनुसंधान (संपर्क) रखने का और जिसे गीता 'अकर्म' कहती है उस अवस्था में रहकर कर्म किस प्रकार हो सकता है, इसका प्रयोग मेरा वहां हो रहा था।

मैं उस कार्य में इतनी एकाग्रता से लगा था कि उसके लिए मिसाल मैं ही हूं। यानी वह मेरी अपनी एक चीज है। उस एकाग्रता में मैं यह कभी न भूल सका कि समग्रता भी आवश्यक होती है। एकाग्र और समग्र, दोनों मिलकर जीवन है। इसी लिए आश्रम में काम करते हुए, ग्रामसेवा में ध्यान देते हुए, विद्यार्थियों के अध्ययन-कार्य में समय देते हुए तटस्थ बुद्धि से मैं कुल दुनिया में जो हलचलें चलती रहीं, उनका सतत निरीक्षण और अध्ययन करता रहा। मैंने अपने को इन आंदोलनों से निर्लिप्त रखा था। इसलिए जैसे खेल के बाहर रहकर देखनेवाला उस

खेल को, खेल में दाखिल हुए लोगों से ज्यादा अच्छी तरह से देख पाता है, वैसे मुझे अनुभव आया। सेवाग्राम में कोई भी नेता या चिंतन करनेवाला शख्स बापू के पास आता तो बापू उसे मेरे पास भेज देते। यद्यपि मुझे आदत नहीं थी कि मैं किसी पर अपने विचारों का आक्रमण करूं, फिर भी मिलनेवाले के साथ कुछ सवाल-जवाब तो होते ही थे। तो बाहर के प्रवाहों की जानकारी प्राप्त करने का मौका मिल जाता। इस तरह वहां बैठे-बैठे चिंतन-निरीक्षण चलता रहा।

इन तीस वर्षों में जो जीवनयापन किया उसमें मेरी एकांतिक ध्याननिष्ठा थी। इसलिए वह स्थान मैंने कभी छोडा नहीं। मैं बिलकुल स्थाणु बन गया था। परंधाम आश्रम और धामनदी को किसी गोह की तरह चिपककर बैठा था। गांधीजी के निर्वाण के बाद महाराष्ट्र में जो कुछ दुःखदायी घटनाएं हुईं, उस समय सानेगुरुजी ने अत्यंत छटपटाहट से, व्यथित और व्याकुल मन से मुझे पत्र लिखा – "विनोबा, अब तो महाराष्ट्र में आओ। यहां आपकी आवश्यकता है।" उन दिनों उन्होंने 21 दिन के उपवास भी किये थे। उनके जैसे सन्मित्र ने विशेष विपत्ति के समय व्याकुलता के साथ जो लिखा था, उसका मैंने क्या उत्तर दिया? मैंने लिखा कि मेरे पैर में चक्र है। कभी न कभी घूमने-फिरने का सुयोग आनेवाला है। वह अभी आया नहीं है। जब मेरा घूमना प्रारंभ होगा तब मुझे रोकने की शक्ति संसार में किसी की नहीं होगी। हां, भगवान ही मेरे पैर तोडकर मुझे रोक दे तो अलग बात है। उसी प्रकार मैं आज जो बैठा हूं तब मुझे उठाने की शक्ति भी किसी में नहीं है। इतना कठोर, निर्लिप्त बनकर मैं तन्मयता से रचनात्मक कार्य में लगा हुआ था।

समझने की बात है कि हम रचनात्मक काम करना जरूर चाहते हैं, लेकिन रचनात्मक काम तो सरकार भी करना चाहती है और करेगी। उससे लोग सुखी होंगे और अवश्य होने चाहिए; लेकिन मूल्य-परिवर्तन और समाज को सुखी बनाना, दोनों में फर्क है। जब हम शाश्वत सुख की बात करेंगे तब दोनों में फर्क नहीं रहेगा। लेकिन तात्कालिक सुख के बारे में सोचेंगे, तो सुखी बनाना एक बात है और मूल्य-परिवर्तन दूसरी बात है। इसी मूल्य-परिवर्तन को 'शांतिमय क्रांति' कहते हैं। क्रांति 'शांतिमय' ही हो सकती है। किसी भी प्रकार के बदल को क्रांति नहीं कहा जाता। क्रांति में बुनियादी या मूलभूत परिवर्तन होना चाहिए, मूल्य

बदलना चाहिए। मूल्य में जो बदल होता है, वह शांतिमय ही होता है, विचार से ही होता है। यह मेरे विचार की पक्की भूमिका थी और उसी के आधार पर मेरे प्रयोग चल रहे थे।

लेकिन रचनात्मक काम करते हुए भी मेरे सामने एक ही कसौटी थी कि यह व्यापक आत्मदर्शन का अल्प प्रयत्न है। इसलिए मैंने यही प्रयत्न किया कि आसपास के लोगों में अच्छी भावना पैदा हो और उत्तम कार्यकर्ता पैदा हों।

मैं खुद अपने को मजदूर मानता हूं। इसी लिए मैंने अपने जीवन के, जवानी के 32 वर्ष, जो 'बेस्ट इयर्स' कहे जाते हैं, मजदूरी में बिताये। मैंने तरह-तरह के काम किये। जिन कामों को समाज हीन और दीन मानता है, जिनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है, यद्यपि उनकी आवश्यकता बहुत है, ऐसे काम मैंने किये हैं। जैसे भंगी-काम, बुनाई, बढई-काम, खेती आदि। अगर गांधीजी होते, तो मैं बाहर कभी नहीं आता और दुनिया मुझे किसी मजदूरी में मग्न पाती। कर्म से मैं मजदूर हूं, यद्यपि जन्म से ब्राह्मण यानी ब्रह्मनिष्ठ और अपरिग्रही हूं। ब्रह्मनिष्ठा तो मैं छोड नहीं सकता। इसलिए इन सारे कामों के पीछे व्यापक आत्मदर्शन की साधना की ही दृष्टि थी।

(सन् 1921 में) जमनालालजी बजाज के आग्रह पर बापू ने सत्याग्रह-आश्रम की एक शाखा वर्धा में खोलने का तय किया और उसके संचालन के लिए मुझे वहां जाने का आदेश दिया। (8 अप्रैल को) अपने चार विद्यार्थियों और एक साथी के साथ मैं वर्धा पहुंच गया और मेरा कार्य शुरू हो गया।

* *

कताई-उपासना

गांधीजी के पास आने के बाद मैंने जो अनेक प्रकार के काम किये, उनमें एक था बुनाई का काम। बापू की प्रेरणा से बुनाई सीखनेवाले सबसे पहले लोगों में मैं एक था। उन दिनों मैं निवार बुनने का काम करता था। दिनभर में 25 गज निवार बुनने से जीवन-निर्वाह हो सकेगा, ऐसा सोचकर जोरों से निवार बुनने का काम चलाया था। सतत परिश्रम के बावजूद भी आठ घंटों में 25 गज निवार नहीं बुनी जा सकी। आखिर

बहुत ज्यादा जोर लगाया, एक दिन रात को 9.30 बजे तक बुना, तब दस घंटों में 25 गज निवार बुनी गयी।

उन दिनों (1916) सारा सूत मिल का होता था। उसके बाद ध्यान में आया कि मिल के सूत से हिंदुस्तान को खास कोई लाभ नहीं होगा। इसी से धीरे-धीरे चरखे की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। हम लोग चरखे पर कातने लगे। फिर धुनने की प्रक्रिया शुरू हुई। उसके बाद तुनाई का काम सूझा। इस सबका संशोधन शुरू किया। घंटों काता, घंटों बुना। कताई की हर प्रक्रिया की तरफ ध्यान दिया, प्रयोग किये। फिर तो हिसाब चला कि कताई की मजदूरी क्या होनी चाहिए।

जब कताई की मजदूरी निर्धारित करने का प्रश्न उठा, उन दिनों मैंने रोज चार-चार गुंडियां कातने का महायज्ञ शुरू किया। चार गुंडियां पूरी करने में साढे आठ से नौ घंटे लग जाते थे। अलग-अलग तरीके से कातने का अभ्यास करता था। कुछ समय तक – दो-ढाई घंटों तक – खडे होकर कातना, फिर कुछ समय बैठकर कातना, कुछ समय बायें हाथ से, कुछ समय दायें हाथ से, ऐसे कातने के चार प्रकार आजमाये थे। पांचवां भी एक प्रकार हो सकता था, बेंच पर बैठकर पैर नीचे छोडकर कातने का। कताई के समय कुछ देर तो मैं लोगों को पढाता, बाकी समय मौन। तब नया धागा निकालते समय '**तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्**' और सूत तकुए पर भरते समय '**ॐ भूर् भुवः स्वः**' बोलता था। इस सबके कारण रोज चार गुंडियां कातना हलके फूल जैसी बात हो गयी, श्रम महसूस नहीं होता था।

उस समय रात में मैं कन्याश्रम में और दिन में नालवाडी में रहता था। शाम को छः बजे कन्याश्रम में चला जाता था। वहां बापू आदि के साथ बातें होतीं। फिर प्रार्थना, कताई के बाद सो जाता। प्रातःकालीन प्रार्थना के बाद उपनिषद का वर्ग लेता। उसके बाद छः बजे नालवाडी आ जाता था। मेरा दिनक्रम साधारणतया इस प्रकार था – कताई में करीबन नौ घंटे जाते थे। कातते समय दो घंटे पढाने का काम करता। एकबार दिनभर का हिसाब देते समय मैंने 26 घंटे का हिसाब दिया था; क्योंकि कातते समय पढाने के दो घंटे अतिरिक्त मिल गये। चार-पांच घंटे पत्र-लेखन आदि अन्य कामों में देने की कोशिश रहती और दस घंटे देहकृत्य के पीछे जाते (जिसमें निद्रा भी शामिल है)।

सितंबर 1935 से मैंने एक नया उपक्रम शुरू किया। दिनभर में जितनी आय होगी, उतने में ही अपना निर्वाह करने का तय किया। ऐसे, वह कोई नयी बात नहीं थी, पर प्रत्यक्ष में नया था। कताई के कार्यक्रम में वह गृहीत ही था कि संभवतः अपना भोजन-खर्च अपनी मजदूरी पर निभा लें। मजदूरी अर्थात् मैंने तय की हुई। खाद्यवस्तुओं के भावों की भी निश्चित कल्पना कर ली थी। यानी तय किया था कि उनमें बाजार के अनुसार फर्क नहीं किया जायेगा, एक निश्चित भाव माना जायेगा। सामान्यतया छः रुपयों में (महीने का) भोजन हो जाये, ऐसी योजना थी। आहार में ये चीजें थीं – (1) दूध 50 तोला, (2) सब्जी 30 तोला, (3) गेहूं 15 से 20 तोला, (4) तेल 4 तोला, (5) शहद या गुड या फल। एक साल तक प्रयोग किया। एक दिन भी उसको खंडित नहीं होने दिया।

ऐसे अपनी मजदूरी पर गुजारा करने का माद्दा तो लगभग शुरू से (1922-23 से) ही रहा था। तब दोपहर के चार बजे तक काम होने के बाद हिसाब लगाया जाता था कि कितना काम हुआ, कितनी मजदूरी प्राप्त हुई। अगर यह हालत हो कि शाम के छः बजे तक (यानी 8 घंटों में) पूरी मजदूरी प्राप्त हो जायेगी तो शाम का भोजन बनाया जाता था, नहीं तो सवाल किया जाता था कि पूरी मजदूरी का काम हुआ नहीं है तो क्या करना है? शाम का भोजन छोड देना है या ज्यादा काम करके पूरी मजदूरी प्राप्त करनी है? जवान लोग अक्सर पूरा भोजन चाहते तो ज्यादा काम किया जाता। कभी जितनी मजदूरी कम होती उतनी चीजें आहार से निकाल दी जातीं। ऐसे बिलकुल उत्साह में काम चल रहा था। मेरे पास जो विद्यार्थी थे, वे बिलकुल जवान लडके थे, पर पूरी ताकत और उत्साह के साथ मजदूर के जीवन में मेरे साथ लगे हुए थे।

पवनार में मैं मजदूरों के साथ बैठता था, बोलता था। मैंने उनको सुझाया कि तुम लोग अपनी सब मजदूरी इकट्ठा कर लो और उसका समान बंटवारा करो। और आश्चर्य की बात, उन सब लोगों ने 'हां' कहा। उन्होंने कहा कि हमें कोई हरज नहीं, कर सकते हैं। लेकिन उस प्रस्ताव को प्रत्यक्ष में, अमल में कैसे लाया जाता? खुदको अलग रखकर? जब मैं उनमें शरीक हो जाऊंगा, तब वे और मैं मिलकर उसे अमल में ला सकते थे। मैं भी मजदूर बनकर रहने के प्रयोग तो करता ही

था। और उस समय की मजदूरी के भावों के कारण तो मेरे ही प्राण छूट चुके थे। जब कताई के भावों में वृद्धि हुई, तब वे वापस देह में आकर बैठे। नौ-दस घंटे कातकर भी ज्यादा से ज्यादा चार आने मजदूरी मिलती, और मेरा खर्च तो कम से कम छः आने, कैसे मैं मजदूरों से एकरूप हो पाऊंगा? श्रम को पूर्ण मजदूरी देना ही मजदूर की असली प्रतिष्ठा बढाना है। मैंने साथियों से कहा, आपके सैकडों आंदोलन एक ओर रखकर इस असली राजनीति की ओर ध्यान देना होगा।

रोज नौ घंटों में 4 गुंडियां कातने के बाद भी चरखा संघ की मजदूरी के हिसाब से पांच रुपये मासिक मजदूरी होती थी। मेरे विचार से श्रम के हिसाब से मजदूरी चार आने रोज अवश्य होनी चाहिए थी। बापू के विचार से आठ आने। लेकिन इतनी मजदूरी देकर खादी खरीदना हमारे श्रीमानों को पुसाता नहीं था। इसका क्या इलाज? यही कि मेरे जैसों ने ऐसी मजदूरी पर जीवन-निर्वाह करना। और वह मैं प्रयोग के तौर पर कर ही रहा था।

एक दिन मेरे इस प्रयोग की बात बापू को मालूम हुई। सेवाग्राम में बैठकर उनका ध्यान चारों ओर रहता ही था। फिर जब उनसे मिलना हुआ तब उन्होंने उस बारे में पूछताछ की और पूछा कि तुम इतना कातते हो तो चरखा संघ की मजदूरी के हिसाब से तुमको कितना मिलता है? मैंने कहा, दो-सवा दो आने रोज। फिर उन्होंने पूछा, तुम्हारा रोज का खर्च कितना? मैंने कहा, आठ आने। उस पर बापू ने कहा, "इसका अर्थ है कि पूरा दिन कातनेवाला अच्छा कारीगर भी इस पर अपनी आजीविका नहीं चला सकता।" उनके इन शब्दों में उनकी व्यथा प्रकट हो रही थी। आखिर बापू के प्रयत्नों से कातनेवालों को पर्याप्त मजदूरी देने का सिद्धांत स्वीकार हुआ, यद्यपि आज भी हम उस सिद्धांत से बहुत दूर हैं।

पूर्ण मजदूरी के सिद्धांत की चर्चा दो-तीन साल चली। प्रथम महाराष्ट्र चरखा संघ ने उस दिशा में एक कदम उठाया। फिर यह देखकर कि उसका कोई अनिष्ट परिणाम नहीं निकला है, उन्होंने कुछ ज्यादा मुक्त मन से दूसरा कदम उठाया। यह नयी भाववृद्धि पुरानी भाववृद्धि से लगभग दुगुनी थी। सर्वसाधारण कातनेवाले को आठ घंटे में चार आने और उत्तम कातनेवाले को उतने ही समय में छः आने मिलने लगे। कोई एकाध सुदुर्लभ पुरुष, एक ही दिन के लिए क्यों न हो, जोर लगाकर

आठ आने प्राप्त कर सकता। गांधीजी की न्यूनतम मजदूरी थी आठ आने। उसको क्वचित् किसी का हस्तस्पर्श हो सकता था। यद्यपि महाराष्ट्र चरखा संघ ने यह नीति अपनायी थी, अन्य प्रदेशों के लोगों को वह अभी अव्यवहार्य ही लगती थी।

चरखे पर नौ घंटों में चार गुंडी कातने के प्रयोग के बाद तकली पर वैसा प्रयोग करने का मेरा इरादा था। लेकिन मेरी तकली की गति अल्प होने के कारण चरखे के जैसा तकली पर उत्तम परिणाम निकालने की मेरी ताकत नहीं थी। इसलिए दूसरे किसी सामर्थ्यवान व्यक्ति को ऐसा प्रयोग करना चाहिए। ऐसे प्रयोगों से ही खादी की कल्पना को तीव्र वेग देना संभव है। मैंने पूरे एक साल तकली पर बायें हाथ से कातने का प्रयोग किया। मेरे दायें और बायें हाथ की गति में नौ तार का अंतर रहा। इस अभ्यास का उद्देश्य यह था कि दोनों हाथ मिलकर आठ घंटों में तकली पर पूरा काता जा सके। सत्यव्रतन् ने तो यह दिखा ही दिया कि दायां-बायां, दोनों हाथ इस्तेमाल करके चार घंटों में 20 नंबर की 3 गुंडियां काती जा सकती हैं।

आगे (1934 के आसपास) रोज दोपहर बारह बजे सामूहिक तकली-कताई होने लगी। उसको मैंने उपासना माना था और कहा था कि मैं किसी पर अपने विचारों का आक्रमण नहीं करना चाहता, पर मेरी अपेक्षा है कि भोजन में जो उपस्थिति होती है उससे ज्यादा उपस्थिति तकली-उपासना में हो। वह नहीं होती, उसका एक कारण यह है कि तकली-उपासना का तत्त्व हमारे ध्यान में नहीं आता। उपासना व्यवहार और ज्ञान-आत्मज्ञान के बीच खडी है। दोनों के बीच पुल का काम देती है। हम, जो व्यवहार में गिरफ्तार हैं, उन्हें परमार्थ में ले जाना उपासना का काम है। उपासना व्यवहार के फायदे के लिए शुरू होती है और फायदा बताते-बताते हमें शांति, समाधान, आत्मज्ञान के किनारे पर ले जाती है। जिसने यह बात समझ ली है कि तकली-चरखे का उपयोग हर *भारतवासी करेगा तो भारत के बहुत सारे दुःखों का इलाज हो सकता है,* और इस भावना से वह कांतना शुरू करेगा, तो उस कताई से उसे शांति मिलेगी। जिस चीज का हम उपासना के तौर पर स्वीकार करते हैं उससे बाह्य और आंतरिक, दोनों फायदे मिलते हैं और ऐसा अनुभव तकली के बारे में है।

तकली के विषय में काफी तपस्या की गयी। उन दिनों जेल में तकली रखने की इजाजत नहीं थी। जेल में तकली के लिए दांडेकर ने उपवास किये तब उनको रखने की इजाजत मिली। काकासाहब को तो ग्यारह दिन उपवास करना पडा। ऐसे ही अनेक भाई-बहनों ने तपस्या की है। तकली के लिए यह जो त्याग किया गया उसकी कहानी राबीन्सन क्रूसो की कहानी के समान रसमय है। पुराणों की रसमय कथाओं के समान यह कथा लिखी जा सकती है।

मेरा निश्चित मत है कि उपासना के बिना राष्ट्र में एकता नहीं होगी। एक राष्ट्र बनने के लिए सहविवाह, सहभोजन या सहभाषा काम नहीं देती, लेकिन सहभावना काम देती है। एक भावना से राष्ट्र बनता है। प्रार्थना और तकली के सिवा ऐसा कौनसा स्थान है, जहां पर हम समान होते हैं? बाकी स्थानों पर तो शिक्षक-विद्यार्थी, गरीब-अमीर, रोगी-नीरोग – अनेक प्रकार के भेद पडे रहते हैं। मैं प्रार्थना और तकली (या चरखा), दोनों को एक ही शब्द **'उपासना'** लगाता हूं। प्रार्थना वाङ्मयी उपासना है और तकली कर्ममयी उपासना है।*

* *

'दो आने आहार' योजना

सन् 1924 की बात है। मैंने अर्थशास्त्र का अध्ययन शुरू किया था। हमारी भाषा में ज्यादा किताबें नहीं थीं इसलिए मैंने तरह-तरह की अंग्रेजी किताबें पढीं। और उस अध्ययन की प्रेरणा के लिए उन दिनों मैंने रोज का गुजारा दो आने में किया; क्योंकि उस समय हिंदुस्तान में प्रतिव्यक्ति (निम्नतम) उत्पन्न डेढ-दो आने का था। उस वक्त मैं तीन दफा खाता था। सात पैसे का खाना और एक पैसे की लकडी। यही मेरा हिसाब था। सात पैसे में ज्वार की रोटी, मूंगफली, गुड, दाल, मुट्ठीभर सब्जी, थोडा नमक-इमली, इतनी चीजें आती थीं। उन्हीं दिनों बापू के उपवास के कारण मुझे दिल्ली जाना पडा। वहां ज्वार नहीं मिलती थी, गेहूं ही मिलता था, जो महंगा था, इसलिए मुझे वहां मूंगफली छोडनी

---

* 1936 में एक भाषण में बापू ने कहा था – ''विनोबा की श्रद्धा के सौंवा हिस्सा भी हम खादी के मंत्र की साधना करेंगे, तो मुझे संतोष होगा।'' दूसरी एक जगह कहा है – ''तकली के लिए हमें विनोबा मिले हैं।'' – सं.

पडी। मेरा यह सिलसिला सालभर चला।

कोई भी पूछ सकता है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का इस तपस्या के साथ क्या संबंध? मेरा मानना है कि अध्ययन तभी हजम होता है, जब हम अपने को उसके अनुकूल कर लेते हैं। अपनी इंद्रियों को, प्राणों को कस लेते हैं। मैंने एक दफा दो साल तक बहुत एकाग्रता से वेदों का अध्ययन किया था। उस वक्त भी मैं दूधभात पर ही रहता था, तीसरी चीज लेता नहीं था। इस तरह विचारों के साथ जीवन का ताल्लुक जोडने की मुझे आदत है। उसे मैं बहुत जरूरी समझता हूं। इसलिए अर्थशास्त्र के अध्ययन के साथ मैंने अपना जीवन भी जोड दिया। मुझे उस अध्ययन का बहुत लाभ हुआ और निकम्मा अर्थशास्त्र ध्यान में रहा नहीं। टालस्टाय, रस्किन वगैरह के खास अर्थशास्त्र का अच्छा अध्ययन हुआ।

* *

बापू का सिपाही

बापू की तरफ देखकर उनके सुझाये कार्यक्रमों में यथाशक्ति शरीक होने की मेरी कोशिश तो रहती ही। 1921 में उन्होंने कांग्रेस के एक करोड सदस्य बनाकर एक करोड का तिलकफंड खडा करने का कार्यक्रम दिया था। उस समय मैं वर्धा में ही था। वर्धा में घूमकर इस काम में योगदान देने लगा। घर-घर जाता था, कांग्रेस के सिद्धांत समझाता था, और जिसे वह जंच जाये उसको सदस्य बना लेता था। रोज पांच-पांच, छः-छः घंटे काम करने पर भी दस-पांच सदस्य ही बना पाता था और दूसरे लोग उतने ही समय में डेढ-डेढ दो-दो सौ सदस्य बना लेते। इसका क्या कारण होगा, कुछ समझ नहीं पा रहा था! तो मैंने उन लोगों से कहा कि मैं चार-पांच दिन आप लोगों के साथ चलता हूं और किस प्रकार काम करना यह सीख लेता हूं। तब वे लोग हाथ जोडकर कहने लगे, कृपया आप हमारे साथ न आयें, आपका ठीक ही चल रहा है, हम तो किसी जीन या ऐसी ही जगह जाते हैं, जहां मालिक से 50 रुपये लेकर 200 मजदूरों के नाम सदस्य के नाते लिख लेते हैं। बाद में मैंने वह काम ही छोड दिया।

उस जमाने में मैं खुद भी कांग्रेस का सदस्य था। 1925 के बाद मैं उससे मुक्त हुआ। बापू 1934 में मुक्त हुए। उस जमाने में मित्रों ने

मुझसे पूछे बगैर मेरा नाम नागपुर कांग्रेस कमिटी में रखा। उसकी एक सभा के लिए मैं वर्धा से नागपुर जाने के लिए दोपहर बारह बजे निकला। दोपहर तीन बजे सभा थी। ट्रेन में पढने के लिए मैंने ऋग्वेद की किताब साथ ली थी। तीन बजे सभा प्रारंभ हुई। सब सदस्यों को कांग्रेस के संविधान की एक-एक किताब दी गयी थी। सभा के आरंभ में ही एक भाई ने आक्षेप उठाया कि 'इस सभा के लिए पूरी नोटिस नहीं मिली थी, इसलिए यह कानूनी सभा नहीं है। सभा के लिए कम से कम अमुक दिनों की नोटिस मिलनी चाहिए थी। देखो संविधान का पन्ना चार, नियम पांच।' फिर हम सबने वह पन्ना खोला। दूसरे भाई ने कहा, 'नियम तो ठीक है, परंतु विशेष परिस्थिति में जल्दी सभा बुलाने का हक है। देखो पन्ना अमुक, नियम अमुक।' फिर चर्चा चली, जिसमें एक के बाद एक नियम का आधार लिया गया। मैं भी किताब खोलकर नियम पढता गया। मैं सोचने लगा कि सभा गैरकानूनी साबित हो जाये तो हम सब मूरख साबित होंगे। मेरा तो उन नियमों का कुछ अध्ययन नहीं था। आखिर निर्णय हुआ कि सभा गैरकानूनी नहीं है। चर्चा शुरू हुई। इतने में भोजन का वक्त हुआ इसलिए सभा स्थगित हुई। रात में फिर से सभा हुई, जिसमें मैं नहीं गया। दूसरे दिन वर्धा पहुंचने पर मैंने सीधा इस कमिटी की सदस्यता और कांग्रेस की प्राथमिक सदस्यता का भी इस्तीफा दे दिया। क्योंकि मैंने देखा कि सभाओं में एक-दूसरे के सामने बैठनेवाले व्यक्ति मनुष्यता को नहीं, बल्कि कानून को लेकर बैठते हैं। मुझे वह सारा शुष्क, नीरस मालूम हुआ।

सन् 1925 में बापू ने मुझे वैक्कम (केरल) जाने को कहा। वहां मंदिर-प्रवेश के लिए सत्याग्रह चल रहा था। हरिजनों के लिए मंदिर-प्रवेश नहीं था। इतना ही नहीं मंदिर की तरफ जानेवाले रास्ते पर भी उन्हें नहीं जाने देते थे। इसलिए सत्याग्रह शुरू हुआ, जो लगातार कई दिन चला। परिणाम होता-सा दिखायी नहीं दिया। उन दिनों मैं वर्धा के आश्रम में था और बापू साबरमती में थे। उन्होंने मुझे आदेश दिया कि यह सत्याग्रह किस तरह चल रहा है, यह जरा देखो। मुझसे दो अपेक्षाएं थीं। एक तो विद्वान सनातनी लोगों से चर्चाएं कर कुछ हो सके तो देखें और सत्याग्रह के तरीके में कुछ सुझाव पेश करना हो तो करें। उस वक्त मुझे ज्ञान तो था ही नहीं, अनुभव भी नहीं था। फिर भी बापू की एक श्रद्धा

थी। मैंने भी श्रद्धा रखकर वहां जाने की हिम्मत की। जगह-जगह पंडितों के साथ काफी चर्चा हुई। वे तो संस्कृत में ही चर्चा करना पसंद करते थे। इसलिए मैं भी संस्कृत में बोलने की कोशिश करता था। परंतु मैं उनके हृदय में परिवर्तन लाने में समर्थ न हुआ। मुख्य सवाल था, सत्याग्रह के तरीके में कुछ सुझाव पेश करने का। शुद्ध दृष्टि से सत्याग्रह चलता है तो उसका असर होता ही है। उस समय मैंने कुछ सुझाव पेश किये और बापू से भी उस बारे में कहा। उसके बाद बापू स्वयं वहां गये और आगे वह मसला हल हो गया।

वे (बापू) हुक्म दें और मैं उनके हुक्म को उठाऊं, यही आज तक मेरा जीवन रहा है। देशसेवा की वेदी पर एकाध हिंसक पराक्रम से अपनी आहुति चढाकर प्रतिष्ठा पाने की मेरी पुरानी तमन्ना थी, बापू ने मेरे मन से उस भूत को भगा दिया। आश्रम में मैं नित्य अपने जीवन में विकास पाता गया। हर साल महाव्रतों में से एकाध मुझे आत्मसात् होता जाता था।*

* *

ग्रामोपासना

सन् 1932 से दो-तीन साल तक हम लोग ग्रामसेवा के निमित्त गांव-गांव घूमे। नालवाडी में रहकर यह काम करते हुए ध्यान में आया कि आसपास के गांवों की सेवा के लिए समग्र सेवा की दृष्टि से कुछ ठोस योजना बनानी होगी। इसी चिंतन में से 1934 में ग्राम-सेवा-मंडल की स्थापना हुई और पूरे वर्धा तहसील के लिए ग्रामसेवा की योजना बनायी गयी। कुछ गांवों को चुनकर वहां अपनी कल्पना के अनुसार खादी, हरिजनसेवा आदि लोकसेवा के काम शुरू किये।

संस्थाओं के बारे में मुझे खास आसक्ति नहीं। आश्रमों में मैं रहा। साबरमती में रहा। वर्धा का आश्रम मैंने चलाया। आश्रमों ने मेरा जीवन गढा। आश्रम मुझे आत्मसात् हुआ। ये सब बातें तो हैं ही, तथापि इन आश्रमों की स्थापना की जिम्मेवारी मुझ पर नहीं। वह उधर गांधीजी की और इधर जमनालालजी की थी।

---

* 1917 में बापू ने दीनबंधु एण्ड्रयूज से विनोबा के बारे में कहा था – "वे आश्रम के दुर्लभ रत्नों में एक हैं। वे यहां लेने नहीं, देने आये हैं..." – सं.

ग्राम-सेवा-मंडल के 25 साल पूरे हुए (1959 में), उस अवसर पर मैंने उनको लिखा था कि संस्थाओं के बारे में ऐसी अनासक्त वृत्ति होते हुए भी अब तक तीन संस्थाओं की स्थापना मैंने की। बडौदा का विद्यार्थी-मंडल 1911 या 12 में, नालवाडी में ग्राम-सेवा-मंडल 1934 में और 1959 में ब्रह्मविद्या-मंदिर। एक बचपन में, दूसरी युवावस्था में और तीसरी वृद्धावस्था में।

पहली संस्था हमारे विद्यार्थी-जीवन के लिए थी। उसे वर्षों तक चलाने की कल्पना नहीं थी। हमारे विद्याध्ययन के काल में पांच-छः सालों तक उसे हमने चलाया। वह सौ फीसदी सार्थक (सफल) हुई। उसी में से मोघेजी, गोपालराव (काले), (रघुनाथ) धोत्रे, माधवराव देशपांडे, द्वारकानाथजी हरकरे आदि मेरे साथी मेरे साथ सार्वजनिक काम में लग गये और अंत तक कुछ न कुछ काम करते ही रहे। मोघेजी तो ब्रह्मविद्या-मंदिर में भी साथ रहे।

दूसरी संस्था है ग्राम-सेवा-मंडल। वास्तव में इसकी स्थापना का बीज 1912 में (विद्यार्थी-मंडल) में ही बोया गया। हमारी इस संस्था के बारे में यह नहीं कह सकते कि वह सौ फीसदी सफल हुई। तथापि उसके द्वारा भी अनेक प्रकार की सेवा हुई है और कई अच्छे व्यक्ति मिले हैं। मुझे इससे बहुत समाधान है।

भूदान आंदोलन के समय (1957 में) मैंने ग्राम-सेवा-मंडल को सुझाया कि यह संस्था अहिंसक तथा ग्रामोद्योगप्रधान शुरू से ही थी, लेकिन भूदानमूलक नहीं थी। अब समय आया है कि वह भूदानमूलक बने और जिले में पक्षरहित समाजरचना कायम करने की कोशिश करे। इस दृष्टि से, जो साथी वर्धा जिले में भूदान के काम में लगे हुए हैं उन्हें भी संस्था में शामिल कर लेना चाहिए और ग्रामदान-ग्रामराज की जो क्रांति लानी है, उसका केंद्र इस संस्था को बनायें। वहां जो उत्पादन का काम चलता है और स्वावलंबन का जो माद्दा वहां है, वह कायम रहे। और यह सब कायम रखते हुए जो व्यापक काम बन सके, वह किया जाये। यानी कार्य का एक अंश स्थायी हो, जो स्वावलंबी हो और दूसरा व्यापक हो, जिसका आधार संपत्तिदान भी हो सकता है।

जीवन के बारे में मेरी और एक दृष्टि है। एक शख्स जीवनभर एक ही काम करे, यह ठीक नहीं। कार्य को पूरा रूप आने के बाद, 20/25

वर्ष सेवा करने के बाद धीरे-धीरे पुराने लोगों को वानप्रस्थ बनना चाहिए। मेरे सामने सदा यही दृष्टि रहती है। परंधाम में भी पुराने लोग कम ही रहे। वहां की नदी के नित्य नये रूप की तरह परंधाम का भी रूप नित्य नया बनता गया है। मैंने कहा था कि ग्राम-सेवा-मंडल का भी वैसा बने।

* *

खंडित मूर्तियों की उपासना

ग्रामसेवा के निमित्त से गांव-गांव घूमते समय गांवों की आवश्यकताओं का निरीक्षण और उन पर उपाय-योजना के विषय में नियमितरूप से चर्चा चलती रही। इसकी कल्पना ही न थी कि इधर कुष्ठरोग का कितना भयानक प्रसार है। परंतु इस निरीक्षण में वह भलीभांति ध्यान में आ गया। फिर क्या किया जाये, यह प्रश्न उठा। तय हुआ कि इसे बिना हाथ में लिये कोई चारा ही नहीं। उस समय गांधीजी ने रचनात्मक कार्यक्रमों में कुष्ठरोगी-सेवा को शामिल नहीं किया था। फिर भी समग्र सेवा की कल्पना मेरी आंखों के सामने थी, तो इस सेवाक्षेत्र की उपेक्षा करना संभव नहीं था।

हमारे मित्र मनोहरजी (दिवाण) को इस कार्य को करने की प्रेरणा हुई। उनके मन में उसके लिए तडपन थी। वे तो हमारे आश्रम में ही थे। कताई, बुनाई, रसोई, संडास-सफाई आदि आश्रम के कामों में लगे हुए थे। बाद में कुछ वर्ष ग्रामसेवा का भी काम किया। कुष्ठसेवा करने की अपनी इच्छा उन्होंने मेरे पास व्यक्त की, तब मैंने उनसे कहा कि इसको जरूर करना चाहिए। मनोहरजी की मां भी उनके पास रहती थीं। उनको यह पसंद नहीं था कि उनका बेटा इस काम में जीवन समर्पित करे। वे मेरे पास आयीं। मैंने उनसे पूछा, मान लीजिए, आपको कुष्ठरोग हो जाये तो क्या आप कहेंगी कि मनोहरजी आपकी सेवा न करें? उन्होंने एक क्षण सोचा और तुरंत कहा, मेरा उसको आशीर्वाद है।

सन् 1936 में दत्तपुर का कुष्ठधाम शुरू हुआ। मनोहरजी वहां बैठ गये। उस समय इन रोगियों का मुझे प्रथम परिचय हुआ। उसके दो वर्ष बाद मैं पवनार आया। वहां जमीन खोदते समय कई मूर्तियां मिलीं। वे सारी मूर्तियां 1300-1400 वर्ष पुरानी थीं और उनके चेहरे बिलकुल इन रोगियों से मिलते-जुलते थे। 1400 वर्ष मिट्टी में पडे रहने के कारण

किसी की नाक घिस गयी है तो किसी के हाथ को कुछ हो गया है। जब भी मैं कुष्ठरोगियों को देखता हूं तब मुझे इन मूर्तियों का स्मरण होता है। मालूम होता है कि ये भगवान की ही मूर्तियां हैं। और आज यदि कोई नयी, सुंदर मूर्तियां बनवाये तो उनके बारे में इतनी भक्ति नहीं होगी, जितनी जमीन में से निकली इन मूर्तियों के बारे में है। मेरे मन में इस सेवा के प्रति अत्यंत आदर है। इसलिए कुष्ठरोगियों के दर्शन में मुझे परंधाम की इन मूर्तियों के दर्शन होते हैं।

एकबार मैं कुष्ठधाम गया और कहा कि मैं इन लोगों के साथ कुछ काम करूंगा। उन लोगों के साथ खेत में कुछ समय बुवाई आदि काम किया। उस समय मुझे जो आनंद मिला, उसका वर्णन शब्दों में करना संभव नहीं।

जब ब्रह्मविद्या-मंदिर की स्थापना हुई तब मैंने मनोहरजी को सुझाया की आपने 25 साल सेवा कर ली, अब आप सेवा से मुक्त हो जायें और ब्रह्मविद्या-मंदिर में 'केवल रहें'। उन्होंने उसको मान लिया। परंतु बारह साल के बाद मैंने उन्हें फिर से कुष्ठधाम जाने का अनुरोध किया और उसे भी उन्होंने मान्य कर लिया। मुझे लगा कि कुष्ठरोगियों को ब्रह्मविद्या सिखाने का काम हमको करना चाहिए। किसी मनुष्य को चौबीसों घंटे उन्हीं में रहकर उन्हें आध्यात्मिक शिक्षा देनी चाहिए। प्रार्थना, संतवचन, ऋग्वेद-उपनिषद के वचन, गीता के श्लोक, कुर्आन की आयतें, ईसा-बुद्ध-महावीर आदि के वचन, इत्यादि सिखायें। आसन, ध्यान, प्राणायाम भी सिखायें। फिर उन्हीं में से कोई उत्तम सेवक भी बन सकता है। वह आध्यात्मिक प्रेरणा से जगह-जगह जाकर काम करेगा। इसलिए उनमें ब्रह्मविद्या का प्रवेश होना चाहिए। उन्हें मालूम हो जाये कि रोग देह को हुआ है और आत्मा देह से अलग है। '**उद्धरेत् आत्मना आत्मानम्**'। इसके बिना हमारी सेवा से उन्हें लाभ होगा नहीं।

* *

चालीस वर्ष की समाप्ति पर

1935 में मेरी उम्र के 40 साल पूर्ण हुए। सामान्यतः जन्मदिन का स्मरण मुझे नहीं रहता। परंतु अनेक कारणवश तब तीव्र आत्ममंथन हुआ। ऐसे मेरा आत्ममंथन और परीक्षण सतत चलता ही रहता है।

लेकिन वह सब अंदर ही अंदर होता है, बाहर खास दिखायी नहीं देता। लेकिन इस समय का यह चिंतन बहुत ही तीव्र स्वरूप का रहा। उपमा ही देनी हो तो मेरे जीवन के घर छोडने के पहले के काल की दे सकता हूं। उस चिंतन के परिणामस्वरूप घर छूटा, अब इसके परिणामस्वरूप देह छूट जाये, ऐसा लग रहा था। 'देह छूटे' का स्थूल अर्थ लेने की जरूरत नहीं। सूक्ष्म अर्थ ही असली अर्थ है।

अनेक संस्थाओं और व्यक्तियों की जिम्मेवारी मेरी मानी हुई थी। ऐसे व्यक्ति को अपनी शक्ति देख लेने का प्रसंग बीच-बीच में आता है, या बार-बार भी आये तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं। वैसे प्रसंग में उस बार सब भूत और वर्तमान को जांच लिया। इसलिए 40 वर्ष समाप्त होने का भान हुआ। काल के अनंत परिमाण में एक तुच्छ मनुष्य के जीवन के 40 वर्ष गणितशास्त्र की व्याख्या के अनुसार तो शून्य ही माने जायेंगे। फिर भी उस व्यक्ति की सीमित और सापेक्ष दृष्टि में तो 40 वर्ष भी विचारयोग्य काल मानना चाहिए।

उम्र के साढे बीस वर्ष घर में गये। उतने ही वर्ष बाहर आये हो रहे थे। अब उसके आगे के वर्ष कहां बितायें? भूतकाल के संबंध में मनुष्य लंगडा होता है, भविष्यकाल के संबंध में वह अंधा होता है। इसलिए उन दोनों को अलग रखकर वर्तमान के बारे में ही सोचा जा सकता था।

मेरे जीवन के दो टुकडे समाप्त हो रहे थे। आगे का बचा हुआ टुकडा किस प्रकार बीते, इस विषय में पूरा मनोनिश्चय हो ही गया था। मेरे आसपास के लोगों की सेवा करने में – और यह वर्तुल दिन-ब-दिन बढनेवाला है – देह के चिथडे हो जायें, ऐसी वासना जोर कर रही थी। वासना दुःख का कारण होती है, मैं जानता हूं। लेकिन दुःख का स्वीकार करके भी उस वासना का जोर करना मधुर लगता था। चिथडे शब्द मैंने दो अर्थों से इस्तेमाल किया। एक अर्थ तो स्पष्ट ही है। और दूसरा मेरे मन में था कि जैसे चिथडे का किसी को भय नहीं लगता, जब चाहे इस्तेमाल किया, नहीं तो एक ओर कोने में रख दिया, वैसा हो सके तो कैसे आनंद की बात होगी! मेरी महत्त्वाकांक्षा – दरअसल मुझे कहना है, मेरी अल्पत्वाकांक्षा यह थी कि अब सर्वथा पराधीन होकर रहूं। मेरे उस समय के मंथन का इतिहास या शब्दचित्र पेश नहीं किया जा सकता। परंतु परीक्षणों से एक बात मेरे ध्यान में आयी कि लोगों को मेरा भय

लगता है और उन्हें भास होता है कि विशिष्ट व्रतों या सिद्धांतों के विषय में मेरी जो धाक है, वह उस भय का कारण है; परंतु यह सही नहीं है। उसका स्पष्ट और सही कारण था अहंकार और खून में भिनी हुई हिंसकता! इसलिए उसके आगे पराधीन होने की आकांक्षा थी।

लेकिन पराधीन होना हो, तो किसी ने जिम्मेवारी उठाने को तैयार तो होना चाहिए! एक बार मैंने जमनालालजी से पूछा था कि मुझे आपके वहां क्लर्क की नौकरी दीजिए। लेकिन मेरे ऐसे वचनों के पीछे की भावना की सत्यता को मानने को कोई तैयार ही नहीं होता था!

यह मेरा उस समय का मानसशास्त्र था, मंथन था। आधी-आधी रातें इसी चिंतन में बीततीं कि मैं धूल हूं, धूल हूं, धूल हूं। 1916 में **'अहं ब्रह्मास्मि'** चलता था, इस समय कुछ अलग ही चल रहा था। हो सकता है, दोनों एक ही हो। कृष्णाष्टमी हो गयी थी। भगवान कृष्ण की जो अलग-अलग कथाएं हैं, उनके विषय में मुझे जो लगता है, वह कह नहीं सकता। कालियामर्दन-कथा का स्मरण कितनी ही बार हो जाता था। कृष्ण कालिया के मस्तक पर नाचे थे। मेरे मस्तक पर नाचकर मेरे अहंकार को वे कब रौंद देंगे! यह मेरा भाव है पुराना ही, लेकिन उस कृष्णाष्टमी के दिन उसका विलक्षण जोर था। प्रत्यक्ष में तो सारा भगवान पर ही निर्भर था। चिंतन करते हुए कविता के दो चरणों का दर्शन हुआ – **'नको पुनवेची मिरवणूक देवा। गोड अवसेचें विरघळून जाणें'** (भगवान, पौर्णिमा का जुलूस नहीं चाहिए, अमावस का विलीन होना मीठा होता है)।

स्थूल दृष्टि से देखें तो पहले अंदाजन बीस साल के टुकडे में **ज्ञान-संग्रह** किया। दूसरे उतने ही वर्ष के टुकडे में **व्रत-संग्रह** करने का प्रयास किया। उसके बाद अब **प्रेम-संग्रह** करने का तय रहा। इस काम में अनेकों के शिवसंकल्पों ने मेरी मदद की, ऐसी प्रतीति हुई। मैं यह अपना महान भाग्य मानता हूं कि मुझे प्रेमलों की और निर्मलों की संगति मिलती रही। वैसी संगति में कितने ही जन्म बीत जायें, हानि नहीं होगी।

* *

कारावास-आश्रम

1923 से 42 तक कई जेल-यात्राएं हुईं। जेल में सच्चे आश्रमी जीवन का अनुभव हुआ। गिनती के कपडे, पानी का लोटा और एक

कटोरा, बस इतना ही सामान। इससे अधिक असंग्रह-व्रत का पालन और कहां हो सकता था? नियमानुसार नहाना, खाना, काम करना और घंटी की आवाज पर सोना और जागना। नियमित जीवन! बीमार पडने की भी अनुमति नहीं। भोजन में अस्वाद-व्रत का पालन तो प्रतिदिन होता ही था। इससे अधिक संयम का पालन हम आश्रम में कहां कर पाते हैं? और फिर चिंतन-मनन के लिए भरपूर समय! जेल भी आश्रम-जीवन की साधना का अंग बन सकता है। जेल में सबके साथ रहने का जो मौका मिलता गया, उससे मुझे बहुत लाभ हुआ।

पहली बार 1923 में नागपुर झंडा सत्याग्रह के सिलसिले में पकडा गया था। उस समय पहले मुझे नागपुर जेल में रखा, फिर वहां से अकोला जेल में भेज दिया। उस समय अपराधी लोगों के लिए जो धारा लगायी जाती है, वही मुझ पर लगायी गयी थी, इस कारण जेल में मुझे पत्थर तोडने का सख्त मजदूरी का काम दिया गया था।*

वहां मुझे एक दफा 'सालिटरी सेल' (एकांत कोठरी) में रखा गया। छोटा-सा आठ फीट चौडा और नौ फीट लंबा कमरा था। एक ओर चक्की पडी थी और एक ओर पेशाब का मटका। काम कुछ दिया नहीं था। पढने के लिए किताबें, पेन्सिल, कागज – कुछ भी साथ नहीं रखने देते थे। बाहर जाने की भी छूट नहीं। बिलकुल पागल बनने का ही कार्यक्रम था। परंतु मैंने तो अपना दिनभर का कार्यक्रम बना लिया था। कुल दस घंटे सोता था। दो-तीन घंटे ध्यान। तीन-एक घंटे खाना-पीना, नहाना-धोना इत्यादि। और आठ घंटे घूमना। दिनभर में कम से कम दस-बारह मील घूमता था। मैं मानता था कि मेरी गति डेढ मील घंटे की थी। जो पद्य मुझे कंठस्थ थे, वे गाता रहता था।

एकबार रात को एक बजे रोज की भांति मैं चक्कर काट रहा था

---

* स्व. श्री राजगोपालाचारी विनोबाजी से मिलने जेल गये थे और फिर एक लेख में उन्होंने लिखा – 'देवदूत के समान इनकी पवित्र आत्मा विद्वत्ता, तत्त्वज्ञान और धर्म के ऊंचे शिखरों पर विहार करती है। इसके बावजूद इस आत्मा ने जो विनम्रता धारण कर रखी है, वह इतनी परिपूर्ण है और दिल की सचाई इतनी सहज है कि जो अधिकारी इन्हें नहीं पहचानता, उसे तो इनकी महानता का पता तक नहीं चलता। इनको जिस श्रेणी में रखा है, उस श्रेणी के लिए निश्चित किये गये काम वे करते रहते हैं – पत्थर तोडते रहते हैं। अंदाज ही नहीं होता कि यह मनुष्य चुपचाप कितनी शारीरिक यातनाएं सहन कर रहा है।' – सं.

और मेरा चिंतन चल रहा था। उतने में वार्डर आया। उसने मुझे चक्कर काटते हुए देखकर दरवाजा खटखटाया। मैं तो चिंतन में डूबा हुआ था, जवाब कौन देता? वह बेचारा घबडा गया, नजदीक आकर हिलाकर मुझे पूछने लगा, क्या हुआ है? फिर मैंने चिंतन का अर्थ, चिंतन के परिणाम आदि उसको समझाये, तो खुश हो गया। दूसरे ही दिन प्रसादरूप में उसने मुझे थोडी देर खुली जगह घूम सकूं ऐसी जगह दी।

उस कोठरी में आराम मालूम होता था। रात को तीन घंटे ध्यान करता था। एक सिपाही रोज मुझे देखता और वहां आकर बैठ जाता। उसने सोचा, रोज आंखें बंद करके बैठता है, कोई साधु-योगी होगा। एक दिन लालटेन लेकर आया। मेरी आंखें बंद थीं। थोडी देर राह देखकर उसने मुझे पुकारा, बाबाजी, मैं कुछ बोलना चाहता हूं। मेरी आंखें खुल गयीं। वह कहने लगा, मैं कल जानेवाला हूं, मुझे कुछ उपदेश दीजिए। फिर मैंने उसके समाधान के लिए कुछ बातें बतायीं। वह प्रसन्न होकर चला गया।

पंद्रह दिन मुझे वहां रखा था। उस वक्त गीता का श्लोक मुझे खुल गया –

कर्मण्यकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् [4.18]

आखिर जेलर ने देखा कि इसको यहां कोई तकलीफ नहीं, अपनी मस्ती में रहता है, तो वापस जनरल वार्ड में भेज दिया। मेरे लिए तो वहां भी आनंद ही था।

उसके बाद 1932 में धुलिया जेल में छः माह रहा। वहां मेरा मुख्य कार्यक्रम लोगों को रिझाने का था। हमारे साथ बहुत-से साथी ऐसे थे, जिनको जेल का जीवन नीरस लगता था; क्योंकि उनको सातत्य की कला नहीं सधती थी। उनको मानसिक कष्ट भी हुआ करते थे। इसलिए जो भी कोई जेल में थे, उनको आनंद देना मैंने मेरा काम माना। हमारे साथ के भाइयों की हिम्मत न टूटे – माफी वगैरह मांगने का तो सवाल ही नहीं था, पर उन्हें वहां के जीवन में रुचि पैदा हो, इसकी कोशिश करना मेरा धंधा बना। इसवास्ते जो भाई मुझसे पहले परिचित थे और बाद में मेरे साथ जेल में थे, वे कहते थे कि विनोबा जेल में जाते हैं तो एकांत का प्रेम वे बिलकुल भूल जाते हैं। धुलिया जेल में ऐसा एक भी

राजनैतिक कैदी नहीं था, जिससे मेरा व्यक्तिगत परिचय न हुआ हो। घंटों बातें चलतीं और मेरा उनको रिझाने का कार्यक्रम चलता।

उस वक्त राजनैतिक कैदियों में केवल 'सी' क्लासवालों को काम दिया जाता था। मुझे 'बी' क्लास था। लेकिन मैंने 'बी' क्लास की सहूलियतों का स्वीकार नहीं किया और जेल में जाते ही जेलर से काम मांगा। जेलर कहने लगे कि आप तो पहले ही कमजोर हैं, आपको हम कैसे काम दे सकते हैं? मैंने कहा, मैं यहां खाना खाता हूं, बिना श्रम किये खाना मेरा धर्म नहीं है, इसलिए अगर काम न मिला तो कल से मुझे खाना छोडना पडेगा। जेलर बोले, ठीक है, लेकिन हम आपको काम नहीं देंगे, आप ही काम खोज लें।

उस समय सारे जेल की (राजनैतिक कैदियों की) स्थिति ऐसी थी कि मैं उधर ध्यान न देता तो वहां कोई अनुशासन ही न रहता। लोग बगावत करने पर तुले थे, जिद पर अडे थे। कोई किसी की कुछ सुनता नहीं था। करीब 300 स्वतंत्रता-संग्राम-कैदी वहां थे। इसलिए वह सारा मुझे अपने हाथ में लेना पडा। मैंने तय किया कि स्वराज्य के सिपाही को स्वराज्य के अनुशासन के तौर पर हररोज कुछ श्रम का काम करना होगा। उस समय जेल का 'टास्क' (काम) रोज पैंतीस पौंड आटा पीसने का था। मैंने जेल के अधिकारियों से कहा कि, ये लोग इतना 'टास्क' नहीं करेंगे। आपने डंडा-बेडी पहनायी तो भी नहीं सुनेंगे। इसलिए आप पैंतीस पौंड का आग्रह मत रखिए। पूरी जेल का आटा पीसने का ठेका हम ले लेते हैं और रसोई का जिम्मा भी हम उठा लेते हैं। जेल के अधिकारियों ने उस बात को स्वीकार किया। फिर मैंने सबको कहा कि जिनको सादी सजा हुई है उन्हें भी 21 पौंड पीसना होगा। पहले तो सब तैयार नहीं हुए, उन्हें लगा कि विनोबा को तो कुछ करना-धरना नहीं होगा, हम फंस जायेंगे। लेकिन मैं खुद भी पीसने लग गया, तो सबके सब उत्साह से उस काम में लग गये। छोटे-बडे सभी अपना हिस्सा पूरा कर देते थे, बीमार और बूढ़ों का भी पूरा कर देते थे। पीसते समय ज्ञान-चर्चाएं चलतीं। फिर तो वह जेल नहीं रही। आश्रम ही बन गया।*

---

* 1933 में दूसरे एक संदर्भ में बापू ने विनोबाजी को लिखा था – "आ पडी किसी भी प्रकार की जिम्मेवारी को निबाह लेने की शक्ति तुम्हारे पास है। गीता की भाषा में कहना हो तो सर्व भार ईश्वर पर डालना तुम्हें सध जाता है।" – सं.

धुलिया जेल के जेलर श्री वैष्णव श्रद्धावान व्यक्ति थे। मेरे लिए उनके मन में अत्यंत श्रद्धा थी। ऐसा लगता था, मानो उनका और मेरा पूर्वजन्म का कोई नाता है। पूरी जेल का कारोबार उन्होंने मुझे सौंप दिया और स्वयं नाममात्र के जेलर बन गये।

रसोई बनाना भी हमने अपने हाथ में ले लिया और उत्तम से उत्तम लोग उस काम में लग गये। दाल पक जाने पर घोटी जाती थी। जितना समय पकने को लगता, उतना ही समय दाल घोटने में लगाया जाता। उस कारण सभी को उस दाल की याद रह गयी। वह दाल इतनी सुंदर बनती थी कि जेल के लोग कहते थे कि ऐसी दाल और कहीं नहीं मिलेगी। उस समय हममें केवल 10-12 लोग फीका – बिना मिर्च-मसाले का खानेवाले थे। बाकी सारे तीखा खानेवाले थे। परंतु आहिस्ता-आहिस्ता असर ऐसा हुआ कि राजनैतिक कैदी सभी फीकी दालवाले बने। दूसरे कैदी कहने लगे कि हम भी फीकी दाल खायेंगे। फिर तो उनकी संख्या इतनी बढ गयी कि जेलर को कहना पडा कि इन कैदियों के स्वास्थ्य की जिम्मेदारी हम लोगों पर होती है, उन्हें निश्चित राशन देना ही पडता है, जिसमें मिर्च भी शामिल है, इसलिए आप इस बात को न उठायें। मैंने उन कैदियों से कहा कि आप लोग घर जाने पर फीकी दाल खाइए, यहां तीखा ही खाइए।

ऐसा सारा धंधा वहां करना पडता था। तो लोगों को आश्चर्य लगता था कि यह शख्स तो एकांतप्रिय है, फिर जेल में ही इतना समाजप्रेमी क्यों बनता है? मैं पूछता था कि क्या आप मुझे असामाजिक तत्त्व में गिनते हैं? वहां इस प्रकार करना पडता था, क्योंकि सबका मनोरंजन हो। कभी किसी को पत्र आता था, पर जेलर देते नहीं थे। मैं जेलर से कहता, क्यों नहीं बेचारे का पत्र देते हो? वह कहते, देनेलायक नहीं है। उसी प्रसंग को लेकर मैंने गीता-प्रवचन में कहा था कि हवा आती है, संदेश देकर जाती है; घर का पत्र नहीं आया तो क्यों इतनी बेचैनी होती है? व्यक्तिगत भी समझाता कि ऐसी चिंता करना यानी परमेश्वर नहीं है, ऐसा मानना है। इस तरह वे मजबूत रहें, ऐसी मेरी कोशिश रहती।

* *

गीता-प्रवचन का जन्म

धुलिया जेल में तो मुझे संतसमागम ही मिला। साने गुरुजी, जमनालाल बजाज, आपटे गुरुजी जैसे लोग वहां थे। इन सबने सोचा कि विनोबा गीता पर रोज कुछ कहें। मैंने कबूल किया और हर इतवार को मैं गीता पर प्रवचन करने लगा। और साने गुरुजी ने वे सारे प्रवचन शब्दशः लिख लिये। यह भगवान की कृपा ही थी कि साने गुरुजी जैसा सिद्धहस्त व्यक्ति प्रवचन लिख लेने के लिए मिला। साने गुरुजी जैसा सहृदय और शॉर्टहैण्ड जैसे शब्दशः लिख सकनेवाला न मिलता तो जो बोला और जिसने सुना, इन दो में ही प्रवचनों की परिसमाप्ति हो जाती। और मेरे लिए तो उतना ही बहुत था। मेरी अपेक्षा तो मुझे लाभ हो इतनी ही थी। मैं तो खुद अपनी खुदकी भावना को दृढ करने के लिए जप-भावना से बोल रहा था। उनके और मेरे हृदय में इतना-सा भी अंतर नहीं था, इतने हम भावना से एकरूप थे। ऐसे व्यक्ति ने गीता-प्रवचन लिखकर दुनिया पर बडा उपकार किया है। उस समय किसी को यह ख्याल तक नहीं था कि जेल में दिये गये ये प्रवचन देशभर में सभी भाषाओं में फैलेंगे। परंतु ईश्वर जिस बात को करना चाहता है, वही होती है। अन्यथा, जेल के जीवन में किसी बात की निश्चितता नहीं होती है। किसी को भी, कभी भी, कहीं भी भेजा जाता है। सरकार मुझे कहीं भी भेज सकती थी या साने गुरुजी को भी भेज सकती थी। छोड दे सकती थी। परंतु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। अठारह अध्यायों पर प्रवचन वहां पूरे हुए।

भगवद्गीता कुरुक्षेत्र के रणांगण में कही गयी। इसलिए उस गीता को विशेष स्वरूप प्राप्त हुआ, जो दूसरे किसी भी ग्रंथ को प्राप्त न हो सका। भगवान ने ही दूसरी बार गीता कही है, उसको अनुगीता कहते हैं। लेकिन भगवद्गीता का जादू उसमें नहीं है। उसी तरह यदि मैं स्वतंत्ररूप से गीता पर व्याख्यान देता या लिखता तो उसमें वह जादू दिखायी नहीं देता, जो आज के गीता-प्रवचन में दीखता है। उस समय हम लोगों की भावना बिलकुल यही थी कि यह कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि है और हम सब सैनिक हैं। हम वहां एक युद्ध में इकट्ठा हुए थे। हम स्वतंत्रता-संग्राम के सैनिक थे। जिन्होंने उन प्रवचनों को सुना है, वे उनका स्मरण कभी भूल नहीं सकते।

इस ग्रंथ में कोई भी नयी बात कही नहीं है। ज्ञानदेव ने ज्ञानेश्वरी

में गीता के बारे में जो कहा है, वही गीता-प्रवचन में कहा है। ज्ञानदेव की भाषा प्राचीन है। मैंने आज की भाषा में, सब समझ सकें ऐसी सरल भाषा में कहा है, इतना ही। ज्ञानदेव ने जीवन में अनुभव लेकर उसका जो सार लोगों के सामने रखा, वही मैं पामर ने फिर से कहा। गीता-प्रवचन यानी सुलभ ज्ञानेश्वरी है; और कुछ भी नहीं है।

वे पवित्र अनुभव मैं कभी भूल नहीं सकता। गीता पर प्रवचन करते हुए मेरी क्या वृत्ति थी, मैं शब्दों में कह नहीं सकता। परंतु अगर कुछ शब्द परमेश्वर मनुष्य की ओर से बुलवा लेता है ऐसा हो, तो माना जायेगा कि वे सभी शब्द परमेश्वर ने ही बुलवा लिये हैं। प्रवचन करते हुए मुझे ऐसा आभास नहीं होता था कि मैं बोल रहा हूं और सुननेवालों को भी ऐसा आभास नहीं होता था कि विनोबा बोल रहा है।

गीता-प्रवचन पुरुष कैदियों के सामने होते थे। तब स्त्री कैदियों ने जेलर से मांग की कि हमें भी प्रवचन सुनने का अवसर मिले। पुरुष कैदियों को स्त्री-विभाग में जाने की इजाजत कभी मिलती नहीं। परंतु जेलर श्री वैष्णव ने कहा कि विनोबा की गिनती स्त्रियों में भी करने में हरज नहीं। यों कहकर उस साहसी जेलर ने मुझे स्त्री कैदियों के सम्मुख प्रवचन देने की इजाजत दे दी। मैंने उन्हें कहा, आप स्वयं उस समय उपस्थित रहें। उसके मुताबिक वे खुद आते थे और अपनी पत्नी को भी साथ ले आते थे। इस प्रकार सप्ताह में एक दिन स्त्रियों के बीच प्रवचन शुरू हुए। फिर दूसरे आम कैदियों ने भी मांग की कि हमें भी विनोबाजी के प्रवचन सुनने को मिले। जेलर ने मुझे पूछा कि क्या आप यह करेंगे? मैंने कहा कि रविवार का दिन (उस दिन प्रवचन होते ही थे) छोडकर दूसरे किसी भी दिन आप उन्हें एक घंटा छुट्टी दें तो मैं उन्हें कुछ कहूंगा। आंदोलन के उन दिनों में भी उस बहादुर जेलर ने बुधवार को एक घंटे की छुट्टी देकर मेरे प्रवचन आम कैदियों में करवाये। उनमें से कुछ कैदी बगीचे में काम करते थे। वे प्रेम से फूलों की माला बनाते और मुझे देते थे। फांसी के कैदियों को भी जेलर ने प्रवचन सुनने आने दिया।

उस समय जेल का सारा वायुमंडल आध्यात्मिक भावना से भरा हुआ था। उसी समय 'गीताई' धुलिया में छप रही थी। मैं उसके प्रूफ जेल में देखता था। मैं जेल से रिहा हो रहा हूं, यह बात आम कैदियों को मालूम हुई तब उन्होंने जेल के सुपरिंटेंडंट से मांग की कि हमने अपनी

मेहनत से कमाये पैसों में से हमें दो आने दीजिए। किसलिए? तो बोले, हमें गीताई खरीदनी है। एक आना गीताई के लिए और एक आना हमें विनोबा को दक्षिणा देनी है। इस प्रकार उस जेल के चोर कहलाये कैदियों का बहुत प्रेम मिला, जिसे मैं कभी भूल नहीं सकता।

* *

पवनार आगमन

सन् 1938 की बात है। मेरा शरीर अत्यंत क्षीण हो गया था। वजन 88 पौंड तक नीचे आ गया था। ईश्वर के पास जाने की घडी आ रही है, ऐसा लग रहा था। इसलिए मेरा मन प्रसन्न था, लेकिन मित्रों को दुःख होता था। बापू के पास फरियाद गयी। मुझ पर 'समन' आया। मैं गया। बापू बोले – 'मेरे पास रहो, मैं सेवा करूंगा।'

मैंने कहा, आपकी सेवा पर मेरा जरा भी भरोसा नहीं। आपको पचास काम हैं। उनमें से एक काम बीमारों की सेवा का। और उसमें भी पचास रोगी। उनमें से एक मैं। इससे क्या भला होगा? बापू हंसने लगे। बोले, ठीक है, डाक्टर के पास जाओ। मैंने कहा, उसकी अपेक्षा तो यमराज के पास जाना ठीक! तो बापू बोले, वायु-परिवर्तन के लिए कहीं जाओ। अलग-अलग स्थानों के नाम बताते गये – नैनीताल, मसूरी आदि – और उत्साहपूर्वक एक-एक का वर्णन करते गये। आखिर मैंने कबूल किया कि आपकी बात मंजूर है कि स्वास्थ्यसुधार के लिए कहीं जाकर रहूं; लेकिन मेरा स्थान दूसरा है। वर्धा से छः मील दूर पवनार में जमनालालजी का बंगला खाली पडा है, वहां जाकर रहूंगा। तब बापू ने कहा, ठीक ही है, ठंडी हवा के स्थान तो श्रीमानों के लिए होते हैं, गरीब हवाफेर के लिए दूर कहां जा सकते हैं? तुम पवनार जाओ, बशर्ते कि सभी कामों का बोझ छोड दो। तुम्हें सारा चिंतन बंद करना पडेगा। आश्रम की अथवा दूसरे किसी काम के विषय में चिंता या विचार नहीं करना होगा। मैंने कहा, जी हां – ऐसा ही करूंगा।

मेरा स्वास्थ्य इतना अधिक कमजोर था कि पैदल चल नहीं सकता था। इसलिए नालवाडी से कार में पवनार गया। बापू के पास कबूल किया था, इसलिए जब कार पवनार पहुंची और धामनदी का पुल पार कर रही थी, तब मैंने तीन बार "*संन्यस्तं मया, संन्यस्तं मया, संन्यस्तं*

मया'' (मैंने छोडा, मैंने छोडा, मैंने छोडा) कहा। सबकुछ छोडकर बिलकुल खाली मन से पवनार पहुंचा (7.3.1938)। दिनभर कोई खास काम नहीं रखा था। हॉल में घूमता था और कुछ थोडा खेत में खोदता था। मेरा मुख्य काम खेत में बैठकर पत्थर चुनकर इकट्ठा करने का था। वह मेरे लिए ऐसा काम था कि दो साल भी चल सकता था। कोई मिलने आता तो वह भी मेरे साथ पत्थर इकट्ठा करने लगता। फिर दोपहर में कुछ समय वर्धा-नागपुर रास्ते की तरफ देखता रहता। कितनी मोटरें गयीं, कितनी बैलगाडियां गयीं, कितनी साइकिलें, कितने लोग पैदल गये? 11 से 12 बजे तक कितने गये? 12 से 1 तक कितने गये? इस प्रकार खेल चलता।

इन सारी क्रियाओं में चित्त को अलग रखता था। वह अलग रखना कोई क्रिया नहीं थी। नहीं तो एक बाह्य क्रिया और दूसरी चित्त को उससे अलग रखने की क्रिया, इस तरह दो क्रियाओं से पीडित हो जाता। दो बोझ उठाने की अपेक्षा एक ही उठाना ठीक है।

व्यायाम के लिए खेत में खोदने का काम मैंने शुरू किया। पहले दिन पांच मिनट खोदा। दूसरे दिन दो मिनट बढाये। तीसरे दिन पांच मिनट बढाये। यों करते-करते दिनभर में दो घंटे खोदने लगा। खोदने की क्रिया भी वैज्ञानिक ढंग से करता था। लगातार एक घंटा खोद लेता था, लेकिन उसमें भी बीच-बीच में कुछ सैकंड रुक जाता था। इससे ताकत बनी रहती थी। इस व्यायाम से बहुत लाभ हुआ। दस महीने में 40 पौंड वजन बढा। 88 से 128 पौंड हो गया।

खोदने का काम मैंने वर्षों तक लगातार किया है और उससे मेरे शरीर को बहुत लाभ पहुंचा है। लोगों ने देखा है कि जिन दिनों मैं खोदता था, उन दिनों एक पहलवान जैसा मेरा शरीर था। यह मैं इसलिए कह रहा हूं कि खोदने के काम का किसी को डर न हो। शारीरिक लाभ के अलावा मानसिक लाभ जो उससे होता है, वह तो एक विशेष अनुभव है। अनंत आकाश, खुली हवा, रवि-किरणों का स्पर्श और सीधा खडा शरीर, यह एक चतुरंग योग ही है।

पवनार गांव धामनदी के इस ओर था और हमारा यह स्थान धाम के उस पार था। तो मैंने इसको नाम दिया 'परंधाम'। गीता में आता है, 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तत् धाम परमं मम ।' परंधाम में स्वास्थ्य सुधरता गया,

वैसे धीरे-धीरे गांव से संपर्क बढाया। गांव में एक परिश्रमालय शुरू किया, जहां गांव के लोग सूत-कताई के लिए आते थे। परंधाम में एक शेडनुमा मकान बांधकर वहां करघे बिठा दिये। बुनाई का काम शुरू किया। पवनार, कान्हापुर गांव के कुछ बच्चे बुनाई सीखने आने लगे। ये लोग आज भी परंधाम में किसी न किसी काम में लगे हुए हैं।

एकबार मैं पवनार के बाजार में कंबल खरीदने गया। कंबल लेकर *एक बहन बेचने बैठी थी। उसने भाव बताया, एक कंबल का डेढ रुपया।* मैंने उससे पूरी जानकारी पूछी, ऊन क्या भाव पडी? बुनाई में कितना लगा? भेडें पालने में कितना खर्च आता है? वह पहचानती थी कि यह पवनार के आश्रम में रहनेवाला आदमी है, इसलिए उसने मुझे सब बता दिया। फिर मैंने हिसाब लगाकर कहा कि यह कंबल पांच रुपये से कम में पडता ही नहीं होगा, फिर डेढ रुपयों में कैसे दे रही हो? कहने लगी, पांच रुपये कैसे बताऊं? डेढ बताया तो सवा में मांगते हैं। मैंने कंबल ले लिया और पांच रुपये दे दिये। उसे लगा, यह कलियुग है या सत्ययुग!

फिर क्या हुआ? हमारे परिश्रमालय तथा आश्रम में बच्चे कताई-बुनाई के लिए आया करते थे। वे रोज के तीन-चार आने कमा लेते थे, जबकि बाहर आम मजदूरों को दो-सवा दो आना मजदूरी मिलती थी। मैंने उन बच्चों को कंबल की कहानी बतायी और कहा कि तुम लोग बाजार-भाव बढाना सीखो, क्योंकि बाजार-भाव न बढाना गरीबों को लूटना है। तुम लोगों को तीन-चार आने मजदूरी मिलती है, तो एक बात करो। बरसात के दिनों में घास के गट्ठर बांधकर औरतें आती हैं। तुम उसे दो आने में खरीदो। बच्चों ने मान लिया और वे बाजार में पहुंचे। वहां घास बेचनेवाली कहती, तीन पैसे का गट्ठर; तो खरीददार कहते, दो पैसे। ये बच्चे कहने लगे, इसकी कीमत तो दो आने है। ग्राहक कहता, बहुत बढा-चढाकर बोल रहे हो, कौन इसे दो आने देगा? बच्चे ने कहा, मैं ही दूंगा। और सचमुच दो आने देकर उसने वह गट्ठर खरीद लिया।

हम सभी यही सोचते रहते हैं कि दूसरे को कैसे लूटा जाये। सबका हित सधे यह भाव है नहीं। भगवान गीता में हमसे कहते हैं कि एक-दूसरे की रक्षा कर कल्याण के भागी बनो। बच्चों को मैं यही समझाता था। यह भाव समाज में पनपना चाहिए।

* *

प्रसाद-प्राप्ति

पवनार में एकबार (1938 में) खोदते-खोदते जमीन में पत्थर लगा। इधर-उधर कुदाली चलाकर देखा कि पत्थर जरा लंबा-सा है। मुझमें उस समय इतनी ताकत तो नहीं थी कि मैं ही खोदकर उसको बाहर निकालूं। दूसरों ने आकर उस पत्थर को बाहर निकाला, तो क्या देखा? भरत-राम-मिलन का सुंदर शिल्प! 1932 में धुलिया जेल में गीता पर मेरे प्रवचन हुए थे। बारहवें अध्याय में सगुण-निर्गुण का वर्णन करते हुए मैंने कहा था कि यह पहचानना मुश्किल हुआ होगा कि तप करनेवाला असली तपस्वी कौन है। दोनों को देखकर पहचाना नहीं जाता कि इनमें राम कौन और भरत कौन, इस तरह का चित्र यदि कोई निकाले, तो वह कैसा पावन चित्र होगा! यह शिल्प ठीक उसी प्रकार का था, जो गीता-प्रवचन में शब्दांकित किया था।

मैं उस मूर्तिदर्शन से गद्गद हो गया। वह भगवान का प्रसाद मुझ पर हुआ मानकर, मैंने उस पर मेरी श्रद्धा-भक्ति सबकी सब एकाग्र की। दो-तीन बरसों बाद उस मूर्ति की प्रतिष्ठापना वैदिक पद्धति से करायी। मैंने भी कई वैदिक सूक्त और ज्ञानदेव का 'धर्म जागो निवृत्तीचा' भजन गाकर मेरी श्रद्धांजलि समर्पित की। मैं रोज स्नान के बाद भोजन के पहले पंद्रह मिनट वहां बैठकर धर्म-साहित्य पढता था। मेरे मन को वह एक बहुत अच्छा विश्रांति-स्थान प्राप्त हुआ। बचपन में मैंने भगवान की पूजा बहुत की है। इन दिनों पूजा करने का प्रसंग आता नहीं। लेकिन मानसिक पूजा तो मैं हमेशा करता रहता हूं। कहीं पूजा होती हो, तो वह देखकर मेरा मन प्रफुल्लित होकर उमडता है। पहले के कई संतों की कहानियां हम सुनते हैं कि अमुक के खेत में खोदते समय भगवान मिला, उसकी उसने जीवनभर भक्ति की, इत्यादि। इस घटना से मेरी भी भावना बन गयी कि मेरे घर भी भगवान स्वयं होकर आया है। मैं पूजा की विधि करता नहीं था, लेकिन वहां जाकर बैठता था। उससे मन को अच्छा लगता था। कई दिन मैं वहां बैठकर ज्ञानदेव-तुकाराम-नामदेव-एकनाथ-तुलसीदास आदि के मधुर भजन गाता रहा।

लोगों ने मुझसे पूछा, क्या आप मूर्ति-स्थापना को मानते हैं? मैंने जवाब दिया, योजनापूर्वक नयी मूर्ति बनाकर उसकी स्थापना करने की मेरी वृत्ति नहीं है; परंतु जमीन में से मेरे हाथ को प्राप्त हुई इस मूर्ति को

पत्थर मानने जितना पत्थर मैं नहीं हूं। मैंने इसको भगवत्-प्रसाद के रूप में माना है, इसलिए उसकी प्रतिष्ठापना की है।

* *

व्यक्तिगत सत्याग्रह

सन् 1940 की एक सुंदर सुबह मुझे बापू की तरफ से बुलावा आया कि मिलने आओ। वैसे उनके और मेरे निवासस्थान में पांच मील का फासला था। लेकिन मिलने का मौका तो तब आता था जब वे बुलायें। साल में दो-तीन पत्र आते-जाते होंगे। वे शायद मानते थे कि यह शख्स अपने काम में मशगूल है, इसलिए इसे ज्यादा तकलीफ नहीं देनी चाहिए। लेकिन उस दिन अचानक बुलावा आया। इसलिए मैं उनके पास पहुंचा। बापू मुझसे कहने लगे कि इस वक्त मुझे तुम्हारी सेवा की जरूरत है। मैं नहीं जानता कि तुम खाली हो या नहीं। लेकिन अभी व्यक्तिगत सत्याग्रह करना है और मैं चाहता हूं कि अगर तुम बिना कुछ विशेष तकलीफ के मुक्त हो सको तो तैयार हो जाओ।

मैंने विनोद में कहा, मैं आपका बुलावा और यमराज का बुलावा समान मानता हूं। इसलिए मुझे जरूरत नहीं कि मैं वापस जाऊं। सीधे यहीं से काम के लिए जा सकता हूं। बापू को बहुत समाधान हुआ।

यद्यपि मैं अनेकविध प्रवृत्तियों में था – शायद ही बापू की ऐसी कोई रचनात्मक प्रवृत्ति हो, जिसमें कुछ न करता था, और मेरी अपनी बातें भी करता था – लेकिन मुझे समर्थ रामदासस्वामी का मार्गदर्शन मिला था। बचपन में मैंने उनका यह वचन पढा था – **'परस्परें चि उभारावे भक्ति-मार्गासी'।** यानी भक्तिमार्ग की स्थापना सीधे, स्वयं उसके अंदर न फंसते हुए करनी चाहिए। इसका मेरे चित्त पर गहरा असर था। उसके अलावा गीता का मार्गदर्शन तो था ही। उसके अनुसार मैंने जितने भी कार्य किये, वे इस ढंग से नहीं किये कि मेरे बिना वे चल ही न सकें। जब मैंने बापू से यह कहा, तब उन्हें अच्छा लगा।

सत्याग्रह* करने का तय हो जाने के बाद चर्चा चली कि सत्याग्रह

* उस समय महादेवभाई ने लिखा था – "बापू के शायद ही किसी अनुयायी ने सत्य-अहिंसा के पुजारी और कार्यरत सच्चे सेवक उतने पैदा किये हों, जितने कि विनोबा ने पैदा किये हैं। उनके विचार, वाणी और आचार में जैसा एकराग है, वैसा एकराग बहुत कम लोगों में होगा। इसलिए उनका जीवन मधुर संगीतमय है।" – सं.

कहां से प्रारंभ करें? नागपुर, वर्धा या पवनार से? मैंने तय कर लिया कि वह पवनार से ही होगा। स्वदेशी धर्म का अनुसरण करने की दृष्टि से, जहां मैं रहता हूं वहीं से सत्याग्रह का प्रारंभ करना मुझे उचित लगा। तीन साल से मैं वहां रह रहा था। जब वहां गया तब बिलकुल अस्थिपंजर था। वहां का हवा-पानी, शाकभाजी, दूध इनसे मेरा शरीर हृष्टपुष्ट हुआ। वहां के कुछ लोग रोज नियमित कताई करते थे। उनके साथ रोज घंटा-दो घंटा बैठता था। चर्चा होती थी। इस प्रकार हमारा भाई-भाई जैसा संबंध था। सत्याग्रह के बाद मुझे पकड लिया जायेगा, यह सुनकर उनकी आंखों में वियोग के आंसू आये। इन प्रेमीजनों को छोडकर दूसरी कौनसी जगह पर जाता अपने प्रथम सत्याग्रह के लिए?

चंद दिनों में ही मैं जेल पहुंच गया। इस सत्याग्रह में तीन बार पकडा गया और लगभग पौने दो साल जेल में गये। बापू ने मुझे भारत की ओर से व्यक्तिगत सत्याग्रही बनने का आदेश दिया था। जेल जाने के बाद सोचने लगा कि अखिल भारत का प्रतिनिधित्व करना है तो हिंदुस्तान की कुल भाषाएं सीख लेनी होंगी। परंतु मुझे तो विश्व का प्रतिनिधित्व करना है, इसलिए दुनिया की भाषाओं का ज्ञान भी प्राप्त करना होगा। इसलिए उस वक्त और फिर अगस्त आंदोलन में पांच साल का जो समय जेल में मिला उसमें मैंने बहुत अध्ययन किया। रोज 14-14, 15-15 घंटे पढता था।

* *

अंतिम लडाई

42 के आंदोलन के पहले की बात है। गांधीजी का विचार था कि इस बार जेल जाऊंगा तो अंदर पैर रखते ही उपवास शुरू कर दूंगा। जेल में पडे रहने की बात अब पुरानी हो गयी। हम अंग्रेजों का राज्य मान्य नहीं करते और उनको यहां से चले जाने को ही कहते हैं, तो अब जेल में जाते ही उपवास शुरू करना है। यह सब मंथन उनके मन में चल रहा था।

यह कौन कर सकता है? बलिदान वही कर सकता है, जिसके दिल में प्रेम भरा हो। कोई एक व्यक्ति कर भी सकता है, लेकिन क्या उसका आंदोलन भी चल सकता है? सेना में लाखों लोगों की भरती हो सकती है, तो क्या इसमें भी ऐसा हो सकता है? गांधीजी को लगता था कि

ऐसा हो सकता है और इसलिए उन्होंने सोचा था कि इसका आरंभ स्वयं से ही करना होगा। यह बात मालूम होते ही सब घबरा गये। सब सोचने लगे कि किसी न किसी तरह से इसे रोका जाये। फिर, उपवास की शृंखला आगे नहीं चल सकती, उपवास के लिए सेना नहीं बन सकती, आदेश से ऐसे काम नहीं होते – इस प्रकार के विचार बापू के आसपासवालों के रहे।

ऐसी स्थिति में बापू ने मुझे सेवाग्राम बुलाया और अपनी बात मेरे सामने रखी। उसमें सवाल यह पैदा हो रहा था कि जो काम ज्ञानी ज्ञानपूर्वक कर सकता है, क्या वही काम अनुयायी श्रद्धा से कर सकता है? मैंने जवाब दिया, जी हां कर सकता है। जो काम रामजी ज्ञानपूर्वक कर सकते हैं, वही काम हनुमानजी श्रद्धापूर्वक कर सकते हैं। बात पूरी हो गयी और कुछ विचार करने को रहा नहीं। मैं उठकर चला गया।

फिर तो ९ अगस्त का दिन आया। बापू गिरफ्तार हो गये। लेकिन तब उनके मन में था कि अभी उपवास न किया जाये, शुरू में तो सरकार के साथ कुछ पत्राचार चलेगा, इसलिए अभी उपवास का विचार नहीं हो सकता। मेरे साथ तो उनकी ऊपर उल्लेख आया है उतनी ही बात हुई थी। यह आगे की बात मैं जानता नहीं था।

उस समय प्यारेलालजी बाहर थे। बापू ने उनसे कहा कि विनोबा के पास खबर पहुंचाओ कि जेल में प्रवेश करते ही उपवास शुरू नहीं करने हैं। बापू ने यह मान ही लिया था कि यह मनुष्य मेरे साथ इतनी चर्चा करके गया है – यद्यपि मैं कोई वचन से बंधा नहीं था – इसलिए वह तो जेल में जाते ही उपवास शुरू कर देगा। उन्होंने कोई आज्ञा तो नहीं दी थी, लेकिन उन्होंने मेरी राय पूछी थी कि क्या ऐसा हो सकता है और मैंने कहा कि ऐसा हो सकता है, इसलिए आज्ञा से अधिक कीमती चीज मिल चुकी थी।

उन्हीं दिनों मैं भी जेल गया। जेल में जाते ही मैंने जेलर से कहा – आप तो मुझे जानते हैं। जेल के तमाम नियमों का मैं बारीकी से पालन करनेवाला और दूसरों से करानेवाला भी हूं। लेकिन इस बार ऐसा नहीं होगा। सबेरे तो मैं खाकर आया हूं। इसलिए दोपहर के भोजन का सवाल नहीं। लेकिन शाम से मैं भोजन नहीं करूंगा, कब तक नहीं करूंगा यह नहीं जानता। यह आपका अनुशासन तोडने के खातिर नहीं, लेकिन मेरा

अपना एक अनुशासन है, उसके पालन के लिए करना है। इतना कहकर मैं भीतर चला गया।

दो घंटे बाद बुलावा आया। बापू का संदेशा प्यारेलालजी ने किशोरलालभाई के पास भेजा था। किशोरलालभाई ने डिप्टी कमिश्नर से पूछा और उन्होंने गवर्नर से पूछा कि क्या ऐसा संदेशा दे सकते हैं? गवर्नर ने कहा कि दे सकते हैं, पर इससे एक शब्द भी अधिक नहीं बोल सकते। डिप्टी कमिश्नर ने कहा कि ठीक है, आपका संदेशा पहुंचा दिया जायेगा। किशोरलालभाई ने कहा, वे आपके कहने से नहीं मानेंगे। हममें से किसी को जाना पडेगा। बाद में वालुंजकर आये और उन्होंने बापू का संदेशा मुझे सुनाया। इस तरह मेरा यह उपवास नहीं हुआ। लेकिन यहां मैं अपने हृदय की अनुभूति व्यक्त करना चाहता हूं कि जितने आनंद से बापू उपवास करते, उससे लेशमात्र कम आनंद मेरे उपवास में नहीं होता, यह मेरा दावा है। ज्ञान तो मुझे नहीं था, वह तो बापू के पास था, लेकिन मैंने तो श्रद्धा से माना था। श्रद्धा से आज्ञा मानकर अत्यंत आदरपूर्वक और प्रेमपूर्वक अपना बलिदान दिया जा सकता है, इसमें मुझे कोई शंका नहीं थी।

वर्धा से मुझे नागपुर जेल में भेजा गया और फिर खतरनाक कैदी समझकर नागपूर से वेलूर जेल में लाया गया। वहा पहुंचने पर जब जेलर ने पूछा कि आपकी आवश्यकताएं क्या हैं, तो मैंने कहा कि आज मेरी दो आवश्यकताएं हैं। एक तो मेरे बाल बढे हैं इसलिए हजामत करने के लिए हजाम चाहिए। दूसरा, मुझे तमिल पढानेवाला आदमी चाहिए; क्योंकि मैं तमिल प्रांत में आया हूं और उसी का अन्न खानेवाला हूं। आठ बजे हजामत हुई और स्नान करके बैठा। तो जेलर ने वहीं के एक शख्स को मेरे पास भेजा। उसके पास खास कोई ज्ञान नहीं था। यद्यपि उस जेल में तमिल जाननेवाले सैकडों थे, मुझे उनसे अलग रखा गया था। उस भाई को थोडी-सी अंग्रेजी मालूम थी। उससे मैंने तमिल सीखना शुरू किया। दस-बारह दिन के बाद तेलुगु शुरू किया। फिर दस-पांच दिन के बाद कन्नड और मलयालम्। इस तरह मैंने एक महीने के अंदर चारों भाषाएं सीखना शुरू कर दिया। किसी ने पूछा, आप चारों भाषाओं का अध्ययन एकसाथ क्यों करते हैं? मैंने कहा, पांचवीं नहीं है इसलिए। चारों भाषाओं का एकत्र अध्ययन करने से उनका तुलनात्मक अध्ययन मैं कर सका।

वेलूर जेल में सब प्रकार की सहूलियतें मिलती थीं। मांगने पर सरकार की ओर से मदद मिलती थी। मुझे लगा, हमारे आंदोलन को तेजोहीन बनाने के लिए यह बेहतर तरीका है। हम सहूलियतें मांगें और सरकार देती रहे, यह मुझे अच्छा नहीं लगा। लगा कि उससे हमारा जीवन निस्तेज बन रहा है। उधर बंगाल में अकाल पडा था, लेकिन इधर हम चारपाई, कुर्सी मांगते। अगर वह न मिले तो उसके लिए झगडा करते और उसे लडने का नाम देते। आखिर सरकार कबूल कर ही लेती। तो लगता कि हमारी विजय हुई, फतह हुई। पर इसमें कैसी विजय और कैसी फतह? इसमें तो निरी मूर्खता और हमारी पराजय थी।

फिर अंत में मुझे वेलूर से सिवनी जेल भेजा गया। वहां दिवंगत भारतन् कुमारप्पा हमारे साथ थे। उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि मैं उनको हिंदी सिखाऊं। मैंने वह मान्य किया। और उनको हिंदी सिखाने के माध्यम के तौर पर तुलसीरामायण ली। रामायण का महत्त्व मैंने उनको आरंभ में एक सूत्रमय वाक्य में कह दिया – जहां तक हिंदी का ताल्लुक है, तुलसीरामायण यानी बाइबिल और शेक्सपीअर इकट्ठा। दो महीने अध्ययन करने के बाद उन्होंने मुझसे कहा कि आपका वह प्रशंसा-वाक्य सर्वथैव सत्य है। एक ही वाक्य में आपने सारा सार बता दिया। मैंने कहा, ईसाइयों का धर्मग्रंथ बाइबिल है। उसकी भाषा मीठी और सरल है। शेक्सपीअर भी महान कवि और नाटककार हो गया है। अंग्रेजी भाषा में उसका अद्वितीय स्थान है। साहित्य की दृष्टि से उसकी योग्यता महान और अध्यात्म की दृष्टि से बाइबिल की योग्यता महान। इन दोनों गुणों का सुभग समन्वय तुलसीरामायण में हुआ है।

राजनैतिक कैदियों के लिए एक सहूलियत यह थी कि पढने के लिए किताबें मिलती थीं। जेल का अफसर मांगी हुई पुस्तकों को देखकर आपत्तिजनक पुस्तकों पर रोक लगाता और देने जैसी किताबें दे देता। मेरी मांगी हुई किताबों पर कभी रोक नहीं लगी, क्योंकि मैं तो गीता, उपनिषद ऐसी ही पुस्तकें मंगवाता। एक दिन किसी ने कहा, हम सत्रह किताबें मांगते हैं, तब उनमें से एक-दो मिलती हैं और विनोबा की सबकी सब किताबें मंजूर होकर आ जाती हैं। मैंने कहा, यह सरकार मूर्ख है। खतरनाक क्या है, उसकी उसे कोई पहचान ही नहीं है। अक्ल होती तो उपनिषद-गीता को सरकार जरूर रोकती। गीता का आधार नहीं होता तो

अंग्रेज सरकार के लिए महा खतरनाक गांधी गांधी न बनते, तिलक तिलक न बनते, श्रीअरविंद अरविंद न बनते। जिन ग्रंथों में जीवन का अधिष्ठान है, वे ही ग्रंथ जुल्मी सत्ता में बारूद लगा सकते हैं।

सिवनी जेल में राजनैतिक कैदियों को अपने रिश्तेदारों को पत्र लिखने की इजाजत थी, लेकिन दूसरे किसी को नहीं लिख सकते थे। मुझे यह आप-पर भेद मान्य नहीं था, तो मैंने वहां से तीन साल किसी को पत्र ही नहीं लिखा।

एकबार जेलर मेरे पास आकर बैठ गये और पूछने लगे कि क्या आपके जीवन में दुःख जैसी कोई चीज ही नहीं है? मैं आपको हमेशा आनंद में देखता हूं। मैंने कहा, दुःख है, पर वह कौनसा दुःख है, यह आप ही ढूंढिए। मैं आपको सात दिन का समय देता हूं। एक हफ्ते के *बाद जेलर आये और कहने लगे, मुझे तो कुछ मिला नहीं था, आप ही* बताइए, कौनसा दुःख आपको है। मैंने कहा, इस जेल में सूर्योदय और सूर्यास्त का दर्शन नहीं होता, यह मेरा सबसे बडा दुःख है।

जेल में चिंतन तो चलता ही रहता। मुझे याद है, व्यक्तिगत सत्याग्रह के बाद जब मैं जेल से छूटकर आया और बापू से मिला, तब उन्होंने कहा था, "विनोबा, यह अंतिम जेलयात्रा नहीं है, फिर से जेल में जाना पडेगा।" और फिर मुझसे पूछा था, जेल से क्या कुछ नया सोच कर आये हो? मैंने कहा, जी हां, सोचा है। मुझे सारी संस्थाओं से मुक्त होना है। उसके बिना अहिंसा में मेरी आगे गति नहीं होती। तब वे तुरंत बोले, बहुत ठीक कहा। फिर उन्होंने अपनी मौलिक भाषा में मेरी बात का तरजुमा किया – यानी तू सब संस्थाओं की सेवा करेगा, लेकिन पद नहीं स्वीकारेगा। नजदीक ही आशादेवी बैठी थीं। उन्होंने आशादेवी से कहा, अच्छा है, विनोबा मुक्त हो जाये; यदि तमाम उपाधियों से मुक्त होकर चिंतन हो, तो परिणाम अच्छा आता है। उपाधियां सिर पर ओढकर चिंतन करते हैं, तो वह चिंतन मुक्त नहीं होता। परिणाम यह होता है कि किसी नयी चीज की शोध नहीं होती। बापू की मुहर लग गयी इसलिए बाद में किसी की बहुत चली नहीं। बापू ने ही सब संस्थावालों को मेरी तरफ से समझा दिया।

42 के आंदोलन में अंतिम बार जेल की यात्रा हुई और 45 में जेल से मुक्त हुआ। उस समय भी चिंतन हुआ था और मैंने सोच लिया

था कि अंत्योदय के लिए मुझे भंगीकाम करना है।

* *

हरिजन-उपासना

अगर कोई यह कहेगा कि यह शख्स हरिजनों को भूल गया, तो मैं कहूंगा कि फिर हरिजनों को याद रखनेवाला शायद ही दूसरा कोई होगा। सर्वोदय में अंत्योदय और हरिजनों की सेवा आती ही है। लेकिन मुझे यह पसंद नहीं कि हरिजनों की अलग से सेवा की जाये; क्योंकि अगर केवल हरिजनों की सेवा करेंगे, तो गांव में पहुंचने पर लोग कहेंगे, 'यह आया हरिजन-सेवक'। 'यह आया रे हरिजनवाला', 'यह आया रे खादीवाला' ऐसे बंटे हुए, कटे हुए सेवकों से हमारा काम नहीं चलेगा।

अगरचे मैं इस प्रकार मानता हूं, हरिजनों से एकरूप होने के लिए मैंने खास तौर से वर्षों तीन काम किये – (1) भंगीकाम, (2) चमडे का काम, (3) बुनाई का काम।

हरिजन-कार्य के साथ मेरा बहुत ही पुराना संबंध रहा है। इस कार्य का श्रीगणेश साबरमती आश्रम में हुआ (1918 में)। आरंभ के दिनों में वहां भी भंगी रखे जाते थे। उन्हें कुछ पारिश्रमिक दिया जाता था। जब मुख्य भंगी बीमार हो जाता था, तब उसी का लडका वह काम करता था। एकबार ऐसा ही हुआ। बेचारा भंगी का एक छोटा-सा बच्चा मल-मूत्र से भरी बालटी लेकर खेतों के गढे में डालने जा रहा था। उससे वह बालटी ढोयी नहीं जा रही थी। वह परेशान था, रो रहा था। मेरे छोटे भाई बालकोबा को उसे देखकर दया आयी और वह उसी समय लडके की मदद में पहुंच गया। बाद में बालकोबा ने मुझसे पूछा कि मैं भंगी-काम करना चाहता हूं, क्या इसमें आपकी सम्मति है? मैंने कहा, बहुत अच्छा, तुम यह काम करो और मैं भी तुम्हारे साथ आऊंगा। मैं उसके साथ जाने लगा। और सुरेंद्रजी भी हमारे साथ आने लगे। इस तरह भंगी-काम करना शुरू हो गया। ब्राह्मण लडकों का भंगीकाम करना एकदम नयी बात थी। बा को यह बात बिलकुल पसंद नहीं आयी। उन्होंने बापू के पास शिकायत की। बापू ने उन्हें समझाया कि ब्राह्मण होकर भंगी-काम करे, इससे बढकर दूसरी कौनसी अच्छी बात हो सकती है? इस तरह भंगी-काम का प्रारंभ करने में बालकोबा की मुख्य तपस्या रही है और सुरेंद्रजी

सहायक रहे हैं। तभी से इस काम के साथ मेरा घनिष्ठ संबंध रहा है।

सन् 1932 में जेल से छूटने के बाद मैं वर्धा के नजदीक नालवाडी नाम के गांव में जा बैठा।* वहां 95 घर हरिजनों के थे और पांच दूसरे थे। वहां हरिजन-सेवा शुरू कर दी। वहां गांव का उद्योग हाथ में लेने के लिए, मरे जानवरों का चमडा उतारने का काम सीखना जरूरी हो गया। तब हमने उस काम का प्रशिक्षण पाने के लिए दो ब्राह्मण लडकों (सर्वश्री वालुंजकर और रानडे) को भेजा। उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडा। उन कठिनाइयों के बावजूद वे उसमें प्रवीण हो गये। फिर दोनों ने मिलकर नालवाडी में चर्मालय चलाया (1.7.1935 से)।

फिर सन् 1946 में तो मैंने भंगी-काम करने का संकल्प ही कर लिया था। तीन साल के कारावास के बाद जेल से छूटकर जब बाहर आया (1945) तब बाहर की दुनिया का जो पहला प्रकाश देखा, उसे भूलना असंभव है। मैंने क्या देखा? नागपुर-इतवारी स्टेशन के नजदीक रेल्वे-लाईन के मैदान में पांच-पचास लोग दिन-दहाडे सारी शरम छोडकर शौचविधि कर रहे हैं। जेल से छूटने के बाद का मेरा यह पहला दर्शन था। मेरे मन पर इसका तीव्र असर हुआ। इसी के परिणामस्वरूप मैंने सुरगांव में सतत बीस महीने सूर्य की नियमितता से भंगी-काम किया। उन दिनों मैं पवनार में रहता था। वहां से तीन मील दूर सुरगांव में मैंने भंगी-काम करना शुरू कर दिया। रोज सुबह कंधे पर फावडा लेकर निकलता। आने-जाने में डेढ-दो घंटे लग जाते। वहां घंटा-डेढ घंटा काम करके वापस आता था। बीच में बीमारी के कारण तीन दिन नहीं जा सका। बाकी प्रतिदिन जाता था। सर्दी, गरमी, वर्षा – किसी भी ऋतु में मेरा यह क्रम भंग नहीं हुआ।

एक बार जोरों से बारिश आयी। सारे रास्ते में कमरभर पानी हो गया था। बीच में एक नाला है। उसे पार कर सुरगांव में जाना होता है। नाले में जोरों से पानी बह रहा था, उसे पार करना संभव नहीं था। नाले के किनारे खडे होकर मैंने गांव के एक आदमी को पुकारा। उससे कहा

* 1933 में बापू ने पत्र में लिखा था – तुम्हारी भक्ति और श्रद्धा आंखों में आनंदाश्रु लाती हैं। तुम महान सेवा का निमित्त बनोगे। नालवाडी में रहने लगे हो, यह बहुत अच्छा हुआ। – सं.

– "मंदिर में भगवान को बता दो कि गांव का भंगी आया था, पर नाले में पानी होने से गांव में नहीं आ सका।" उसने कहा, जी हां, बताऊंगा। मैंने पूछा, क्या बताओगे? बोला, पुजारी से कहूंगा कि बाबाजी आये थे। मैंने कहा, तुम गलत समझे हो। भगवान से कहना है और यह कहना है कि गांव का भंगी भंगी-काम करने आया था, पर पानी होने से गांव में नहीं आ सका। फिर मैं लौटा।

यह मैंने क्या किया? रास्ते में कमरभर पानी था और जाहिर था कि हम गांव में नहीं जा सकते थे, फिर भी निश्चय किया कि वहां पहुंचे *बिना नहीं लौटना है। वह उपासना थी।* सुबह के पांच-छः घंटे हमारे उस काम में जाते थे। कभी लोग सलाह-मशविरा करना चाहते थे तो उनसे कह दिया था कि ग्यारह बजे के पहले समय नहीं है। क्योंकि वह भंगी-काम का – उपासना का समय था। लोगों की दृष्टि से यह छोटा काम है, लेकिन मैंने एक दिन भी छुट्टी नहीं ली; क्योंकि मैं उसे उपासना समझता था। लोगों ने पूछा कि आपका यह कार्यक्रम कब तक चलेगा? मैंने कहा कि मेरा यह कार्यक्रम बीस साल का है, तब तक पीढी बदलेगी; क्योंकि यह मनोवृत्ति बदलने की बात है। पौने दो साल तक काम चला। उसके बाद गांधीजी गये तो दूसरे काम में आना पडा।

भंगी-काम के साथ-साथ मैं कई बातें सिखाता था। खास कर बच्चों को सिखाता। बच्चे आकर कहते, बाबा, आज हमने मैले पर मिट्टी डाली। फिर मैं उनके साथ देखने जाता। एक दफा गांव में गणपति-उत्सव था। उस दिन सारा गांव साफ-सुथरा दीख पडा। मेरे लिए कुछ काम ही नहीं था। क्योंकि उसके पहले दिन गांववालों ने तय किया था कि कल पवित्र दिन है तो हम सब भंगी-काम करेंगे और पूरा गांव उन लोगों ने साफ कर दिया। यह देखने पर मुझे लगा कि क्रांति हो चुकी। आज गांधीजी होते तो मैं सुरगांव में भंगी-काम ही करता होता।

* *

गो-उपासना

हमने ये सब रचनात्मक काम उठाये और उन्हें अपनी शक्ति के मुताबिक करते भी रहे। लेकिन किसी भी काम में शुद्ध चित्त की इतनी अधिक आवश्यकता मालूम नहीं हुई जितनी गो-सेवा के काम में मालूम होती है। यह काम प्रेम-वृद्धि का काम है। प्रेम बढेगा तो काम बढेगा,

गाय की तरक्की होगी। मनुष्य के प्रेम पर गाय की तरक्की निर्भर है। इसलिए बहुत जरूरी है कि गोसेवकों को गाय जितना ही गरीब बनना चाहिए। जिस गाय की वे उपासना करते है, उसी के जैसा स्वभाव उनका बनना चाहिए। गाय के प्रति मेरी जो भावना है, उसी के अनुरूप मैंने 'उपासना' शब्द का प्रयोग किया है। न पालन कहा, न सेवा ही।

आश्रम के लिए दूध की आवश्यकता मानी गयी और उसके निमित्त गोरक्षण शुरू हुआ। तब से आज तक यह स्थूल कार्यक्रम चल रहा है, विकसित हो रहा है। परंतु उसके पहले दूध पीना छोडकर गाय की सेवा करने के विचार से मैंने जीवन में तीन दफा दूध छोडने का प्रयोग किया। एक दफा दो साल के लिए, दूसरी दफा तीन साल के लिए, तीसरी दफा दो साल के लिए। सात साल प्रयोग किया। उसमें सफलता नहीं मिली। आखिर मैंने वह छोड दिया। उसी को जीवन का प्रधान कार्य समझकर एकाग्रता से प्रयोग किया गया होता, तो संभव है कि उसमें सफलता मिलती। लेकिन हमने तो आश्रमों में तरह-तरह के काम किये, उन्हीं में यह एक था। दूध न लेने के कारण शरीर बहुत क्षीण हो गया। बापू को पता चला तो उन्होंने भी कहा कि यह काम तो ऐसा है, जिसमें एकाग्रतापूर्वक लगकर प्रयोग करना चाहिए; अगर उसी को अपने जीवन का कार्य मानते हो तो अलग बात है, परंतु आज हमारे सामने ऐसे दूसरे जरूरी काम उपस्थित हैं, जिनमें हमको लगना होगा। इसलिए मैंने दूध लेना शुरू कर दिया और उनके साथ गो-उपासना की बात पर सोचने लगा।

हम लोग सुरगांव में काम करते थे। वहां हम एक तेल का कोल्हू चलाते थे और उसका तेल गांववालों को देते थे। एक कोल्हू में गांव का पूरा तेल नहीं होता था; तो दो कोल्हू चलाना शुरू कर दिया। सब तेल गांव में तैयार होगा तो फिर बाहर से तेल नहीं आयेगा। मगर सवाल पैदा हुआ कि जो खली बनती है, उसका क्या करें? क्योंकि गांव में उसकी मांग थी नहीं। फिर जितनी खली तैयार होती थी उतनी गायें वहां रखने का निश्चय किया। इस तरह गो-सेवा को हमने वहां कोल्हू के साथ जोड दिया। हम खादी, कोल्हू और गाय, इन सबको मिलाकर सोचेंगे तब हमारी योजना असफल और अर्थहीन नहीं, बल्कि अर्थयुक्त और सफल होगी।

बहुत पहले (1932-34) जब हम वर्धा तहसील में ग्रामसेवा में लगे हुए थे तब एक दफा चार महीने पवनार गांव में रहा था। वहां मैं

देखता था, बहुत गायें गांव में थीं। उनके दूध का मक्खन बनाया जाता और लोग उसे सिर पर लेकर वर्धा जाते थे। वहां के व्यापारियों का, सबका मिलकर एक दाम तय रहता था। उसी दाम में वे मक्खन खरीदते थे। उनको मक्खन बेचकर ये लोग कपडा खरीद कर लाते थे। वह पैसा भी व्यापारियों के पास ही जाता था। व्यापारी इनसे सस्ते दाम में खरीदते और शहर में महंगे दाम में बेचते। इस तरह सब प्रकार से पैसा व्यापारियों के हाथ में देना पडता। वह देखकर मुझे मंत्र सूझा – '**मक्खन खाओ, कपडा बनाओ ।**' जो मक्खन खाने की चीज है उसे बेचना पडता है, वह ठीक नहीं। अपना कपडा खुद सूत कातकर गांव में बनाओ, तो मक्खन बेचना नहीं पडेगा। मक्खन गांव में बच्चों को, कमजोरों को खिलाओ। तुलसीदासजी ने कहा है – '**पराधीन सपनेउ सुख नाहीं**' – पराधीन को सपने में भी सुख नहीं मिलता। इसलिए 'मक्खन खाओ, कपडा बनाओ'।

* *

शांति-उपासना

बापू के जाने के बाद सन् 1948 में सेवाग्राम में गांधी-परिवार इकट्ठा हुआ था। इधर मेरा चिंतन तो चल ही रहा था कि अब मेरा कर्तव्य क्या है और मेरे ध्यान में आया कि मुझे अपना स्थान छोडना पडेगा। सेवाग्राम के उस सम्मेलन में पंडित नेहरू की स्थिति देखकर और उनकी ओर से मांग होने पर मैंने जाहिर किया कि मैं निराश्रितों की सेवा के लिए प्रयोग के तौर पर छः महीने दूंगा। उस समय कुछ रचनात्मक कार्यकर्ताओं ने पंडित नेहरू आदि राजनैतिक नेताओं के समक्ष रचनात्मक काम के लिए सरकारी मदद की अपेक्षा व्यक्त की थी। पर मैंने, खास कर पंडित नेहरू को संबोधित करके, कहा कि मैं आपसे किसी प्रकार की मदद की अपेक्षा नहीं रखता, फिर भी आपके काम में कुछ मदद कर सका, तो मुझे खुशी होगी।

इसवास्ते मैंने थोडे साथियों के साथ निराश्रितों को बसाने का काम किया। इन छः महीनों में हम लोगों ने जो मजा देखा, उसका समग्र वर्णन करना हो तो एक ग्रंथ ही लिखना पडेगा। मुझे 'लियेजां' (मध्यस्थ) का काम करना था। अपनी भाषा में इसे नारदमुनि कह सकते हैं। यहां का वहां पहुंचाना और वहां का यहां। मैंने देखा, पंडितजी कहते थे एक

बात और जिनके मार्फत वह करवाना था, उनके विचार भिन्न थे, इसलिए वह बनती नहीं थी। मैं कुछ कहता तो पंडितजी कहा करते कि यह मुझे मान्य ही है और इस बारे में तीन महीने पहले आदेश निकाल चुका हूं। फिर भी उस पर अमल नहीं होता था। उन दिनों मैंने बहुत मेहनत की। काम कुछ हुआ भी। लेकिन मुझे वह चीज नहीं मिली, जिसकी तलाश में मैं था। तो छः माह के बाद मैं वहां से निकल आया। दिल्ली से मैं मेवों के पुनर्वसन के कार्य के लिए हरियाणा-राजस्थान गया, लेकिन वहां भी मुझे यह नहीं लगा कि इससे हमारा मतलब सधेगा। मुझे लगा था कि निराश्रितों और मेवों को बसानें के काम में अहिंसा की कुछ शक्ति प्रकट हो सकती है। ऐसा कोई तरीका हाथ में आना चाहिए, जिसे अहिंसात्मक क्रांति का, सर्वोदय का क्रियात्मक आरंभ कहा जा सके। मैंने समझ लिया था कि अगर यह हो सके तो खादी-ग्रामोद्योग का काम भी आगे बढेगा, नहीं तो न कोई खादी को पूछेगा, न ग्रामोद्योग को ही। परंतु वह चीज मुझे वहां मिली नहीं।

उन दिनों हिंदू-मुसलमानों के बीच बहुत झगडे चल रहे थे। अजमेर में मुसलमानों को बडा खतरा मालूम हो रहा था। तो मैं सात दिनों तक वहां रहा। मैं रोज वहां के दरगाहशरीफ में जाता था। वह स्थान हिंदुस्तान का मक्का माना जाता है। मुसलमानों ने मेरा वहां बहुत प्रेम से स्वागत किया। मैंने सबको (हिंदू-मुसलमानों को) समझाया कि इस तरह झगडा करना ठीक नहीं। फलस्वरूप दोनों मान गये और मस्जिद में ही प्रेम के साथ बैठकर प्रार्थना की। दूसरे दिन नमाज के समय पुनः मैं वहां पहुंचा। देखा, सारे भक्तजन बहुत शांति से बैठे थे। उन लोगों का मुझ पर बडा ही प्रेम और विश्वास रहा। हरएक ने आकर मेरे हाथ का चुंबन किया। यह कार्यक्रम आधा-पौन घंटे तक चला।

लेकिन उस समय वहां एक भी स्त्री नहीं थी। आखिर मुझे चंद बातें कहने के लिए कहा, तब मैंने कहा – ''आपकी शांतिमय प्रार्थना देखकर मुझे बडी खुशी हुई। परंतु मैं यह न समझ सका कि ईश्वर की प्रार्थना में स्त्री-पुरुष का भेद क्यों कायम रखा जाता है? मुसलमानों को अपने रिवाजों में इतना सुधार करना ही होगा।''

छः महीने के इस काम के अनुभव के बाद वहां से निकल पडा

और वापस पवनार आ गया।

* *

कांचनमुक्ति का प्रयोग

सन् 1949-50 का समय। मेरे मन में धन के बारे में तिरस्कार ही उत्पन्न हो गया था। वैसे वह था पहले से ही, और अपने जीवन में धन-मुक्ति का अमल मैं करता आया, लेकिन सार्वजनिक संस्थाएं भी अपरिग्रही हों, पैसे का 'छेद' ही हो जाये और इस प्रयोग में देह समर्पित हो, ऐसा लगने लगा। मैंने कहा था कि मेरा विचार जिन्हें जंचेगा वे भी इस प्रयोग को आजमाकर देखें। आजमाना यानी असफलता लेना, ऐसा कतई नहीं। सफलता ही लेना – सदेहावस्था में या विदेहावस्था में। उसके लिए जीवन-परिवर्तन की आवश्यकता है।

मैं दो-चार दिनों के लिए महिलाश्रम में ठहरा था। वहां से बिहार जाने का मेरा कार्यक्रम था। लेकिन स्वास्थ्य ठीक नहीं था, पेट में दर्द होने लगा, इसलिए बिहार का मेरा कार्यक्रम स्थगित कर दिया गया। मैं वापस पवनार आया और वहां जाहिर कर दिया कि आज समाज में विषमता और उत्पात का एक मुख्य कारण है पैसा। पैसा हमारे सामाजिक जीवन को दूषित करता है। इसलिए जीवन में से पैसे का उच्छेद करना आवश्यक है। हम यहां स्वावलंबन के प्रयोग करनेवाले हैं। संतों ने आध्यात्मिक साधना के लिए तो कांचन का निषेध किया ही है। आज व्यावहारिक जीवन को शुद्ध बनाने के लिए भी कांचन का निषेध जरूरी लगता है। अब हमारा कांचन-मुक्ति का प्रयोग शुरू होगा। मैंने यह भी कह दिया कि प्रारंभ के तौर पर 1 जनवरी 1950 से आश्रम में सब्जी पैसे से खरीदी नहीं जायेगी। उस समय मेरे पास कुछ शिक्षित जवान इकट्ठा हुए थे। सब मिलकर इस प्रयोग में जुट गये।

सब्जी की खेती शुरू हो गयी। कुएं से पानी लेना था। कुएं पर रहँट था। हम लोग ही उसको चलाते थे। रहँट को सीने तक की ऊंचाई की आठ-आठ बल्लियां लगायी थीं। एक-एक बल्ली पर दो-दो व्यक्ति, इस प्रकार सब मिलकर रहँट चलाते थे। हमारी प्रार्थना रहँट चलाते हुए ही होती। गीताई का पाठ भी रहँट चलाते-चलाते होता – गीताई के सात-सौ श्लोक पूरे हुए यानी सात-सौ चक्कर पूरे हुए। एकबार

जयप्रकाशजी मुझसे मिलने आये। वे भी रहँट चलाने में शरीक हो गये और बहुत प्रेरणा लेकर गये।*

जितनी जमीन हमने प्रयोग के लिए ली थी उतनी पर पूरा उत्पादन नहीं हो रहा था, इसलिए और थोडी जमीन ली। वहां पानी का प्रबंध नहीं था। एक दिन मैं उठा, कुदाली-फावडा लेकर उस खेत में जा पहुंचा और कुएं के लिए जमीन खोदना प्रारंभ कर दिया। फिर तो सभी उसमें जुट गये। ये सारे जवान तगडे लोग थे। पर मैंने देखा, मुझसे दुगुनी ताकतवाले ये बच्चे मुझसे आधा काम करते थे, क्योंकि मेरा सारा काम गणित से चलता था। शांति से थोडी देर खोदकर बीच-बीच में कुछ सैकंड रुकता था। लेकिन दूसरे तगडे जवान जोर-जोर से कुदाली चलाते और फिर थककर रुक जाते। तो कुल मिलाकर उन्हें मुझसे ज्यादा आराम करना पडता। कुदाली चलाते समय भी मैं वैज्ञानिक ढंग से चलाता। मैंने देखा कि हमारे औजारों में बहुत सुधार करना जरूरी है। मेरी हर क्रिया में गणित रहता है और मुझे विश्वास हो गया है कि मैं मरूंगा तो भी गणित से मरूंगा।

कुएं का पानी खेत को पहुंचाने के लिए हमने एक नाली बनायी थी। हम सभी उस काम में नये थे। मेरे साथ काम करनेवाले सभी कालेज के विद्यार्थी थे और मैं ऐसा था, जिसे शरीरश्रम की प्रीति थी, लेकिन उस बारे में कोई ज्ञान नहीं था। तो हमने एक नाली बनायी और कुएं का पानी उसमें छोडा खेत के लिए, लेकिन पानी खेत तक पहुंचता ही नहीं था। हमारे ध्यान में नहीं आता था कि ऐसा क्यों हो रहा है। निरीक्षण और अनुभव से ध्यान में आया कि खेत की सतह दो इंच ऊंची है, नाली की नीची है, इसलिए पानी नाली ही पी जाती है और बहुत थोडा पानी खेत को पहुंचता है। इसकी मिसाल देकर मैं कहता हूं कि भारत सरकार की योजनाओं की स्थिति ऐसी ही है। बहुत-सा पानी बीच की नाली ही पी जाती है।

परंधाम की इस 'ऋषि-खेती'** ने सबका ध्यान खींच लिया था। एकबार वहां खानदेश के किसान कार्यकर्ताओं का एक शिविर हुआ। वे

* जे पी. ने कहा था – "मैंने वहां प्रकाश की किरण देखी।" – सं.

** बैलों की सहायता के बिना की खेती, जैसे प्राचीन काल में ऋषियों ने की थी।

लोग अनुभवी किसान थे, खेती की उत्तम जानकारी रखते थे। उन्हें परंधाम की खेती इतनी पसंद आयी कि कहने लगे कि हमारे खेतों में भी हम इसका प्रयोग करेंगे।

जब ऋषि-खेती की बात मैंने सुझायी थी, तब लोगों को उसमें उतना यकीन नहीं था। एक तो शंका थी कि बिना बैलों की मदद के हाथों से खेती करने में बहुत ज्यादा मेहनत करनी पडेगी। शायद इनसान की ताकत के बाहर वह चीज होगी। दूसरी शंका थी, उपज के बारे में – उपज अधिक नहीं हो सकेगी, कुल मिलाकर सौदा बहुत महंगा पडेगा। लेकिन मेरे कहने पर हमारे जवानों ने यह काम उठा लिया। और दो साल प्रयोग करके जो परिणाम निकला, वह लोगों के सामने रखा।

परंधाम के आसपास के खेतों में जो मजदूर खेती के काम के लिए बुलाये जाते थे, उन्हें आठ घंटे के काम के लिए आदमी को 13 आने और औरत को 7 आने के करीब दिया जाता था। दोनों का औसत निकालें तो 10 आना आता है, यानी घंटे का सवा आना। उसके तिगुनी से भी ज्यादा मजदूरी ऋषि-खेती में मिली। लेकिन यह तिगुनी नहीं मानना चाहिए। क्योंकि परंधाम में जो काम करते थे, वे ही मजदूर और वे ही मालिक थे। दोनों हैसियतें मिलकर उनको चार आने घंटा मजदूरी मिली। मालिक मजदूर को जितना देता होगा, उससे अधिक, आज (1953) की हालत में नहीं कमाता होगा। इसलिए मालिक और मजदूर, दोनों नाते जहां इकट्ठा हुए वहां दुगुनी मजदूरी की आशा हम कर सकते हैं। माने इसके ये हुए कि बैल की खेती से डेढ गुना कमाई ऋषि-खेती ने की है।

अगर आबपाशी की सुविधा हो तो ऋषि-खेती काफी उपज देगी, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है। और जहां मनुष्य अपने शरीर से ही काम करता है, वहां वह कितना निश्चिंत होता है! भगवान ने कहा ही है – **'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'।**

ऋषि-खेती का ऋषभ-खेती से कोई विरोध नहीं है। विरोध होने का कारण भी नहीं है। परंधाम में दोनों प्रयोग चल रहे हैं। इतना ही नहीं, नदी के पानी का उपयोग कर लेने के लिए इंजीन का भी प्रयोग चल रहा है। यह बात मुझे कतई मान्य नहीं कि बैलों को बेकार रखकर इंजीन का सबदूर इस्तेमाल हो, फिर भी विशेष परिस्थिति में नदी का पूरा उपयोग

कर लेने के लिए प्रयोग के तौर पर इंजीन को भी मैंने मान्यता दी है। **'सर्वेषां अविरोधेन'**, यह समन्वय का सूत्र है। बैल हमारे कुटुंब का अविभाज्य अंग है, यह बात ध्यान में रखकर, उसे बाधा न पहुंचे इस मर्यादा में एक ओर ऋषि-खेती और मर्यादित पैमाने पर आधुनिक सुधरे औजार, इनका उपयोग करना है। सारांश, ऋषि-खेती, ऋषभ-खेती और इंजीन की खेती, तीनों विभाग परंधाम में इकट्ठा काम कर रहे हैं। ऐसे हिम्मत के प्रयोग हम कर रहे हैं।

इस प्रयोग में आज की बेकारी के मसले का आंशिक हल है। साधनहीन किसानों के लिए कुछ साधन है। खेती के गहरे प्रयोग के लिए सहूलियत है। और नयी तालीम के लिए वरदान है। इसके अलावा अहिंसा की बहुत दूरदृष्टि इसमें है। मनुष्य की संख्या बढ रही है। इसलिए हरएक मनुष्य के पीछे जमीन उत्तरोत्तर कम ही मिलनेवाली है। 'मांसाहारी डेढ एकर जमीन खाता है, दुग्ध-मिश्र अन्नाहारी पौन एकड खाता है, और दुग्ध-मुक्त अन्नाहारी को आधा एकड जमीन बस होती है।' इस हिसाब की महिमा दिन-ब-दिन मनुष्य के ध्यान में आनेवाली है।

दुनिया में अगर किन्हीं दो शक्तियों का मुकाबला होनेवाला है तो वह साम्यवाद और सर्वोदय-विचारों में होनेवाला है। दूसरी जो शक्तियां दुनिया में काम करती दिखायी देती हैं, वे ज्यादा दिन टिकनेवाली नहीं हैं। मुख्यतः ये ही दो विचार हैं, जिनके बीच मुकाबला होगा; क्योंकि इनमें साम्य भी बहुत है और विरोध भी उतना ही है। जमाने की मांग भी यही है। हमें इस सर्वोदय-विचार को सिद्ध करना होगा कि कांचन-मुक्त समाजरचना हो सकती है, सत्तारहित समाज बन सकता है। चाहे छोटे पैमाने पर ही क्यों न हो, हमें ऐसा नमूना दिखाना होगा। तभी साम्यवाद के मुकाबले में टिक सकेंगे।

मैंने उस समय कहा था कि इस वक्त लोगों को सांत्वना की बहुत जरूरत है। जिस प्रकार किसी का चित्त संत्रस्त हो गया हो और फिर उससे छुटकारा पाने योग्य कोई मनोविनोद का साधन उसे मिले तो उसे सांत्वना मिलती है, उसी तरह का हाल आम जनता का हो रहा है। इसमें अमुक किसी का दोष नहीं है। सबका मिलकर ही दोष है। परंतु दोषों की चर्चा भी किस काम की? दोष-निवारण की जरूरत है और उसका सीधा, सरल, सबके लिए सुलभ और परिणामकारी मार्ग वही है, जिसे हमने

यहां परंधाम में अपनाया है। इसलिए यद्यपि उसने हमारी इच्छा के अनुरूप रूप अब तक नहीं लिया है, तथापि अच्छी भावना से तपस्या हो रही है और उतनी भी उकताये हुए मन को संतोष दिला सकती है।

मैं हमारे साथियों से बार-बार कहता था कि यदि यह काम ठीक-ठीक रूप धारण कर ले, तो हम सबकी चित्तशुद्धि होगी और समाज को भी कुछ शुद्धि प्राप्त होगी। तेलंगाना की यात्रा पूरी कर जब मैं वापस परंधाम आया तब भी मैंने यहां के साथियों के समक्ष बोलते हुए कहा था कि यात्रा में मेरी वाणी में जो आत्मविश्वास प्रकट हुआ, उसका आधार यहां का काम है। इस जगह जो प्रयोग हो रहा है – प्रचलित समाजव्यवस्था पर कुठाराघात – उसे अगर हम अच्छी तरह पूरा कर सकें, तो निःसंदेह संसार का रूप पलटनेवाला है। और इस बात का महत्त्व जितना मुझे मान्य है, उतना ही इस बात का विचार करनेवाले दूसरे किसी को भी मान्य होगा।

और यह जो मेरा काम है, यह आश्रम तक ही सीमित नहीं है। आश्रम में मैं दही बना रहा हूं। यह तैयार होने पर उसे बहुत-से दूध में मिलाना है और उसका भी दही बनाना है, ऐसी कल्पना है। पहले यह प्रयोग देहात में बांटना है, और देहात में उसकी सिद्धि किस मात्रा में होती है इसका अनुभव प्राप्त करने पर, फिर उसे सारे देश के सामने रखना है। इस तरह रामराज्य स्थापित करना, ऐसी यह बहुत बडी प्रतिज्ञा मन में है। यह बात बहुत बडी है। लेकिन इससे छोटी बात ईश्वर मुझसे नहीं कहलवाता, इसमें मेरा कोई उपाय नहीं है।

कल्पना यह थी कि मुख्यतः यहां का काम कुछ आकार ले ले और उसके बाद मैं बाहर जाऊं। शायद बाहर जाने की जरूरत भी न रहे। परंतु इस बीच हैदराबाद (शिवरामपल्ली) सम्मेलन के लिए जाने की बात बन गयी, तो वह भी परमेश्वर की इच्छा से ही प्रेरित हुई, ऐसा मैंने देखा, क्योंकि बिलकुल अनपेक्षित रूप से सबकुछ हुआ।

---

3 : वियुक्तः

सन् 1951 से 1970

3 : वियुक्तः

सन् 1951 से 1970

धर्मचक्र-प्रवर्तन

(पदयात्रा-काल)

प्रसुप्त भावना

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद और विशेष कर गांधीजी के निर्वाण के बाद, हमें किस तरह प्रगति करनी चाहिए, क्या रास्ता लेना चाहिए, इसका बहुत मंथन मेरे दिल में चल रहा था। उन्हीं दिनों ट्रेन में प्रवास करना हुआ और वह भी ऊंचे दर्जे में, जो जीवन में, किसी भी कारण से क्यों न हो, पहली बार मुझे करना पडा था। हिंदुस्तान के आधे से अधिक हिस्से में घूमना हुआ। जिनके कामों और स्थानों को मैंने सिर्फ कानों से सुना था, उनके कामों का दर्शन हुआ। लाभ जरूर हुए। लेकिन निरंतर चिंतन चलता रहा। क्या इस तरह घूमता रहूं तो अहिंसा को गति हम दे सकते हैं? जो परिवर्तन समाज में लाना चाहते हैं, वह ला सकते हैं? आखिर वह जो प्रवास था, वह भी कोई अहिंसा के आधार से होता था ऐसी बात नहीं। रेल्वे बनी किस तरह? जिन पैसों के आधार पर हमने प्रवास किया वे आये कहां से? इत्यादि सब बातें मन में आया करती थीं। यह भी लगता था कि ऐसे गतिमान साधन, जो कि विचार की गंभीरता नहीं बल्कि खलबली ही पैदा करते हैं, अहिंसा के प्रचार के लिए क्या काम देंगे? इन साधनों से क्या हम कभी आम जनता तक पहुंच सकते हैं?

इधर, गांधीजी के स्मरण में उनके कामों को चलाने के लिए एक निधि अर्थात् पैसा इकट्ठा किया जा रहा था और यह बात मुझे हृदयंगम नहीं हुई थी। गांधीजी के कामों के लिए ही क्यों न हो, लेकिन पैसा इकट्ठा करने से लाभ के बजाय हानि अधिक होगी, यह मेरे दिल में हमेशा लगता था।

हमारे आश्रम हमने किस तरह चलाये, उसका भी मैंने चिंतन किया। हमारा निज का जीवन किस तरह चला, वह भी सोचा। सब सोच करके इस नतीजे पर आया कि अब जमाना बदल गया है, युगपरिवर्तन हुआ है। अब जो काम करना है, वह बहुत गहरा है और अत्यंत कठिन है। राजनैतिक आजादी हमने प्राप्त कर ली। लेकिन अब उससे भी कठिन काम – सामाजिक और आर्थिक क्रांति का काम हाथ में लेना है। उसके लिए पुराने तरीके नहीं चल सकते।

जब (अप्रैल 1948) मैं शरणार्थियों और मेवों की सेवा में, पुनर्वसन के काम में लगा हुआ था, तब की बात है। पश्चिम पाकिस्तान से जो शरणार्थी आये थे, उनमें हरिजन बहुत थे। हरिजनों ने जमीन की मांग की। उनकी मांग मंजूर नहीं हो रही थी। इस बारे में कुछ चर्चा हुई। आखिर पंजाब सरकार की तरफ से आश्वासन दिया गया कि हम हरिजनों के लिए कुछ लाख एकड जमीन देंगे। यह आश्वासन राजेंद्रबाबू और दूसरे सज्जनों के समक्ष दिया गया, जिनमें मैं भी एक था। वह शुक्रवार का दिन था। उसके बाद मुझे प्रार्थना के लिए राजघाट जाना था। वहां मैंने जाहिर किया कि बहुत खुशी की बात है कि पंजाब की सरकार ने हरिजनों के वास्ते जमीन देना मान्य किया है, इसलिए मैं पंजाब की सरकार का अभिनंदन करता हूं।

परंतु उसके दो महीने बाद दूसरी ही बात सुनने को मिली कि यह हो नहीं सकता। इसके कई कारण होंगे, लेकिन हरिजन इससे बहुत दुःखी हुए। रामेश्वरी नेहरू को तीव्र वेदना हुई। वे मेरे पास आकर कहने लगीं कि हरिजन सत्याग्रह करना चाहते हैं, तो क्या उन्हें सत्याग्रह करने देना चाहिए? मैं सोच में पड गया। जो एक वादा किया गया, वचन दिया गया था, वह टूट गया था। मैंने हरिजनों से कहा कि "देश की आज की हालत में मैं आपको सत्याग्रह करने की सलाह नहीं दे सकता। आपको इस मसले पर मैं अभी मदद नहीं पहुंचा सकता, इसका मुझे दुःख है।" उनको मैंने यह जवाब दिया, लेकिन मेरे मन में यह बात, यह सुप्त भावना रही कि कोई ऐसी युक्ति सूझनी चाहिए, जिससे बेजमीनों को जमीन मिले।

मेव लोगों के पुनर्वसन का काम भी आ पडा। उसे टालना संभव ही नहीं था। उनका पुनर्वसन करना बापू का अवशिष्ट काम था। निर्वासितों की तुलना में यह एक छोटा काम था और खयाल यह था कि इस काम को ज्यादा समय लगेगा नहीं। परंतु जातीय वैमनस्य के कारण वैसा होनेवाला नहीं था। उसने दीर्घकाल लिया। उसके लिए जो भी प्रयत्न किया गया, उसमें मुख्य चिंता यह थी कि मेवों की ओर से किसी प्रकार का अत्याचार न हो। इस काम के लिए जिन कार्यकर्ताओं को नियोजित किया था, वे मंजे हुए, प्रेमल कार्यकर्ता थे। उनका संपर्क, उपदेश और प्रयत्न के कारण मेव लोगों से खास कोई अतिक्रम हुआ नहीं। इसलिए मेवों को बसाने का काम हो सका।

इधर हमारी रचनात्मक कार्यकर्ताओं की जमात भी सारी पस्त-हिम्मत-सी हो गयी थी। सरदार वल्लभभाई पटेल ने एक व्याख्यान में कहा कि हम खादी वगैरह रचनात्मक काम सतत करते हैं। पर आज कोई खादी को मानता नहीं। वे खुद रोज कातते थे और बडा महीन सूत कातते थे। उन्होंने अपने भाषण में कहा, गांधीजी की बात लोगों ने नहीं मानी तो हमारी कौन मानेगा? अब भारत आजाद हुआ है, तो हमको ऐसे उद्योग विकसित करने होंगे, जिनमें 'वार पोटेंशियल' (समर-बल) होगा। उनके 'वार पोटेंशियल' शब्द पर मैं सोचता रहा कि दुनिया में 'वार पोटेंशियल' की जितनी आवश्यकता है, उससे ज्यादा 'पीस पोटेंशियल' (शांति-बल) की है। इसलिए हमको ऐसे धंधे खडे करने होंगे, ऐसे कार्य खडे करने होंगे, जिनमें 'पीस पोटेंशियल' हो। मैं 'पीस पोटेंशियल' की बात सोचने लगा और तय किया कि उसके लिए एक दफा भारत की पदयात्रा करनी होगी। यह विचार मैंने अपने मन में रखा था, उसे प्रकट नहीं किया था। परंतु बहुत ही सहजता से वह अवसर प्राप्त हुआ।

* *

भूदान-गंगा का उद्‌गम

हैदराबाद के नजदीक शिवरामपल्ली में सर्वोदय सम्मेलन होनेवाला था। अगर ट्रेन से जाता तो वर्धा से हैदराबाद एक रात का सफर है। परंतु हमने पदयात्रा करने का तय किया (मार्च 1951)।

लोग जरूर पूछेंगे कि क्या ट्रेन या हवाई जहाज से नहीं जा सकते थे? मुझे तो आज हवाई जहाज जिस वेग से जाते हैं, उससे कहीं अधिक वेग से उडनेवाले हवाई जहाज चाहिए। उसमें हम जरूर जा सकते थे। परंतु हर बात का अपना-अपना स्थान होता है। चश्मे की कितनी ही महिमा क्यों न गायी जाये, आंख से अधिक महिमा उसकी हो नहीं सकती। वैसे ही हवाई जहाज और दूसरे वेग से जानेवाले साधन हम जरूर चाहते हैं, फिर भी पांव की जो प्रतिष्ठा है, वह है ही। पैदल यात्रा के जो लाभ हैं, वे हवाई जहाज से कभी मिलनेवाले नहीं हैं।

एक सज्जन ने मुझसे कहा कि एक दिन के काम के लिए आप एक महीने का समय लगा रहे हैं, तो आपका कार्यक्रम क्या होगा? मैंने जवाब दिया – मेरा कार्यक्रम यही रहेगा कि मैं रामनाम लूं और उसी

प्रकार दूसरों को भी लेने को सिखाऊं। क्योंकि मैं अपने में रामनाम के अलावा ऐसी दूसरी कोई भी ताकत नहीं देख रहा हूं, जिससे कि काम बन सके।

मैंने तय कर लिया कि घूमते समय मैं अपनापन यानी अपनी अमुक कल्पना कुछ भी नहीं रखूंगा। बिलकुल सहज भाव से जो होता जायेगा, उसे होने देने की अनुकूलता मैं देता रहूंगा। एक अमुक प्रकार की यात्रा करनी, अमुक बात सिद्ध करनी, ऐसा कुछ मेरे मन में नहीं था। जगह-जगह जो कोई सज्जन मिलेंगे, उनसे मेल-मुलाकात करूं और उस जगह के लोगों की कुछ कठिनाइयां हों, उनको हल करने का मार्ग सहज दिखा सकूं तो दिखाऊं, इतना ही मन में था। आगे का कोई विचार निश्चित नहीं हुआ था। वह वहां जाने पर निश्चित हो सकता था।

* *

पैदल यात्रा में प्रकृति का और लोगों का जैसा और जितना निकट से दर्शन होता है वैसा अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकता। यही अनुभव लेने के लिए हम पैदल निकले थे। मैं मानता हूं कि हमारे देश का जो दर्शन हमें हो रहा था, वह कल्पनातीत तो नहीं था, पर हम अगर पैदल यात्रा पर न निकल पडते तो वह न हो सकता था। देहात के लोगों में उत्साह होता है। शहरों में भी उत्साह कम नहीं। लेकिन देहात में एक विशेष ही भावना देखी, जिससे हमारा वहां पहुंचना कितना जरूरी था, इसका प्रत्यक्ष अनुभव आया। कोशिश यह रही कि छोटे-छोटे गांवों में मुकाम करें। जहां बन सका वहां गांव के घरों में भी घूम आया। यद्यपि मैं तेलुगु जानता हूं, तेलुगु में बात नहीं कर सकता। फिर भी तेलुगु का जितना कुछ ज्ञान था, प्रेमभाव बढाने में उसका बहुत उपयोग हुआ। प्रार्थना में स्थितप्रज्ञ के लक्षण मैं तेलुगु में बोलता था, तो मैंने देखा वे लक्षण उनके हृदय तक सीधे पहुंच जाते थे। और उनको महसूस होता था कि अपना ही एक भाई बोल रहा है। बहुत प्रेम से लोगों ने हमारा स्वागत किया।

कई देहात ऐसे मिले कि अगर हमें शिवरामपल्ली पहुंचने की आवश्यकता न होती तो वहीं चंद रोज रह जाने की इच्छा हो जाती। एक जगह देखना, वहां की कमियां महसूस करना, उनका हल हम कर सकते हैं ऐसा विश्वास करना और फिर भी उस स्थान को छोडकर आगे

बढना, यह अच्छा नहीं लगता था। फिर भी वह करना पडा। जहां-जहां हो सका वहां स्थानिक लोग ही काम करनेवाले निकलें, ऐसी कोशिश की। अनुभव का सार यह रहा कि हममें से हरएक के नाम पर एक देहात रहे और उसके साथ हमारा संपर्क बना रहे, तो बहुत भारी काम होगा।

* *

1949 में राऊ (म.प्र.) के सर्वोदय सम्मेलन में सब साथियों के दर्शन का सौभाग्य मिला था। उसके बाद शिवरामपल्ली में दूसरा अवसर (7 से 14 अप्रैल 1951) मिला। अत्यंत समाधान और अंतरानंद का अनुभव मुझे हुआ। उसके आगे मैंने सोचा कि अगर ईश्वर की इच्छा होगी तो तेलंगाना में, जहां कम्यूनिस्ट लोगों ने काम किया है और कुछ ऊधम भी मचाया ऐसा कहते हैं, उस सारे मुल्क में पैदल घूम लूं। वहां के कम्यूनिस्टों के प्रश्न के बारे में मैं बराबर सोचता रहा। वहां की खून आदि की घटनाओं के बारे में मुझे जानकारी मिलती रहती थी, फिर भी मेरे मन में कभी घबराहट नहीं हुई; क्योंकि मानव-जीवन के विकास का *कुछ दर्शन मुझे हुआ है। जब-जब मानव-जीवन में नयी संस्कृति निर्माण हुई तब वहां कुछ संघर्ष भी हुआ है, रक्त की धारा बही है।* तेलंगाना में शांति के लिए सरकार ने पुलिस भेज दी थी, लेकिन पुलिस कोई विचारक होती है, ऐसी बात नहीं है। पुलिस शेरों का शिकार कर हमें उन शेरों से बचा सकती है, लेकिन यह कम्यूनिस्टों की तकलीफ शेरों की नहीं, मानवों की है। उनका तरीका चाहे गलत क्यों न हो, उनके जीवन में कुछ विचार का उदय हुआ है, और जहां विचार का उदय होता है वहां सिर्फ पुलिस से प्रतिकार नहीं हो सकता।

तेलंगाना की प्रस्तुत समस्या के बारे में इस तरह सोचता था तब मुझे सूझा कि इस मुल्क में घूमना चाहिए। लेकिन घूमना हो तो कैसे घूमा जाये? जहां विचार की खोज करनी है या शोधन करना है, वहां शांति का साधन चाहिए। शंकराचार्य, महावीर, बुद्ध, चैतन्य, कबीर, नामदेव जैसे लोग हिंदुस्तान में घूमे, और पैदल घूमे। वे चाहते तो घोडे पर जा सकते थे, परंतु उन्होंने त्वरित साधन का सहारा नहीं लिया; क्योंकि वे विचार का शोधन करना चाहते थे। और विचार-शोधन के लिए सबसे उत्तम साधन पैदल घूमना ही है। इस जमाने में वह साधन एकदम सूझता नहीं, परंतु शांतिपूर्वक विचार करें तो सूझेगा कि पैदल चले बिना चारा

नहीं। मैंने तय किया कि उस सारे इलाके में मैं पैदल घूमूंगा।

* *

तेलंगाना में कम्यूनिस्टों के हृदय तक पहुंचने की जितनी कोशिश हो सकती थी, उतनी मैंने की। कम्यूनिस्ट नेता हैदराबाद जेल में थे। उनसे मुलाकात करने की सहूलियत हमने सरकार से मांगी थी। सरकार ने मंजूर कर लिया और रामनवमी (15 अप्रैल 1951) के दिन उनके साथ दो घंटे बातचीत हुई। मेरा मानना है कि जेल में तथा हमारी यात्रा में जिनसे बात करने को मुझे मिला उनको और जिनके कानों तक मेरी बात पहुंची उनको इतना तो निःसंदेह यकीन हुआ होगा कि यह मनुष्य उनका भी भला चाहता है।

वहां मुझे तीन प्रकार के लोगों से बातें करनी पडीं, कम्यूनिस्ट आतंकवादियों से, गांव के श्रीमानों से तथा आम जनता से। मैंने कम्यूनिस्टों को यही बताया कि तुम्हारे जो दावे हैं, वे कोई भी कौम अभी तक सफल नहीं कर सकी है और कब करेगी, इसका भी कोई भरोसा नहीं है, यह एक बात तो कम से कम कबूल कर लो। दूसरी यह बात भी समझ लो कि हर हालत में चाहे हिंसा को खंडित न किया जाये, कुछ हालतों में उसे मान्य भी कर लें; फिर भी स्वराज्यप्राप्ति के बाद, और जबकि 'एडल्ट फ्रेंचाईज' (बालिग मताधिकार) दिया गया है उसके बाद, शस्त्रों का परित्याग ही करना चाहिए। अगर उतना नहीं किया है तो पहले दर्जे की गलती की है। यह बात उन्हें समझाने की कोशिश मैंने की। मेरा मानना है कि इसका काफी असर हुआ।

श्रीमानों की हालत यह थी कि कई गांवों के बडे-बडे लोग भय से गांव छोडकर शहर में रहने के लिए चले गये थे। कुछ लोगों से मुलाकात हुई। उन्होंने साफ दिल से चर्चा की और कहा कि हम अपने गांव नहीं जा सकते, जाना हो तो पुलिस को साथ लेकर जाना पडता है। मैंने उनसे कहा, ''तुम श्रीमान हो, परमेश्वर तुम्हारी परीक्षा करता है कि तुम गरीबों की सेवा में कैसे लगते हो। तो सेवा का व्रत ले लो और जहां से भागकर आये हो वहां हिम्मतपूर्वक फिर बसो। वहां जाने के बाद अगर कत्ल हो जाओगे तो परमेश्वर का उपकार मानना। छिपकर, डरकर शहर में आकर जिंदा रहना मरने से बदतर है। लेकिन निर्भय कौन बनेगा? जो गरीबों पर प्रेम करेगा, सेवा करेगा।'' गांव के आम लोगों से मैं कहता था

कि गांव के बडे लोगों पर गांव के दूसरे लोगों का प्यार होना चाहिए और अपने गांव के बडे लोगों के रक्षण का जिम्मा सारा गांव उठाये, ऐसी हालत होनी चाहिए।

यह जो इतना साहस मैंने किया उसका महत्त्व मेरे मन में बहुत ज्यादा था। यद्यपि इसमें से कुछ नतीजा आयेगा, ऐसा ख्याल करके मैंने यह काम नहीं लिया था। लेकिन वर्धा से जब मैं निकला तब वहां एक छोटी-सी सभा लक्ष्मीनारायण मंदिर में हुई थी, वहां पर लोगों की इजाजत लेते समय मैंने कहा था कि "अभी तो यह आखिरी मुलाकात ही समझो। फिर कब मिलेंगे, मालूम नहीं।" मन में तो ऐसा था कि खतरे के मुल्क में जा रहे हैं। अगर इस खतरे का कोई उपाय मिल गया तो अच्छा है, अगर इस खतरे का खुदको ही अनुभव आया तो भी अच्छा है, क्योंकि उससे शांतिमय उपाय सहज ही सूझेगा। ऐसा कुछ मन में रखकर निकले थे और परमेश्वर की कृपा हुई, जिससे सारा का सारा वातावरण ही बदल गया।

यात्रा के तीसरे ही दिन (18 अप्रैल 1951) **पोचमपल्ली** में गांव के हरिजन लोग हमसे मिलने आये थे। उन लोगों ने कहा कि हमको अगर कुछ जमीन मिलती है तो हम मेहनत करेंगे और मेहनत का खाना खायेंगे। उन्हें 80 एकड जमीन चाहिए थी। मैंने कहा कि अगर हम आपको जमीन दिलवायेंगे तो आप सब लोगों को मिलकर काम करना होगा, अलग-अलग जमीन नहीं देंगे। उन्होंने कबूल किया कि हम सब एक होंगे और जमीन पर मेहनत करेंगे। मैंने कहा, इस तरह हमें लिख दो, आपकी अर्जी हम सरकार में पेश करेंगे। परंतु वहीं, उसी सभा में एक भाई (श्री रामचंद्र रेड्डी) सौ एकड जमीन हरिजनों को देने तैयार हो गये। उन्होंने हमारे सामने हरिजनों को वचन दिया कि आपको सौ एकड जमीन दान देंगे।

यह घटना साधारण घटना नहीं। जिस जमीन के लिए खून-कत्ल, कोर्ट-कचहरी होती रहती है, वह जमीन दान में मिली, इसके पीछे कोई संकेत होना चाहिए। रातभर मेरा चिंतन चला और मुझे अनुभव हुआ कि यह एक इलहाम हो गया है। लोग प्रेम से जमीन दे सकते हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एक चिट्ठी मुझे लिखी थी। उसमें उन्होंने वहां जो हो रहा था उसके लिए खुशी प्रकट की थी। उसके जबाब में मैंने लिखा

था कि मेरा अपना विश्वास है कि हर कोई मसला अहिंसा से हल हो ही सकता है, लेकिन उसके लिए हृदयशुद्धि की आवश्यकता होती है। इस चीज को कल्पना और श्रद्धा से मैं मानता ही था, इस मर्तबा उसका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।

* *

यह यज्ञ, जिसे मैंने 'भूदानयज्ञ' नाम दिया है, एक सामान्य यज्ञ नहीं है। निःसंशय यह जो घटना इस युग में बनी, वह सामान्य घटना नहीं है, क्योंकि इसमें लोगों ने जो दान दिया है, उसके पीछे लोगों की बहुत ही सद्भावना है, इसका मैं साक्षी हूं। कम्यूनिस्टों के काम के पीछे जो विचार है, उसका सारभूत अंश हमें ग्रहण करना होगा, उस पर अमल करना होगा। यह अमल कैसे किया जाये, इस बारे में मैं सोचता था, तो मुझे कुछ सूझ गया। ब्राह्मण तो मैं था ही, वामनावतार मैंने ले लिया और भूमिदान मांगना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे विचार बढता गया। परमेश्वर ने मेरे शब्दों में कुछ शक्ति भर दी। लोग समझ गये कि यह जो काम चला रहा है, वह क्रांति का है और सरकार की शक्ति के परे है, क्योंकि यह काम तो जीवन बदलने का काम है।

मैंने हर जगह समझाया कि इसमें गरीबों पर उपकार करते हैं, ऐसी भावना दान देते समय रखोगे तो वह अहंकार होगा। उससे जो लाभ हम चाहते हैं, वह नहीं होगा। मेरा काम तो तब होगा जब यह समझोगे कि जैसे हवा-पानी-सूरज की रोशनी पर हरएक का हक है वैसे जमीन पर हरएक का हक है और जबकि कई लोगों के पास बिलकुल जमीन नहीं है तब उस हालत में बहुत ज्यादा जमीन अपने पास रखना गलत बात है। उस गलती से मुक्त होने के लिए हम जमीन देते हैं, इस खयाल से देना चाहिए। यह मैंने बार-बार समझाया। और जहां मुझे जरा भी शंका आयी कि जो दान दिया जा रहा है उसमें कुछ तामसता या राजसता का भाव है, वहां मैंने वह दान नहीं लिया, क्योंकि मेरा मतलब यह नहीं था कि किसी तरह से जमीन बटोरूं।

* *

मैंने माना था कि मैंने यह जो काम उठाया है वह गरीबों की, श्रीमानों की भक्ति का काम है। उसमें सब लोगों की भक्ति हो जाती है।

मैं जमीन मांगता फिरता था। किसी रोज कम मिली तो मुझे यह नहीं लगता कि 'आज जमीन कम मिली'। यही लगता कि जो भी मुझे मिलता है, केवल प्रसादरूप है। आगे तो भगवान खुद अपने अनंत हाथों से भर-भरकर देगा। तब मेरे ये दो हाथ निकम्मे और अपूर्ण साबित होंगे। आज तो केवल एक हवा तैयार करने का काम हो रहा है। परमेश्वर का बल इस काम के पीछे है, ऐसा प्रतिक्षण महसूस करता। मैं भगवान से यही प्रार्थना करता कि भगवान, जमीन मुझे लोग दें या न दें, जैसी तेरी इच्छा हो वैसा होने दे, लेकिन मेरी तुझसे इतनी ही मांग है कि मैं तेरा दास हूं, मेरी हस्ती मिटा दो, मेरा नाम मिटा दो। तेरा ही नाम दुनिया में चले, तेरा ही नाम रहे। मेरे मन में राग-द्वेष आदि जो भी विकार रहे हों, सबमें से इस बालक को मुक्त कर। इसके सिवा अगर मैं और कोई भी चाह अपने मन में रखूं, तो तेरी कसम! यह है तो तुलसीदासजी की भाषा, लेकिन वह मेरी आत्मा बोल रही है। मुझे और किसी चीज की जरूरत नहीं। तेरे चरणों में स्नेह बढे, प्रेम बढे। अंतर में यही वृत्ति रहती और नित्य उसी का अनुभव करता। जरा पांच मिनट भी विश्राम मिलता, थोडा एकांत मिलता, तो मन में यही वासना उठती कि मेरा सारा अहंकार खतम हो जाये। इसके सिवा कुछ भी विचार मन में नहीं आता। इसलिए मैं कोई मसला हल कर रहा हूं, ऐसा कोई आभास मुझे नहीं हुआ। परंतु इतना मैं मानता हूं और समझ गया हूं कि इसमें जो दर्शन हुआ है, उसको अगर हम ठीक से ग्रहण करें और उस चीज के साथ अगर हम एकरूप होने की कोशिश करें, तो यह एक ऐसा साधन है जिससे मसला हल हो सकता है। यह जो मसला है, वह एक अंतर्राष्ट्रीय मसला है और उसका हल अगर हम शांतिमय तरीके से कर लेते हैं, तो स्वराज्य-प्राप्ति के बाद हमने एक बडी भारी खोज की, ऐसा कहना होगा। अगर हम अपनी कल्पना-शक्ति चलायें, तो यह बात ध्यान में आ जायेगी कि इस काम में जागतिक क्रांति के बीज छिपे हुए हैं।

यात्रा में अनुभव तो बहुत आये, लेकिन सब अनुभवों का सार दो शब्दों में कह दूंगा। मेरा अनुभव किस शब्द में रखूं, ऐसा जब मैंने विचार किया तब मुझे 'साक्षात्कार' शब्द ही सूझा। मुझे ईश्वर का एक प्रकार का साक्षात्कार ही हुआ। मानव के दिल में भलाई है, उसका आवाहन किया जा सकता है, ऐसा विश्वास रखकर मैंने काम किया तो भगवान ने वैसा

ही दर्शन प्रकट किया। मैं यह भी मानता हूं कि अगर मैं यह मानकर जाता कि मानव का चित्त असूया, द्वेष, लोभ आदि प्रवृत्तियों से भरा है, तो वैसा ही दर्शन भगवान ने दिया होता। सो मैंने इसमें से देख लिया कि भगवान कल्पतरु हैं, जैसी हम कल्पना करते हैं वैसा रूप प्रकट करते हैं।

परंधाम में जो प्रयोग (कांचनमुक्ति – ऋषि-खेती) किया जा रहा था, वह अगर प्रारंभ नहीं किया होता और उसका जो अनुभव एक सालभर लिया, वह अगर नहीं लिया होता तो शायद तेलंगाना में जो काम हुआ और लोगों के साथ जो निःसंकोचता और निर्भयता का अनुभव हुआ, जिस तरह का आत्मविश्वास रहा, वह नहीं रहता। परमेश्वर की बहुत ही कृपा हुई कि मेरे जैसे सभ्यता से अपरिचित मनुष्य के मुख से भी कहीं विनयरहित वाक्य उसने नहीं आने दिया। मैं मानता हूं, यह उस प्रयोग का परिणाम है, जिसमें हम लोगों ने किसान को गुरु समझकर मिट्टी में काम करना अपना भाग्य समझा।

मेरी यह यात्रा परमेश्वर ने सुझायी थी, ऐसा ही मुझे मानना पडता है। छः माह पहले मुझे खुदको ऐसा कोई खयाल नहीं था कि जिस काम के लिए मैं गांव-गांव, द्वार-द्वार घूमा, वह मुझे करना होगा – उसमें मुझे परमेश्वर निमित्त बनायेगा। लेकिन परमेश्वर की कुछ ऐसी योजना थी, जिससे यह काम मुझे सहज ही स्फुरित हुआ और उसके अनुसार कार्य भी होने लगा। यह एक युगपुरुष की मांग है, इस तरह की भावना लोगों के दिल में आ गयी। उसका प्रतिबिंब मेरे हृदय में भी उठा। नतीजा यह हुआ कि तेलंगाना की यात्रा समाप्त करने के बाद बारिश के दिन वर्धा में बिताने के लिए मैं परंधाम जा बैठा और दो-ढाई महीने वहां रहकर फिर वहां से निकल पडा।

* *

भूदान-गंगा का ओघ

तुलसीदास की राह पर

पुनः (12 सितंबर 1951) उत्तर भारत की पदयात्रा पर निकल पडा। दिल्ली की तरफ जा रहा था। वैसे बारिश समाप्त होते-होते पदयात्रा पर निकलने का सोच ही रहा था कि इतने में दिल्ली का बुलावा* आ गया

*योजना आयोग के सदस्यों के साथ चर्चा के लिए पंडित नेहरू से निमंत्रण मिला – सं.

और कुछ जल्दी ही निकल पडा। मैंने कहा, इस वक्त घूमते हुए एक प्रमुख काम मेरी नजर के सामने रहेगा। मुझे गरीबों को जमीनें दिलवानी हैं। माता और पुत्रों का जो बिछोह हुआ है, उसे दूर करके मुझे उनका संबंध जोडना है। मुल्क में देने की वृत्ति बढानी है। एक हवा का ही निर्माण करना है। तेलंगाना में कम्यूनिस्टों का उपद्रव था, इसलिए जमीनें मिलीं, ऐसी बात यदि हो तो अहिंसक क्रांति की आशा छोड देनी होगी। यदि भूदान-यज्ञ का मूल विचार समझा दिया जाये, तो लोग प्रेमपूर्वक जमीन देंगे, ऐसी आशा मुझे है। यह आशा सिद्ध हुई तो अहिंसक क्रांति को बहुत बल मिलनेवाला है। अगर हम अपने सिद्धांतों को मूर्त और व्यापकरूप नहीं दे सकें तो हम प्रवाहपतित बन जायेंगे। आज वक्त हमें ललकार रहा है, चुनौती दे रहा है।

* *

दिल्ली में राजघाट की सन्निधि में मुझे अत्यंत शांति और स्फूर्ति प्राप्त हुई। राजघाट पर निवास-स्थान का निश्चय करने के विषय में मेरी एक भावना थी। हालांकि परमेश्वर की हस्ती हर जगह है और मैं भी उसे हर जगह महसूस करता हूं, बावजूद इसके कुछ स्थानों की महिमा अमिट रही है – और वही प्रेरणा मुझे रास्ता दिखा रही है। भूदान-यज्ञ में गांधीजी की प्रेरणा रही है। इस काम में जो अच्छाइयां दिखायी पडती हैं वे उन्हीं की हैं; जो त्रुटियां हैं, वे मेरी हैं।

राजघाट के ग्यारह दिन (13 से 23 नवंबर 1951) सत्संगति में बीते। सुबह की प्रार्थना, जो ठीक चार बजे शुरू होती थी, साधक-सज्जनों की संगति में होती थी। उसमें तुलसीदासजी की विनयपत्रिका के अमृत-मधुर भजनों का मैं प्रकट चिंतन करता था। उससे दिनभर के व्यस्त कार्यक्रम में, बिना विश्राम का समय लिये ही, मुझे विश्राम मिल जाता था। शाम की राजघाट की जाहिर प्रार्थना में भूदान-यज्ञ आदि पर मेरे विचार थोडे में रखता था। प्लैनिंग कमिशन के साथ चर्चा हुई। मेरे सारे विचार, जो मैंने बहुत स्पष्टता से रखे, सब मित्रों ने ध्यानपूर्वक सुने। मुझे आशा करने के लिए कारण था कि उस चर्चा के प्रकाश में योजना में यथासंभव परिवर्तन किया जायेगा।

पवनार से दिल्ली तक की यात्रा में तब तक करीब 35 हजार एकड जमीन मिल चुकी थी। तेलंगाना में इसका दैनिक औसत 200 एकड

था, अब 300 एकड रहा। गांधीजी की शिक्षा और भारत की सांस्कृतिक परंपरा के कारण इस शांति-योजना को जनता से हार्दिक सहकार मिला। देश में करीब 30 करोड एकड जमीन है। मैं उसका छठवां हिस्सा मांग रहा था। क्योंकि एक भारतीय परिवार में साधारणतया पांच सदस्य रहते हैं। उस परिवार का छठा सदस्य जनता ही है, इसलिए उस भूमिहीन जनता के लिए मैंने छठे हिस्से की मांग की।

यह सब मैं क्या कर रहा था? मेरा उद्देश्य क्या था? मैं परिवर्तन चाहता हूं। प्रथम हृदय-परिवर्तन, फिर जीवन-परिवर्तन और बाद में समाज-परिवर्तन। इस तरह त्रिविध परिवर्तन, तिहरा इन्कलाब मेरे मन में है। मैं पहले से ही न्याय और हक की बुनियाद पर यह बात रख रहा हूं। न्याय यानी कानूनी न्याय नहीं, बल्कि ईश्वर का न्याय। (मेरी 'स्वराज्य-शास्त्र' पुस्तक में यह बात मैंने स्पष्ट कर दी है।) हमें कानून से जमीन तकसीम करनी होगी। एक कानून वह होता है, जो जबरदस्ती का, हिंसा का प्रतिनिधि होता है। दूसरा वह जो अहिंसा का। मैं भूमि की समस्या शांति के साथ हल करना चाहता हूं। मैं लोगों से दान में भूमि मांग रहा हूं, भीख नहीं मांग रहा। एक ब्राह्मण के नाते मैं भीख मांगने का अधिकारी हूं, लेकिन यह भीख मैं व्यक्तिगत नाते ही मांग सकता हूं। पर जहां दरिद्रनारायण के प्रतिनिधि के तौर पर मांगना होता है, वहां मुझे भिक्षा नहीं मांगनी है, दीक्षा देनी है। इसलिए मैं इस नतीजे पर पहुंच चुका हूं कि भगवान जो काम बुद्ध के जरिये करवाना चाहते थे, वह काम उन्होंने मेरे इन कमजोर कंधों पर डाला है। मैंने माना कि यह धर्मचक्र-प्रवर्तन का कार्य है। (9.2.52 बुद्ध पूर्णिमा।)

मैंने कहा था, दो-ढाई हजार वर्षों से प्रसिद्ध इस कालसी (उ. प्र.) स्थान में अश्वमेध-यज्ञ के घोडे की तरह मैं भी भूदान-यज्ञ के अश्व की तरह घूम रहा हूं। महाभारत में राजसूय यज्ञ का वर्णन है। मेरा यज्ञ प्रजासूय यज्ञ है। इसमें प्रजा का अभिषेक होगा। ऐसा राज, जहां मजदूर, किसान, भंगी आदि सब यह समझें कि हमारे लिए कुछ हुआ है। ऐसे समाज का नाम सर्वोदय है। इसकी स्थापना करने की प्रेरणा लेकर मैं घूम रहा हूं।

एक साल हो गया, अद्भुत यात्रा चली। मैं अकेला घूम रहा था। सारे भारत में हररोज भूदान की एक सभा होती थी। जमीन की मांग होती

थी और लोग जमीन देते थे। सालभर में एक लाख एकड जमीन प्राप्त हुई। मैं बिलकुल मस्ती में घूम रहा था। रविबाबू का पद याद आता था – **एकला चलो रे ओरे अभागा** । मैंने उसमें अपने लिए थोडा फरक कर लिया – **एकला चलो रे ओरे भाग्यवान** । वेद में है, **क्वः स्विद् एकाकी चरति? सूर्य एकाकी चरति** । इस प्रश्नोत्तर से बडा उत्साह आता था।

मैं अकेला घूम रहा था और हमारे साथी, सर्व सेवा संघ के लोग बडे कुतूहल से, बडी उत्सुकता से, बडी सहानुभूति से देख रहे थे। लेकिन उसके बाद सेवापुरी सर्वोदय सम्मेलन (12 से 19 अप्रैल 1952) में सर्व सेवा संघ ने प्रस्ताव पास किया कि दो साल में 25 लाख एकड जमीन हासिल करेंगे। अलौकिक शब्द! एक साल में एक लाख एकड जमीन मिली और दो साल में 25 लाख एकड प्राप्त करने का प्रस्ताव जाहिर हो गया।

वहां बिहार के लोग मुझसे मिलने आये। वे चाहते थे कि मैं बिहार जाऊं। मैंने उनसे कहा, मैं आगे के मेरे कार्यक्रम के बारे में सोच ही रहा हूं, बिहार में चार लाख एकड जमीन मिलती हो तो वहां आऊंगा, अन्यथा विंध्य प्रदेश या और कहीं चला जाऊंगा। लक्ष्मीबाबू ने कहा, ठीक है, बिहार में 75 हजार गांव हैं, हर गांव से पांच एकड जमीन मिलेगी तो हिसाब पूरा हो जायेगा। और मैं बिहार की ओर निकल पडा।

बुद्ध की विहारभूमि में

जिस दिन मैंने बिहार (दुर्गावती : 14 सितंबर 1952) में प्रवेश किया उस दिन से रोज 50 लाख एकड जमीन की मांग करने लगा। एक दिन एक भाई ने कहा कि आप छठा हिस्सा मांगते हैं तो बिहार का छठा हिस्सा 40 लाख आयेगा, 50 नहीं। दूसरे दिन से मैंने 40 लाख की रट लगायी। हमारे वैद्यनाथबाबू हिसाबी आदमी हैं। उन्होंने मुझे हिसाब बताकर 32 लाख पर राजी कर लिया। तब से मैं 32 लाख मांगने लगा। उस पुण्यपावन प्रदेश (बिहार) में हमारी यह पैदल यात्रा सूर्यनारायण की नियमितता से और उसकी साक्षी में चल रही थी। यह बात अब बिहार की हवा में फैल गयी थी कि जमीन जल्दी ही बंटकर रहेगी। बाढ-पीडित प्रदेश में हमारे ढाई महीने बीते। वहां ऐसे भी मौके आये कि हम लोगों के भोजन का कोई भी इंतजाम नहीं था। साढे तीन साल में ऐसा मौका कभी नहीं आया, लेकिन बाढ-पीडित क्षेत्र होने के

कारण ऐसा हुआ। बावजूद इसके हमारी सभा में एक जगह करीब दो-सौ नौकाएं आ पहुंची थीं। सैकडों स्त्री-पुरुष आये थे। गीली जमीन और ऊपर से बारिश, लेकिन सब उत्साहपूर्वक खडे-खडे शांति के साथ प्रार्थना में सम्मिलित हुए। एक जगह तो यहां तक हुआ कि एक आदमी ने छठा हिस्सा जमीन दान दी। उसमें कुछ खराब जमीन भी थी। हमने उसको कहा कि भाई, यह तो तोडकर देनी होगी। तो उसने तत्काल मंजूर कर लिया। यह घटना कलियुग की है, सत्ययुग की नहीं। अपने प्रति इतने अधिक सद्भाव से अगर हम लाभ न उठा सकें, तो हतभागी ही कहलायेंगे।

आज तक मैं सिर्फ भूमि का दान लेता था, मैंने कहा कि अब मैं संपत्ति का भी दान लूंगा। संपत्तिदान का मुख्य विचार यह है कि जो संपत्ति के छोडे-बडे मालिक होते हैं, वे अपने को संपत्ति का ट्रस्टी मानें। इस विचार का पहला कदम है, खानगी संपत्ति के छठे हिस्से का दान देना। मैंने आशा यह रखी है कि यह पहला कदम जो उठायेगा, वह धीरे-धीरे ट्रस्टीशिप के पूरे विचार को अमल में लायेगा। पैसा तो दाता के ही पास रहेगा। संपत्तिदान में दाता अपनी संपत्ति का छठा हिस्सा हर साल समाज को देता रहेगा। मैं सिर्फ वचनपत्र लूंगा। दाता अपनी आत्मा को साक्षी रखकर उसका विनियोग करेगा। यह मेरा अजीब ढंग है। अगर मैं फंड इकट्ठा करता तो मुझे हिसाब रखना पडता और उसी में मेरा सारा समय जाता। पर मुझे तो क्रांति करनी है। इसमें मेरी यह दृष्टि है कि मैं दान देनेवालों से कहना चाहता हूं कि हम आपका पैसा नहीं चाहते, बल्कि आपकी 'टैलंट' और अक्ल चाहते हैं। मैं खुद मुक्त रहना चाहता हूं और आपको बांधना चाहता हूं। अब मैं भूमि और संपत्ति, दोनों का हिस्सा मांगूंगा। (पटना : 23.10.1952)

चांडिल में मैं सख्त बीमार हो गया (दिसंबर 1952)। मलेरिया का बुखार आ गया। 1924 में ऐसी ही सख्त बीमारी हुई थी। बाद में अनुभव हुआ कि उस बीमारी से मेरा लाभ ही हुआ। अब मैं सोच रहा था कि या तो ईश्वर मुझे इस देह से मुक्त करना चाहता होगा या फिर मेरी देहशुद्धि कराके मुझे फिर से काम में लगाना चाहता होगा। ईश्वर यदि इस देह से मुक्त करना चाहता हो तो क्या दवा उसकी इच्छा के विरुद्ध काम करेगी? और अगर वह मुझे इस शरीर में रखना चाहता हो, तो उसकी इच्छा के

तुलना में बहुत कम मालूम हुई। वहां के लोगों ने मुझे आत्मीय माना। बहुत आनंद और अपार शांति का वहां अनुभव हुआ। मनुष्य की आत्मा में केवल आनंद है। जितना व्यापक आकाश है, उतना ही व्यापक आनंद है। बिहार की भूमि में वह आनंद हमने बहुत लूटा। आकाश के समान विशाल हृदय का सर्वत्र स्पर्श हुआ। इसलिए हम इस यात्रा को आनंदयात्रा कहते हैं।

महाप्रभु के अंगन में

बिहार के स्नेहलाभ की शक्ति के साथ हमने बंगाल में प्रवेश किया। बुद्ध भगवान की भूमि से विदा लेकर चैतन्य महाप्रभु की भूमि में गये। बंगाल से मुझे बचपन से स्फूर्ति मिली है। वह महान ऋण मेरे चित्त पर है। उस ऋण से मैं मुक्त नहीं हो सकता। बंगाल के महापुरुषों से मुझे स्फूर्ति मिली है। इस भूमि का मैं विशेष आदर करता हूं। दुनिया में ऐसा प्रदेश नहीं, जहां महापुरुष नहीं हुआ। बचपन में महाराष्ट्र के संतपुरुषों के संस्कारों के साथ-साथ बंगाल के महापुरुषों का भी मुझ पर बहुत असर हुआ। वहां 25 दिन की प्रेमयात्रा हुई (1 से 25 जनवरी 1955)। हम श्रीरामकृष्ण परमहंस के समाधिस्थान पर गये थे (जन. 1955)। वहां मैंने कहा था कि इसके आगे व्यक्तिगत समाधि नहीं, सामूहिक समाधि की जरूरत है। इस महापुरुष ने अपने जीवन में हमें सिखाया है कि किस तरह क्लेशरहित समाधि संभव है और किस तरह कांचन के संग्रह से बच सकते हैं। हमारा दावा है कि हम सामाजिक क्लेशनिर्मूलन तथा समाज में संपत्ति और लक्ष्मी वितरित करने का काम कर रहे हैं। रामकृष्ण परमहंस को कांचन का स्पर्श सह्य न होता था। उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करते हुए मैं सामूहिक कांचनमुक्ति का प्रयोग कर रहा हूं।

* *

मुझे इस बात की बहुत खुशी है कि बंगाल के बाद वीर-भूमि (उत्कल) में मेरा प्रवेश हो गया (26 जनवरी 1955)। यह वह भूमि है, जिसने चक्रवर्ती अशोक को अहिंसा की दीक्षा दी। जिसने 'चंड अशोक' का परिवर्तन कर उसे 'धर्म अशोक' बना दिया। मैं जब उत्तरप्रदेश में घूम रहा था, तब वहां एक (मंगरोठ) ग्रामदान हुआ था (23 मई 1952), जो आकस्मिक था। बिहार की यात्रा के बाद मैंने उडीसावालों से कहा कि भूदान का विक्रम बिहारवालों ने किया, अब आपके वहां ग्रामदान होना

चाहिए। कोरापुट जिले में यह बना।

परमेश्वर की ऐसी योजना थी कि बारिश के हमारे चार महीने कोरापुट जिले में बीते। एक बार रातभर बारिश बरसती रही। दूसरे दिन हमको 19 नालों को पार करना पडा। रास्ता बहुत ही रमणीय था। ज्यादा तकलीफ नहीं हुई। रात को नालों को बाढ थी, लेकिन सुबह हमारे वहां पहुंचने तक पानी कम हो गया था, हम पार कर सकें इसलिए। मालतीदेवी (चौधरी) हमारे साथ थीं। वे बडी चिंतित थीं कि बाबा नालों को कैसे पार करेंगे। मैंने उनको विश्वामित्र-नदी-संवाद* सुनाया। मैं यात्रा में, जबकि ऊपर से मेघ बरसते थे, एक वैदिक मंत्र का बहुत बार पाठ करता था, जोरों से उद्घोष करता था –

स नो वृष्टिं दिवस्परि
स नो वाजमनर्वाणम्
स नः सहस्त्रिणीरिषः

मैं खूब जोरों से चिल्लाता और साथियों को बोलने को कहता। ऋषि भगवान से प्रार्थना करता है कि "हम पर स्वर्ग से खूब वृष्टि हो। वह भगवान की हम पर कृपा है।" इसलिए बारिश का हम निरंतर स्वागत-सत्कार करते हैं। दूसरी वस्तु ऋषि कहता है, "हमारी गति में कोई बाधा न आये।" हमारे पाद-संचार में भी इस बारिश से कोई बाधा नहीं आयी और कार्यकर्ताओं में बडा आत्मविश्वास पैदा हुआ। अक्सर बारिश में प्रचार-कार्य ढीला पडता है – खास कर कोरापुट जैसे जिले में, जो मलेरिया के लिए प्रसिद्ध है, विशेष प्रचार होने का विश्वास नहीं था। लेकिन बावजूद इसके संचार-प्रचार में कोई बाधा नहीं आयी और 600 ग्राम दान में मिले। तीसरी प्रार्थना ऋषि करता है कि "ये जो बारिश की हजारों बूंदें हैं, उससे परमेश्वर का मानो हस्तस्पर्श होता है, इसलिए हमारी इच्छा-शक्ति सहस्त्रगुणित होनी चाहिए।" इस जिले में हमें जो अनुभव आया, उससे हमारी इच्छा-शक्ति अवश्य सहस्त्रगुणित हो गयी है। क्योंकि जिस इच्छा-शक्ति का अनुभव हम करते थे उसी का अनुभव सहस्त्र लोग करते थे। व्यक्तिगतरूप से भी हमारी इच्छाशक्ति को बहुत बल मिला।

फिर हम सर्वोदय-सम्मेलन के लिए जगन्नाथपुरी पहुंचे। वहां हम

* देखें पृ. 166

जगन्नाथ के दर्शन के लिए मंदिर तक गये थे (21 मार्च 1955)। वहां से हमको वापस लौटना पडा। मैं तो बहुत भक्तिभाव से गया था। मेरे साथ एक फ्रेंच बहन थी। अगर वह मंदिर में नहीं जा सकती है, तो फिर मैं भी नहीं जा सकता हूं, ऐसा मुझे मेरा धर्म लगा। मैंने तो हिंदूधर्म का बचपन से आज तक सतत अध्ययन किया है। ऋग्वेद आदि से लेकर रामकृष्ण परमहंस और महात्मा गांधी तक धर्म-विचार की जो परंपरा यहां पर चली आयी है, सबका मैंने बहुत भक्तिपूर्वक अध्ययन किया है। मेरा नम्र दावा है कि हिंदूधर्म को मैं जिस तरह समझा हूं, उस रूप में उसके नित्य आचरण का मेरा नम्र प्रयत्न रहा है। मुझे लगा कि उस फ्रेंच बहन को बाहर रखकर मैं अंदर जाता, तो मेरे लिए बडा अधर्म होता। हमने वहां के अधिष्ठाता से पूछा कि क्या इस बहन के साथ हमको अंदर प्रवेश मिल सकता है? जवाब मिला कि नहीं मिल सकता। तो, भगवान की जगह उन्हीं को भक्तिभाव से प्रणाम करके मैं वापस लौटा।

उस समय मैंने कहा था, जिन्होंने हमको अंदर जाने देने से इनकार किया, उनके लिए मेरे मन में किसी प्रकार का न्यूनभाव नहीं है। मैं जानता हूं कि उनको भी दुःख हुआ होगा, परंतु वे एक संस्कार के वश थे, इसलिए लाचार थे। इसलिए उनको मैं ज्यादा दोष भी नहीं देता। इतना ही कहता हूं कि हमारे देश के लिए और हमारे धर्म के लिए यह बडी ही दुःखदायक घटना है। बाबा नानक को यहां पर मंदिर के अंदर जाने का मौका नहीं मिला था और बाहर ही से उन्हें लौटना पडा था। लेकिन वह तो पुरानी घटना हुई। हम आशा करते हैं कि अब वह बात फिर से नहीं दुहरायी जायेगी।

मेरी देह के 60 साल पूरे हुए (1955), लेकिन इन वर्षों का कोई भी भार मुझ पर नहीं है। मैं दिन-ब-दिन जवान ही हो रहा हूं। और सच बताऊं तो वृद्धावस्था तो दूर ही रही, युवावस्था का अनुभव भी नहीं है, मैं तो बलवान बालक ही हूं। बालक की व्याख्या आखिर यही है कि जो बलवान वह बालक! इन दिनों मैं बाल-अवस्था में ही हूं। सतत पैदल घूम रहा हूं। इसलिए मेरी गिनती वृद्धों या युवाओं में न करें, बालकों में ही करें और वैसे ही सुनें जैसे कोई मां अपने बच्चे की बातें 'बाल-वाणी' मानकर प्रेम और प्रशंसा के साथ सुनती है।

आचार्यों के क्षेत्र में

हमारे पुराने धार्मिक लोग यात्रा के लिए निकलते थे तब गंगा का पानी लाकर रामेश्वर के सिर पर अभिषेक करते थे, तो आधी यात्रा हो जाती थी। फिर रामेश्वर से समुद्र का पानी लेकर काशी जाते थे, और वहां काशीविश्वनाथ पर उसका अभिषेक करते थे, तब यात्रा पूरी होती थी। इसी प्रकार भूदान-यज्ञ का उत्तर का यश लेकर हम दक्षिण (आंध्र : 1 अक्तूबर 1955) पहुंचे। तेलंगाना में दुबारा प्रवेश किया। हैदराबाद शहर में तो लोगों का अद्‌भुत ही प्रेम देखा। मीटिंग के बाद उसी जगह 800 पुस्तकों (गीता-प्रवचन) पर हस्ताक्षर देना पडा। हिंदी, उर्दू, मराठी, गुजराती, तेलगु, कन्नड – छः भाषाओं के गीता-प्रवचनों पर हस्ताक्षर हुआ। सभा में शांति भी अद्‌भुत ही थी। लोगों का हृदय विचार ग्रहण करने के लिए तैयार है। पहुंचना ही बाकी है। बिहार की लाखों एकड जमीन, लाखों दाता और उडीसा के हजार ग्रामदान लेकर तमिलनाड (13 मई 1956) आये।

पांच साल हमारी यात्रा सातत्यपूर्वक चली। पहले साल बारिश के दो माह मैंने यात्रा रोककर काशी में बिताये। पर अनुभव में आया कि दो माह में केवल तेरह दिन ही यात्रा के समय बारिश आयी। मतलब, केवल तेरह दिन के लिए दो-ढाई महीना यात्रा बंद रखी यह मुझे ठीक नहीं लगा और दूसरे साल से बारिश में भी मैंने यात्रा जारी रखी। अब तक हम हररोज एक पडाव करते थे, पर तमिलनाड में दो पडाव करना शुरू किया। हिंदुस्तान में पांच लाख गांव हैं, उन सभी गांवों में पहुंच सकें, इस आकांक्षा से मैंने दो पडाव शुरू नहीं किये। अगर मैं मन में ऐसी अहंता रखता तो रजोगुण का काम हो जाता। मैं रजोगुण को पसंद नहीं करता, उससे कोई धर्मकार्य नहीं होता। वास्तव में मैंने रोज के दो पडाव इसलिए शुरू किये कि मेरे मन में एक तीव्रता थी। वह तीव्रता मुझसे कहती थी कि तुमसे जितना बन सके, उतना परिश्रम करो। सत्त्वगुण को इकट्ठा करने के लिए अधिक परिश्रम करना चाहिए। मैं जानता हूं कि भूदानयज्ञ मेरी कृति से पूरा नहीं होगा। वह तो तब पूरा होगा जब जनसमाज उसे उठायेगा। एक भाई ने कहा कि अब तो घूमना ही आपका मुख्य काम हो जायेगा, फिर गांव में क्या काम होगा? मैंने उनसे कहा कि जिसे आप घूमना कहते हैं, वह हमारी प्रार्थना है।

बंगाल से चारुबाबू ने लिखा था कि 'आपने जो दो बार चलना शुरू किया है, मैं समझता हूं कि उससे आपने सौम्य सत्याग्रह को सौम्यतर सत्याग्रह में परिवर्तित किया है और इससे हमें बल मिल रहा है।' मुझे यह बहुत ही अच्छा लगा। मैं नहीं कह सकता कि इस तरह विचार कर मैंने यह किया था, परंतु सौम्यतर होने की वासना जरूर है और यह हो भी रहा है। दिनभर एक गांव में रहते तो जरूर कुछ न कुछ कार्यशक्ति वहां लगानी पडती, कुछ दबाव भी पडता। परंतु दो बार चलना शुरू किया तब होता यह था कि विचार समझा दिया और आगे बढे। यह प्रत्यक्ष सौम्यतर का ही रूप हो जाता है। परंतु चारुबाबू को मेरे स्वास्थ्य की चिंता थी। मैंने उनको लिखा था – मेरे स्वास्थ्य की चिंता नहीं है। दो पडाव हजम हो रहे हैं। परमेश्वर जरा कसौटी करता है, ज्यादा नहीं करता। जरा-सी कसौटी में मनुष्य टूट गया तो वह टूट ही गया। अगर उतने में न टूटा तो करुणामय की करुणा काम करने लगती है।

मुझे ज्यादा जमीन मिलती है तो खुशी नहीं होती और कम मिलती है तो दुःख नहीं होता। हमारी बिहार-यात्रा में हमें औसत प्रतिदिन तीन हजार एकड जमीन और तीन-साढे तीन सौ दानपत्र मिले। वकील की प्रैक्टिस बढती है, तो उसकी फीस भी बढती है, परंतु यहां तमिलनाड में लोगों ने हमें 'डीग्रेड' कर दिया। सेलम जिले में 33 दिनों में रोज औसत सिर्फ चार-साढे चार एकड जमीन मिली। नदी सूखने लगी, फिर भी अंदर जो नदी बहती है, वह सूखी नहीं। भक्ति का प्रवाह अखंड बह रहा है। चाहे बाहर की कावेरी सूख जाये लेकिन अंदर का झरना नहीं सूखेगा।

बिहार में यह सिद्ध हुआ कि एक प्रांत में लाखों लोग लाखों एकड जमीन दे सकते हैं। उडीसा में यह सिद्ध हुआ कि हजारों ग्रामदान हो सकते हैं। अब एक तरह से मेरा काम खतम हुआ था। बाकी रहा जनशक्ति से काम हो सकता है, यह सिद्ध हो गया। इससे ज्यादा एक मनुष्य क्या कर सकता है? इसलिए जहां तक मेरा ताल्लुक है, मेरे काम की परिणति हो चुकी है। इसी लिए मैंने भूदान के साथ दूसरे काम जोडने का सोचा।

पलनी में मैंने हमारे कार्यकर्ताओं के सामने **निधिमुक्ति** की बात रखी (16 से 22 नवंबर 1956)। मैंने कहा – आज बहुतों के मन में यह भ्रम है – जो निरा भ्रम नहीं, कुछ तथ्य भी है, लेकिन भ्रम ज्यादा – कि भूदान-आंदोलन वैतनिक कार्यकर्ताओं के जरिये चल रहा है। भ्रमांश

क्या है यह मैंने तमिलनाड में देखा। मैंने तमिलनाड में देखा कि वहां करीब पांच सौ कार्यकर्ता काम करते होंगे, जिनमें से सिर्फ पचास ही वैतनिक कार्यकर्ता हैं। फिर भी यह आभास निर्माण करने में हम भी जिम्मेवार हैं, क्योंकि हम सोचते हैं कि वैतनिक कार्यकर्ताओं के बिना हमारा काम चलेगा नहीं। इसका अर्थ यह है कि उनके भरोसे ही हमारा काम चलता है। इसलिए इसे एकदम तोडो और जाहिर करो कि इसी वर्ष की 31 दिसंबर को सब वेतन बंद होगा। बजेट वगैरह कुछ पेश न होगा। तब हमें प्राप्ति के कुछ दूसरे रास्ते सूझेंगे। इस पर शंका होती है कि इससे चारों ओर काम बंद पडेगा। पर मैं कहता हूं कि उससे कुछ भी न बिगडेगा। हम ऐसा सोच कर यह करें कि सब एक-दूसरों को संभालेंगे, अपनी ओर से किसी का त्याग न करेंगे, हमारे पास जो कुछ है बांटकर खायेंगे।

निधिमुक्ति के साथ-साथ तंत्रमुक्ति भी हो गयी। भारतभर में भूदान का काम करने के लिए जिले-जिले में भूदान-समितियां थीं। हिंदुस्तान के 300 जिलों में से 250 जिलों में भूदान-समितियां काम कर रही थीं। उनके लिए गांधी-निधि से कुछ मदद भी मिलती थी। गांधी-निधिवाले मानते थे कि गांधी-विचारों का प्रचार जितनी अच्छी तरह इस ढंग से हो सकता है, उतना और किसी तरीके से हो नहीं सकता और बडी खुशी से भूदान के लिए पैसा देते थे। परंतु ग्रामदान शुरू होने के बाद मुझे लगा कि अब और एक क्रांतिकारक कदम उठाना चाहिए। इसलिए भूदान के लिए जो गांधी-निधि से सहायता ली जाती थी, वह हमने बंद कर दी। सारी भूदान-समितियां तोड डालीं। कोई भी पार्टी व्यापक बनती है तो अपना संगठन और मजबूत करना चाहती है, परंतु हमने उससे बिलकुल उलटी प्रक्रिया चलायी। कल्पना के विकास का इतिहास लिखनेवाला भविष्य का इतिहासकार इस कल्पना को बहुत महत्त्व देगा। वही वास्तव में इतिहास है, जिसमें मानव की कल्पना के क्रमिक विकास के संबंध में बताया जाता है।

मैंने यह सारा तंत्र क्यों तोडा? इसलिए कि संस्था से साधारण सेवा का काम हो सकता है, सत्ता बन सकती है, परंतु जन-समाज में क्रांति नहीं लायी जा सकती। क्रांतियां मांत्रिक होती हैं, तांत्रिक नहीं।

भूदान-समितियां टूटने का परिणाम दोनों तरह का हुआ। कुछ प्रांतों

में तो जहां पहले 40/50 कार्यकर्ता ही थे, वहां सैकडों हो गये और कुछ प्रांतों में जहां पहले 40/50 कार्यकर्ता थे, वे भी गिर गये। मैंने दोनों परिणामों की कल्पना कर रखी थी। समितियां टूटने के बाद कुल हिंदुस्तान का काम गिर जाता तो भी मुझे यही लगता कि मैंने जो कदम उठाया वह सही है। क्योंकि यह एक शास्त्र है कि क्रांतिया कभी संस्थाओं के जरिये नहीं होतीं। संस्था का एक ढांचा होता है, एक अनुशासन की पद्धति होती है, उसके अंदर रहकर ही काम किया और लिया जाता है। वहां बुद्धिस्वातंत्र्य को मौका नहीं रहता। मैं रचना नहीं चाहता ऐसा जो लोग समझते हैं, वे मुझे ही नहीं समझते। मैं कृत्रिम रचना नहीं चाहता। ऊपर से लादी हुई नहीं चाहता। स्थान-स्थान पर सहज अकृत्रिम विकेंद्रित जो रचना होगी, उसका मैं स्वागत करता हूं। यही रचना-कौशल है और यही अरचना-कौशल है।

तमिलनाड में कांची के शंकराचार्य से मिलना हुआ था। वे वृद्ध हैं। शंकराचार्य संन्यासी ही होते हैं, परंतु कुछ अरसों तक गद्दीनशीन रहने के बाद उन्हें लगा कि उसका भी संन्यास होना चाहिए। इसलिए उन्होंने अपने शिष्य को उस राष्ट्रगद्दी पर बिठा दिया और खुद कांची के पास एक गांव में रहने लगे। मैंने देखा, उनकी झोपडी में एक घडा, दो-तीन किताबों और दो-तीन चटाइयों के सिवा कुछ भी दिखायी नहीं दिया। वे बिलकुल अपरिग्रही थे, महाविद्वान थे। तमिलनाड में उनकी बहुत इज्जत थी। 1300 साल बाद भी शंकराचार्य की गद्दी पर वैसे व्यक्ति को देखकर तत्काल मेरे ध्यान में आया कि हजारों साल से जो पुरानी संस्थाएं चलती हैं, उनका आधार क्या है।

यात्रा कन्याकुमारी पहुंची। वहां हम दो दिन रहे। दूसरे दिन (16 अप्रैल 1957) हम समुद्र पर गये। सूर्यनारायण का उदय हो रहा था। समुद्र कन्याकुमारी के चरणों को धो रहा था। समुद्र के पानी का स्पर्श, सूर्यनारायण का दर्शन और कन्याकुमारी का स्मरण करते हुए मैंने अपनी प्रतिज्ञा दुहरायी कि* –

> *''हमारी देह तब तक इसी तरह से काम*
> *में निरंतर लगी रहेगी, जब तक स्वराज्य*
> *का रूपांतर ग्रामस्वराज्य में नहीं होगा।''*

---

* प्रथम बार [illegible]ज्ञा राजघाट, दिल्ली पर ली गयी थी। – सं.

इस प्रतिज्ञा के लिए ही दो दिन उस स्थान पर रहने का सोचा था। उस समय मेरे साथ कुछ भाई भी थे। चाहता तो सबको समझा सकता था और प्रतिज्ञा लेने को कहता, पर वैसा नहीं किया। मैंने ही प्रतिज्ञा कर ली। फिर भी प्रतिज्ञा में मैंने "मैं" के बदले "हम" शब्द का ही उपयोग किया। पर वह तो मेरा रिवाज ही है। मैं अपने को एक व्यक्ति नहीं मानता, इसलिए 'मैं' के बदले 'हम' स्वाभाविक ही था। यह प्रतिज्ञा व्यक्तिगत हो सकती है, लेकिन मैं चाहता हूं कि सबके मन में वैसी प्रतिज्ञा हो।

* *

तमिलनाड में सतत छः महीने चट्टान को तोडने का काम करने के बाद पानी का स्रोत मिला। झरना है या चट्टान ही है, यह तो खोदने के बाद ही पता चलता है। अब झरने का दर्शन सभी को हो रहा था। इसलिए वहां से केरल में प्रवेश किया। तमिलनाड में स्रोत फूटे बिना आगे बढना नहीं, दक्षिण से समुद्र-जल का पूर्णकुंभ लेकर ही उत्तराभिमुख यात्रा होगी, यह विचार तो प्रारंभ से ही पक्का कर लिया था।

* *

केरल-यात्रा की यह विशेषता रही कि वहां शांति-सेना की स्थापना हो गयी। हिंसाशक्ति ऊपर न उठे, इसके लिए यह शांतिसेना जागृत रहेगी। शांति-सैनिक सामान्य समय में समाज-सेवा, ग्रामदान-प्राप्ति का काम करेंगे और विशिष्ट मौके पर शांति-स्थापना के लिए अपना सिर समर्पण करने की तैयारी रखेंगे।

सन् 1957 के बाद क्या होगा? हमारे काम का स्वरूप क्या रहेगा? मुझसे ऐसा एक सवाल पूछा जाता था। उसका जवाब देते हुए मैंने कहा था कि हमारा काम कालातीत है, स्थलातीत है। मुझे सूझा कि ग्रामस्वराज्य तो बन ही गया। जैसे रामदासस्वामी को दर्शन हुआ था कि परकीय सत्ता समाप्त हुई, '**म्लेंच्छ-संहार जाहला**'। रामदासस्वामी की मृत्यु के ठीक 25 साल बाद औरंगजेब की मृत्यु हुई। परंतु रामदास को उसका दर्शन हो चुका था और उन्होंने कहा कि अब स्नानसंध्या के लिए पानी खुल गया। मतलब यह कि काशीनगरी, जो परकीय सत्ता में थी, वह स्वराज्य में आ गयी। ऐसा ही मुझे लगा कि ग्रामस्वराज्य हो चुका

है। उडीसा में ग्रामदान हुए। तमिलनाड में भी हुए। और केरल में भी देखा गया कि वहां की जनता की उदारता दूसरे किसी प्रांत की उदारता से कम नहीं है। वहां भी सैकडों ग्रामदान हुए। तो हमने अपने मन में मान लिया कि यह बात हो चुकी है, अब उसके रक्षण के लिए शांति-सेना बननी चाहिए। गणित तो मेरा हमेशा चलता ही है। मैंने हिसाब लगाया कि पांच हजार मनुष्यों की सेवा के लिए एक शांति-सैनिक चाहिए। अर्थात् 35 करोड लोगों की सेवा के लिए 70 हजार सैनिक चाहिए। ऐसी एक सेना शांति-सेवकों की भारत में खडी हो जाये।

मैंने केरलवालों से कहा कि वे इसमें पहल करें। तो केलप्पन् जैसे नेता शांति-सेना के कमांडर होने के लिए तैयार हो गये। पहले तो वे किसी पक्ष में थे। फिर भी उन्होंने फौरन बिना किसी हिचकिचाहट के इस्तीफा दे दिया। उनके प्रति लोगों में इज्जत है। ऐसा सेनापति केरल में शांति-सेना के लिए मिला। वैसे ही उनका शब्द मानने के लिए सेना भी तैयार हुई। पचासों जवानों ने यह कह दिया कि हमें मंजूर है। एक अजीब दृश्य केरल में उपस्थित हुआ। एक सभा में खडे होकर आठ-नौ लोगों ने प्रतिज्ञा की कि हम शांति-सेना के लिए तैयार रहेंगे और जहां ऐसा प्रसंग आयेगा वहां मर मिटेंगे। और भी दस-बीस लोग इस तरह की प्रतिज्ञा करने के लिए तैयार हो सकते थे। परंतु मैंने उनको रोका। मैंने कहा कि हम अभी ज्यादा लोग नहीं चाहते, यह प्रथम दिन है। परखे हुए लोग, जिनसे हमारा संपर्क आया है, आरंभ के लिए बस है। इस तरह केरल में शांति-सेना की स्थापना हुई (कोलिक्कोड : 11.7.57)।

शांति-सेना की स्थापना के बाद मैंने कहा था कि सारे भारत की शांति-सेना के लिए कोई 'सुप्रीम कमांड' चाहिए। यह काम परमेश्वर ही करेगा। जिस भाषा में मैं बोल सकता हूं, उससे दूसरी भाषा में बोलने की ताकत मुझमें नहीं है। फिर भी लक्षण यह दीखता है कि अखिल भारत में शांति-सेना के सेनापतित्व की जिम्मेवारी विनोबा को उठानी होगी और वैसी मानसिक तैयारी विनोबा ने कर ली है।

मैंने देश में 70 हजार शांति-सैनिकों की मांग की। इतने शांति-सैनिक नहीं मिलते, तो हम हास्यास्पद बन जाते हैं। मुझे ऐसा हास्यास्पद बनना अच्छा लगता है। हास्य भी एक रस है। वह रस भी अगर लोगों को मिलता है तो अच्छा ही है। मैं इस तरह के गणित करके जो आंकडे

रखता हूं, वे इसलिए कि हमें कहां पहुंचना है, यह ध्यान में आ जाये। मैंने पांच करोड एकड जमीन की मांग की थी। लोग पूछते हैं कि 40 लाख एकड जमीन ही आपको प्राप्त हुई। अब? यानी मैंने स्वयं को हास्यास्पद बना लिया। अगर मैं 25-30 लाख एकड जमीन हासिल करने की बात करता तो उससे भी ज्यादा जमीन मिल जाती। परंतु मैंने पांच करोड एकड का तय किया। जो लोग हमारी हंसी उडाते हैं, वे नहीं समझते कि इस देश में किस ढंग से चलना है। '**यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।**' व्यापकता में सुख है, अल्प में नहीं। मैं असंभव दीखनेवाला ध्येय सामने रखता हूं और उसे संभव बनाने का प्रयत्न करता हूं, इसी लिए मेरे पांव को गति मिलती है।

केरल में गुरुवायूर नाम का प्रसिद्ध मंदिर है। कई वर्ष पूर्व वहां केलप्पन् ने उपवास किया था। केलप्पन् के उपवास में गांधीजी ने भाग लिया था। गांधीजी ने केलप्पन् से कहा कि तुम उपवास मत करो, तुम्हारे बदले मैं करूंगा। गांधीजी ने उस उपवास को अपने ऊपर ओढ लिया। उसके बाद वह मंदिर हरिजनों के लिए खोल दिया गया। मैं जब वहां गया तो मेरे साथ कुछ ईसाई साथी थे। मैंने मंदिरवालों से पूछा, इनके साथ आप मुझे अंदर जाने देंगे? उन्होंने कहा, इनके साथ नहीं आने देंगे। लेकिन अगर आप भीतर आयेंगे तो हमें अत्यंत आनंद होगा, और न आयेंगे तो हमें बहुत दुःख होगा। तब मैंने कहा, मैं मजबूर हूं। मैं नहीं समझता कि अपने साथ आये हुए ईसाई मित्रों को छोडकर मंदिर में जाकर मैं ईश्वर-दर्शन कर सकूंगा। वहां मुझे देवता के दर्शन नहीं होंगे। इसलिए मैं नहीं आता। मैं अंदर गया नहीं।

गुरुवायूर में मुझे नहीं जाने दिया गया, इसके लिए मलयालम् समाचारपत्रों में लगातार प्रखर आलोचना हुई। प्रचंड लोकमत इस घटना के खिलाफ था। केवल एक-दो समाचारपत्रों ने मेरी टीका की कि अन्यधर्मियों को ले जाने का आग्रह रखना गलत है। बाकी के बीस-पचीस समाचारपत्रों ने यही कहा कि मेरा विचार उचित था और मुझे मंदिर में न जाने देने में बडी भूल हुई है और हिंदूधर्म पर बडा आघात हुआ है।

कुछ स्थानों पर इससे उलटा भी अनुभव आया। मेलकोट (कर्नाटक) में रामानुजाचार्य का मंदिर है, जिसमें रामानुजाचार्य पंद्रह साल तक रहे थे। रामानुजाचार्य एक अत्यंत उदार आचार्य हैं। उन्होंने जगदुद्धार का प्रचंड

कार्य किया है। मेलकोट सारे दक्षिण भारत का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। मैं वहां गया था। हमारे साथियों में कुछ ईसाई थे। उनके साथ मैं अंदर गया। यह आनंद का विषय है कि मेलकोट में उन्होंने हमें प्रवेश दिया।

केरल की हमारी यात्रा में करीब बारह लोग बीमार पडकर अस्पताल पहुंचे। लेकिन काम जारी रहा। क्यों जारी रहा? क्योंकि एक शख्स घूम रहा था। वह कैसे घूम सकता है, इसका उत्तर उसको भी नहीं मिल रहा था, सिवा इसके कि 'ईश्वर उसे घुमा रहा है'। यह भी सोचने की बात है कि कालडी में 11 तारीख को जो वृष्टि हुई, वह अगर 10 तारीख को होती तो सम्मेलन का क्या होता और हम लोगों की कितनी फजीहत होती! इसे अगर ईश्वर की कृपा न कहा जाये, तो और क्या कहा जाये!

* *

इसके बाद हमारी भूदान-यात्रा कर्नाटक पहुंची। वहां के प्रसिद्ध गोकर्ण-महाबलेश्वर में फिर वही प्रसंग आया। वहां हमारे साथियों में सलीम नाम का एक मुसलमान भाई था। बडा प्रेमल, बडा श्रद्धालु। मैंने मंदिर के मालिकों से और पुजारियों से पूछा, क्या आप हमें अंदर जाने देंगे? इस प्रकार का एक व्यक्ति हमारे साथ है। उन्होंने कहा, आप अपने सब साथियों के साथ अंदर आइए। हमें आपके यहां आने में कुछ भी आपत्ति नहीं है। मुझे इससे बहुत आनंद हुआ। गोकर्ण-महाबलेश्वर में मैं अन्यधर्मियों के साथ गया और उन लोगों ने हमें प्रवेश करने दिया, फिर भी वह देवता भ्रष्ट नहीं हुआ। गोकर्ण-महाबलेश्वर कोई छोटा तीर्थक्षेत्र नहीं है। इस प्रकार मंदिर-प्रवेश का आग्रह यदि मैं न रखूं, तो संसार में हिंदूधर्म की साख नहीं रहेगी। मुसलमानों ने अपनी मस्जिदों में, ईसाइयों ने अपने गिरजाघरों में, सिखों ने गुरुद्वारों में, सभी जगहों पर मेरा अत्यंत प्रेम से स्वागत किया है। जिस मनुष्य के हृदय में प्रेम ही भरा हो, उससे कौन प्रेम नहीं करेगा?

धारवाड जिले में पहला पडाव हावनूर* था, जहां 57 साल पहले जाडों के दिनों में मां के साथ मैं रहा था। तुंगभद्रा के किनारे वह गांव है। नदी पार करके वहां पहुंचे। 57 वर्षों का स्मरण आंखों के सामने से गुजर रहा था।

---

* हावनूर में विनोबाजी की मां का ननिहाल था – सं.

कर्नाटक में संयुक्त कर्नाटक के प्रथम वर्षदिन पर हमने नये मंत्र का उद्घोष किया – **'जय जगत्'** (1 नवंबर 1957)। संयुक्त कर्नाटक पहला कदम है, इसके बाद संयुक्त भारत और उसके बाद संयुक्त विश्व बनाना है। पंद्रह साल पहले 'जय हिंद' का नारा निकला था। अब वह 'जय जगत्' तक पहुंच गया। दुनिया में वेग से विचार आगे बढ रहे हैं। धीरे-धीरे सभी देशों की सरहदें टूटनेवाली हैं। अब विश्व को सम्मिलित परिवार बनाने की संभावनाएं बढ रही हैं। भावना विशाल हो रही है। इसलिए हमने कहा कि इसके आगे हमारा मंत्र 'जय जगत्' रहेगा।

बहुत पुरानी बात है। एकबार पवनार आश्रम में आजाद हिंद सेना के कुछ भाई मुझसे मिलने आये थे। उन्होंने सलाम करते हुए कहा, 'जय हिंद'। मुझे भी जवाब में सलाम करना चाहिए था। पर मैंने कहा, 'जय हिंद, जय दुनिया, जय हरि'। यानी मैं सुझाना चाहता था कि 'जय हिंद' भी छोटा नारा साबित हो सकता है, ऐसा जमाना आ गया है। मैंने आगे कहा था कि 'जय हिंद' तभी सही है, जबकि उसके साथ 'जय दुनिया' भी जुडा हो। अपने देश की जय में दूसरे देश की पराजय न हो। फिर सारी दुनिया इतनी पागल बन सकती है कि परमेश्वर को भी भूल जाये। इसलिए उसके साथ 'जय हरि' भी जोड दिया। 'जय हरि' गहराई है और 'जय दुनिया' व्यापकता है। 'जय हिंद' तो आज बहुत छोटी चीज हो गयी है। यह बात मैंने सात-आठ साल पहले उन लोगों को कही थी। अब तो कर्नाटक का बच्चा-बच्चा 'जय जगत्' बोल रहा है।

इन्हीं दिनों मेरा जोरदार चिंतन चला था कि छः साल हुए, अच्छा काम चला, भूदान से ग्रामदान निकला। क्या यह सब मेरा खब्त है? 'फैड' है? पागलपन है? अथवा इसमें कोई तथ्य है? मुझे लगा, इसकी परीक्षा होनी चाहिए। मैंने सर्व सेवा संघ के द्वारा नेताओं को आवाहन किया कि इसकी परीक्षा कीजिए और सुझाव दीजिए। फिर यलवाल (कर्नाटक) में ऐसी सर्वपक्षीय राजनैतिक नेताओं की ग्रामदान-परिषद हुई (21,22 सितंबर 1957)। उसमें ऐसे नेता* उपस्थित थे, जो व्यवहार का उत्तम विचार करनेवाले के नाते सर्वमान्य थे। उन्होंने एकमति से

---

* सर्वश्री राजेंद्रप्रसाद, पंडित नेहरू, गुलजारीलाल नंदा, मुरारजी देसाई, कामराज नाडर, झेड्. अहमद, नंबुद्रीपाद, निजलिंगप्पा, श्रीमती कृपलानी आदि – सं.

ग्रामदान के विचार को बल दिया और 'मेगनाचार्टा' दिया, जिसमें लिखा है कि "ग्रामदान के विचार को सबको उत्तेजन देना चाहिए, क्योंकि उससे नैतिक उन्नति के साथ भौतिक उन्नति होगी।" इस पर मैं सोचने लगा कि इन दो उन्नतियों को छोडकर मानव के लिए तीसरी क्या उन्नति शेष रही? मतलब केवल धर्म-प्रवचन करनेवालों से ही नहीं, व्यावहारिक नेताओं से भी उस प्रकार का आश्वासन मिला। तब मैं समझ गया कि ग्रामदान का विचार लोकमान्य हुआ है। उस परिषद में मैंने यह विचार रखा था कि ग्रामदान 'डिफेन्स मेजर' (संरक्षण का साधन) है।

इस परिषद में मैंने मेरा यह विचार भी रखा था कि मेरी एक मूलभूत श्रद्धा है कि हर मनुष्य के हृदय में अंतर्यामी है। ऊपर-ऊपर से जो बुराइयां दीखती हैं, वे गहराई में नहीं होतीं। इसलिए मनुष्य-हृदय की गहराई में प्रवेश करके वहां जो अच्छाइयां भरी हैं, उनको बाहर लाने की कोई तरकीब मिलनी चाहिए। दूसरी बात, इस दुनिया में कुल के कुल 'हैव्ज' ('हैं' वाले) हैं; 'हैवनाट्स' ('नहीं' वाले), परमेश्वर की कृपा से, दुनिया में कोई नहीं है। इसलिए जिसके पास जो है – जमीन, संपत्ति, श्रम, बुद्धि, प्रेम – वह ग्राम को समर्पण करें, अपने घर तक सीमित न रखें। नहीं तो कुछ लोगों का देने का धर्म और कुछ लोगों का लेने का धर्म हो जायेगा। ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म वही होता है, जो सबको लागू होता है।

सर्वोदय-पात्र का विचार भी कर्नाटक की यात्रा में ही मैंने प्रथम बार प्रस्तुत किया (धारवाड : 1 फरवरी 1958)। गीता में आता है, **'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्'**। किसी भी कार्य के लिए पहले चाहिए अधिष्ठान और अधिष्ठान के बाद चाहिए कर्ता। अहिंसा के सामाजिक प्रचार के लिए अधिष्ठान मिल गया – भूदान का प्रारंभ हो गया। उसके बाद, सारे देश में पांच हजार मनुष्य के लिए एक सेवक के हिसाब से 70 हजार विचारवान, आचारवान लोकसेवक चाहिए। उनकी एक सेवा-सेना – शांति-सेना बनेगी, जो गांव-गांव की, घर-घर की सेवा करेगी और देश में शांति की रक्षा करेगी। केरल में ऐसी शांति-सेना का प्रारंभ हो गया। अब इसके आगे **'करणं च पृथक् विधम्'** – तरह-तरह के साधन चाहिए। मैंने दो प्रकार के साधनों की मांग की – संपत्तिदान और सम्मतिदान। संपत्तिदान यानी अपनी संपत्ति के कुछ हिस्से का दान।

भगवान ने कम या अधिक, जो भी संपत्ति हमें दी है, उसका एक अंश समाज को समर्पण करके बचे हुए को भोगने का अधिकार मनुष्य को है। उपनिषद की आज्ञा है, '**तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।**' श्रम हो, संपत्ति हो, बुद्धि हो, कुछ न कुछ देने की हरएक से मैंने मांग की। इससे बहुत बडी आध्यात्मिक और उतनी ही बडी भौतिक शक्ति इस भारत में पैदा होगी।

सम्मतिदान का मतलब है सर्वोदय, शांति-सेना, ग्रामदान, खादी-काम में अपनी सम्मति प्रकट करना। उसमें हम यथाशक्ति योग देंगे, ऐसी भावना लोगों में आये और उसके चिह्न के तौर पर रोज थोडा-थोडा समाज को दें। संपत्तिदान में तो छठा हिस्सा देने की बात है। सम्मतिदान में एक मुट्ठी अनाज हर घर से मिलना चाहिए। एक मुट्ठी अनाज हर घर से और वह भी छोटे बच्चे की मुट्ठी से। यह मेरा एक दर्शन है। घर का बडा मनुष्य या मां सर्वोदय के नाम से एक मुट्ठी अनाज डाले तो ज्यादा अनाज आयेगा। इसलिए वह नहीं चाहिए। छोटे बच्चे या बच्ची की मुट्ठी से अनाज डाला जाये। क्यों? इसलिए कि रोज भोजन के पहले मां बच्चे से पूछेगी, अरे, सर्वोदय के मटके में अनाज डाला? बच्चा भूल गया हो तो वह कहेगी, जा, पहले डालकर आ। इससे बडी भारी धर्म-संस्थापना होगी, ऐसी मेरी भावना है। इससे सर्वोदय को अनाज मिलेगा, सम्मति मिलेगी, परंतु इससे भी बडी बात यह होगी कि बच्चों को शिक्षण मिलेगा। ऐसी धर्मविधि हर घर में होगी। वह सब पर लागू होगा। वह मानव-धर्म ही है। उसमें हिंदू, मुसलमान, ईसाई – सब आ जाते हैं। थोडे में, सर्वोदय-पात्र के तीन उद्देश्य हुए – *(1) अशांति के कामों में भाग न लेने की निषेधात्मक प्रतिज्ञा, (2) सर्वोदय-विचार के लिए सक्रिय मतदान, सम्मतिदान और (3) सारे हिंदुस्तान में छोटे बच्चों के शिक्षण की व्यवस्था।*

आज जो दान-धर्म किया जाता है, वह समाज को थोडा-सा सुख देता है। लेकिन उससे समाज-रचना नहीं बदलती। सर्वोदय-पात्र से मिलनेवाले अनाज का उपयोग क्रांति के लिए यानी नयी समाज-रचना का निर्माण करने के लिए होगा। पुरानी समाज-रचना कायम रखकर थोडा-सा दुःख मिटाना इसका उद्देश्य कदापि नहीं। दुःखनिवारण का काम अच्छा होता है, लेकिन उससे दुःख की जड नहीं कटती। लेकिन सर्वोदय-पात्र द्वारा नींवसहित नयी इमारत खडी करनी है। जिस दिन सर्वोदय-पात्र

का विचार मुझे सूझा उस दिन मुझे लगा, मैं ऋषि हो गया। भूदान का विचार सूझा तब ऐसा नहीं लगा। पर सर्वोदय-पात्र एक विचार-दर्शन है। मुट्ठीभर अनाज में जो बीजशक्ति है, उसी से जनशक्ति निर्माण होगी।

कर्नाटक में मैंने कहा था, इसके बाद मेरी ऐसी वृत्ति है कि हम घूमते चले जायें। कहीं शिविर हो तो शिविर के लिए जायें, कहीं चर्चा हो तो चर्चा के लिए जायें, और सर्वोदय आदि पर चर्चा तो चले ही। फिर भी मेरी मुक्त विहार करने की इच्छा है। इसलिए कि मुक्त विहार से ही इसके आगे हमारा काम अधिक अच्छा बनेगा। खास कर जब हम महाराष्ट्र और गुजरात जायेंगे तब, मेरे मन में आया है कि, यह भूदान आदि सारा कवच नीचे उतार देंगे। जैसे नग्न लडका मां के पास पहुंचता है, उसी तरह नग्न रूप में मैं वहां पहुंचूं। मैं समझता हूं कि इसके आगे और व्यक्तिगत पुण्य संपादन करने की कोई जरूरत न होगी। यद्यपि यह जो पुण्य संपादन किया, वह व्यक्तिगत नहीं, फिर भी उसमें व्यक्तिगत स्वरूप आ ही जाता है। वह व्यक्तिगत स्वरूप बिलकुल छूट जाये, और मैं 'केवल होकर' रहूं।

ज्ञानोबा-तुकोबा के नक्शेकदम

सात साल हिंदुस्तान की यात्रा करके मैं महाराष्ट्र में आया (23 मार्च 1958)। *वहां मैंने कहा कि मैं यहां सारे अभिमान को छोडकर उपस्थित हुआ हूं। सात साल हो गये, इस महाभारत में मेरी यात्रा परमेश्वर की कृपा से निरंतर चली और एक प्रेम-प्रदेश से दूसरे प्रेम-प्रदेश में मेरा प्रवेश होता गया। कुछ दिन तुलसीदास-कबीर के प्रदेश में, कुछ दिन बुद्ध-महावीर के प्रदेश में यात्रा चली। उसके बाद चैतन्य और जगन्नाथ के चरणों में मुझे प्रवेश मिला। फिर शंकर, रामानुज और बसवेश्वर का दर्शन लेकर आज मैं ज्ञानोबा माउली (मां) के चरणों में उपस्थित हूं। बिलकुल खाली होकर आया हूं। यहां मुझे प्रेम के सिवा और कुछ* चाहिए नहीं। मैं अनेक प्रकार के दान प्रवृत्त कर चुका हूं। वे सभी अत्यंत जरूरी हैं। परंतु उन्हें प्रेम के चिह्न के तौर पर ही देना है। प्रेम-चिह्न के तौर पर जो मिलनेवाला है, वह मिलना चाहिए। मैं सबके प्रेम का भूखा हूं। विचार और प्रेम, इन दो के अलावा तीसरी कोई भी वस्तु जिसके पास नहीं है, ऐसा एक शख्स महाराष्ट्र के लोगों के सामने उपस्थित हुआ है। मैं यहां इतना कुछ मुक्त होकर आया हूं कि जिन सिद्धांतों को पूरी

निःशंकता से अपने मन में निश्चित कर लिया है, उन्हें भी पुनः खोलकर रखने और उन पर पुनर्विचार करने की मेरी तैयारी है। मेरी अपनी कोई संस्था नहीं है। मैं किसी भी संस्था का सदस्य नहीं हूं। मैं एक सादा-सा मनुष्य हूं। जैसा भगवान ने भेजा वैसा ही हूं। सिर्फ दो उपाधियां है – एक चश्मा और दूसरी धोती। उन उपाधियों की भी मुझे पीडा होती है। लेकिन लोकलाज के कारण या और किसी कारण से कहिए, उनको संभालता रहता हूं।

चालीस साल पहले (1918) की बात है, मैं महाराष्ट्र के कुछ जिलों में पैदल घूमा था। ऐतिहासिक स्थान तथा ऐतिहासिक कागजात देखने में उस समय मुझे बहुत रुचि थी। जहां भी वैसा अवसर मिलता, वहां उसका लाभ उठाता। लेकिन इस समय मैं इतिहास-संशोधन (अनुसंधान) नहीं, वर्तमान-संशोधन कर रहा हूं। आज के युग की आवश्यकता क्या है, और उसकी पूर्ति कैसे हो सकती है, इसमें एक-एक खोज हो रही है। मैं कहता था कि 'थोडा भूदान दो'। फिर 'छठा हिस्सा जमीन' मांगने लगा। उसके बाद कहने लगा कि 'गांव में कोई भी भूमिहीन न रहे, इसका ख्याल करो'। फिर तो समझाने लगा कि 'जमीन की मिलकियत रखना गलत बात है। हवा-पानी-सूरज की रोशनी के जैसे ही जमीन भी सबकी है'। फिर ग्रामस्वराज्य, शांतिसेना और अब सर्वोदय-पात्र की बात कहता रहता हूं। एकबार रास्ते में एक वटवृक्ष देखा। मेरे मन में विचार आया कि भूदान का काम इस वृक्ष के समान ही है – नयी-नयी शाखाएं फूटनेवाला, नित्यनूतन पल्लवित होनेवाला चैतन्यवृक्ष!

यही श्रद्धा रखकर और भगवान की प्रेरणा से मैं यह काम करता आया हूं। इसी कारण मेरा उत्साह बढता ही जाता है। थकान का तनिक भी अनुभव नहीं आता। जिसका जीवन रसमय हो गया हो, उसमें थकान की गुंजाइश ही नहीं रहती। मैं तो इस यात्रा के कारण और भी मजबूत हो गया हूं। मुझे लगता है कि मृत्यु को मेरे पास पहुंचने में देर लगेगी। एक जगह बैठे रहनेवाले के पास तो मौत पहुंच भी सकती है। लेकिन जो अपने पैरों से चलता ही रहता है, उसके पास पहुंचने में मौत को भी देर लगेगी। मुझे विश्वास है कि मेरे लिए जो क्षण लिखा है, मैं उससे एक क्षण भी पहले मर नहीं सकता। इसी लिए मुझे जरा भी डर नहीं और न यह भी लगता है कि यह काम होगा या नहीं। यही लगता कि यह जीवन

का काम है, इसलिए यह होने ही वाला है।

उस साल का सर्वोदय सम्मेलन महाराष्ट्र में करने का तय हुआ। सम्मेलन किस स्थान पर हो इसकी चर्चा चली, तब मैंने ही पंढरपुर का आग्रह रखा। दूसरे कई स्थान सुझाये गये थे, लेकिन मेरा चित्त पंढरपुर छोडकर और कहीं जाने को तैयार नहीं था। परमेश्वर की कृपा इस देश पर और मानवजाति पर है। इसलिए उसने इस देश में और अन्य जगहों पर भी समय-समय पर असंख्य महापुरुषों को भेजा। उनके उपदेश और सिखावन से हमारा यह मानवसमूह मानवता की राह पर किसी तरह टिक सका है। इस विज्ञानयुग में मनुष्य के हाथ में ऐसे भयानक शस्त्रास्त्र आये हैं, जिनसे संपूर्ण मानवजाति का संहार हो रहा है। ऐसी हालत में इहलोक के जीवन को भी आध्यात्मिकता की आवश्यकता निर्माण हुई है। पारलौकिक दृष्टि से अध्यात्म की आवश्यकता, आत्मा की व्यक्तिगत उन्नति की दृष्टि से अध्यात्म की आवश्यकता, मुक्ति के प्रयत्न करनेवाले साधकों को अध्यात्म-ज्ञान की आवश्यकता, ये सब बातें जैसी पुराने युग में थीं वैसी आज भी कायम हैं; परंतु उसी के साथ इहलोक का जीवन जीने के लिए ही अध्यात्म जरूरी हो गया है। मतलब यह आज की भौतिक गरज है। ऐसी हालत में पंढरपुर और तत्सम स्थान हमें नहीं बचायेंगे, तो और कौन बचायेगा? इस विचार से मैंने पंढरपुर को चुना। यह हिंदुओं का क्षेत्र है इतना ही मैं नहीं मानता, बल्कि मानता हूं कि यह एक आध्यात्मिक क्षेत्र है और अध्यात्म-विद्या का अधिकार हिंदु, मुसलमान, ईसाई, मानवमात्र को है। वह सभी की जरूरत है। मानवजाति के उद्धार के लिए आवश्यक अध्यात्म-विद्या का महाराष्ट्र का आदितीर्थ, इस दृष्टि से मैंने पंढरपुर का चुनाव किया।

सर्वोदय सम्मेलन के निमित्त से, 63 साल की उम्र में जीवन में पहली बार पंढरपुर आया। लेकिन अगर कोई यह मानता हो कि इतने दिन मैं यहां गैरहाजिर था, तो कहना पडेगा कि उसे मेरे जीवन का कुछ भी पता नहीं है! मेरा दावा है कि जबसे मैंने होश संभाला है तबसे आज तक मैं पंढरपुर में ही हूं। तिस पर भी मैं मानता हूं कि सभी स्थानों पर पांडुरंग का निवास है, इसलिए सभी स्थान मुझे यात्रा के ही स्थान लगते हैं। हमारा तीर्थक्षेत्र केवल पंढरपुर या रामेश्वर, या मक्का, या जेरुसलेम ही नहीं, प्रत्येक गांव और प्रत्येक घर हमारा तीर्थक्षेत्र है।

कुछ लोगों ने जाहिर किया कि अब विनोबा पंढरपुर आ रहा है तो अन्य जाति-धर्म के लोगों के साथ मंदिर में जायेगा और मंदिर को भ्रष्ट कर देगा। कैसे मालूम होगी उन लोगों को मेरी भक्ति! सत्याग्रह की यह मेरी रीति नहीं। जहां मनाही है, श्रद्धा होने के बावजूद मैं वहां न जाऊंगा यही मेरा सत्याग्रह है। परंतु रास्ते में एक पडाव पर पुंडलीक के मंदिर के लोग मुझसे मिलने के लिए आये थे। उन्होंने मुझे सभी लोगों को साथ लेकर मंदिर में आने का आमंत्रण दिया। लिखित आमंत्रण दिया। उसके दो दिन बाद रुक्मिणी-मंदिर के भक्त मेरे पास आये। उन्होंने भी रुक्मिणी-मंदिर का वैसा ही लिखित आमंत्रण दिया। फिर तो मैं सोचने लगा कि भक्त पुंडलीक और माता रुक्मिणी जब मेरे हाथ में आ गये तब अब विठोबा कैसे दूर रहेगा! यह तो कुंजी ही मेरे हाथ में आ गयी है, अब विठोबा के मंदिर को भले ही ताला क्यों न लगा हो! और फिर विठ्ठल-मंदिर के लोगों ने भी लिखित आमंत्रण दिया। पंढरपुर के लोगों ने मुझे पूरी तरह जीत लिया।

विठोबा के चरणों के सामने मैं खडा था, तब मुझे जो अनुभव आया, उसको मैं शब्दों में नहीं रख सकता। वहां के मेरे प्रवचन में मैंने कहा कि आज जो दान मुझे मिला और जो उपकार मुझ पर हुआ उससे श्रेष्ठ दान और उससे अधिक उपकार कभी नहीं हुआ था। हमारे साथ क्रिश्चन, मुस्लिम और पारसी बहनें थीं। उन सभी धर्म-जाति के लोगों के साथ हमने विठोबा का दर्शन किया (29 मई 1958)। इस दान के द्वारा महाराष्ट्र ने जो अधिक से अधिक देना संभव था, वह दे दिया है। यह घटना, मेरी दृष्टि से, सर्वोदय के इतिहास में अपूर्व घटना है। उस दिन एम्. आर्. ए. वाले मेरे पास आये तब मैंने उन्हें कहा कि पंढरपुरवासियों ने नैतिक शस्त्रागार बहुत मजबूत किया है। उन्होंने भी कहा कि "निःसंदेह नैतिक शस्त्रागार मजबूत करनेवाली ही यह घटना है।" विज्ञानयुग में साम्ययोग केवल समाधि में अनुभव लेने की बात नहीं रही। पूरे समाज को साम्ययोग का अनुभव होना चाहिए। पहले साम्ययोग शिखर था, परंतु अब वह नींव बना है। अब जीवन की रचना उसके आधार पर होनी चाहिए, विज्ञान-युग की यह मांग है।

गांधी-गृह में

बहुत वर्षों की वासना थी, वह अवसर आ गया, मैं गुजरात की

भूमि में पहुंच गया (22 सितंबर 1958)। गांधीजनों के दर्शन से मुझे जो आनंद हुआ, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। गुजरात में गांधीजनों के सिवा और कौन रहता है, इसका मुझे पता नहीं है। वैसे तो सारी दुनिया गांधीजी की थी और वे सारी दुनिया के थे। हिंदुस्तान के तो वे थे ही, परंतु उसके अलावा गुजरात के भी थे। और मैं इन सबका बंधु बहुत साल तक बाहर ही, दूसरे प्रांतों में रहा, अब घर पहुंचा।

मैंने सोचा कि गुजरात की यात्रा में मैं गुजराती में ही बोलूंगा। आरंभ में जब मैं बापू से मिलता था, तब हिंदी में बातें करनी पडती थीं। तब मैंने देखा कि उस वक्त वे हिंदी बहुत अच्छी नहीं जानते थे। इसलिए मैंने बहुत थोडे दिनों में गुजराती का अध्ययन किया और उनके सांथ मेरी बातचीत हमेशा गुजराती में होती रही। मैंने गुजरात से बहुत पाया है। इसलिए मैंने वहां बताया कि यहां मुझसे ज्ञान की अपेक्षा न रखी जाये। मुझसे बन सकेगी उतनी सबकी सेवा करने की कोशिश मैं करूंगा।

वहां पर सब पक्षों और अपक्ष के भी सारे लोग मुझे बल देने के लिए आये। उनसे बातें करते हुए मैंने कहा था कि जो विचार लेकर मैं यहां आया हूं, वह विचार उन सबके विविध विचारों का महत्तम साधारण अंश है। दुनिया में बहुत मतभेद हैं, परंतु जो मुख्य विचार लेकर मैं हिंदुस्तान में पदसंचार कर रहा हूं, वह विचार लोकमान्य हो गया है। अभी उसे लोकप्रिय बनाना बाकी है। पिछले साल जब मैं केरल गया था, तो मेरे जाने के पहले वहां के चार ईसाई चर्चवालों ने एक निवेदन प्रजा के सामने रखा था कि "यह शख्स ईसा मसीह का काम करता है, इसलिए सारे ईसाई भाइयों को चाहिए कि वे उसे पूरा सहयोग दें।" उत्तर प्रदेश की यात्रा में जब मैं सारनाथ पहुंचा था, तब वहां के बौद्ध भिक्षुओं ने मेरा स्वागत करते हुए कहा था कि "बाबा का जो दावा है कि वे बुद्धभगवान के धर्मचक्र-प्रवर्तन को आगे चला रहे हैं, वह दावा हमें मान्य है।" यह कहकर उन्होंने मुझे प्रेमोपहार के तौर पर धम्मपद दिया और वही लेकर मैं बिहार पहुंचा। जब मैं भूदानयात्रा में मलबार पहुंचा तब वहां के मुसलमानों ने मुझसे कहा कि "आप जो कहते हैं, वे ही बातें कुर्आन में हैं।" मैंने उनसे कहा कि मैंने कुर्आन पढी है और भक्तिपूर्वक पढी है, इसलिए आपका दावा मान्य करने में मुझे खुशी होती है। तमिलनाड में वहां के सर्वश्रेष्ठ पुरुष तिरुवल्लूवर का जिक्र करते हुए एक भाई ने

किताब लिखी कि "तिरुवल्लूवर जो बात कहते थे, उसी का प्रचार विनोबा करता है, इसलिए सब तमिलों को चाहिए कि वे विनोबा को सहयोग दें।" इस तरह जो भिन्न-भिन्न विचार दुनिया में अपना असर रखते हैं, उनकी मान्यता इस विचार को मिल गयी है। अब इस विचार को लोकप्रिय बनाने का काम बाकी है।

मैं जब बारडोली पहुंचा तब वहां यही बात कही कि गुजरात का हृदय वैष्णव और बुद्धि व्यावहारिक है। दोनों का योग होता है, वहां योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर अर्जुन होते हैं। तो श्री, विजय, भूति मिलते ही हैं। ग्रामदान यानी अभयदान ही है। साबरमती हरिजन आश्रम में मैंने कहा कि यह एक गांव ही बन गया है और गांव के मसले यहां भी हैं, इसलिए इसका भी ग्रामदान हो जाये तो मसले हल हो जायेंगे।

संक्रांति के दिन गुजरात का आखिरी दिन था। इसलिए सोच लिया था कि आज व्याख्यान में हमेशा का ही राग अलापते नहीं रहना है। नारद की वीणा ले ली। आज तक हम अपनी अक्ल से व्यवहार करते आये, अब संक्रांति के बाद परमेश्वर पर सब सौंप दें – नारद का यह गाना गद्य भाषा में बिठाया। वैसे तो मैंने यह गद्य बचपन से ही पकड रखा है। इसलिए ऐसा कभी हुआ नहीं कि मैंने सोचा एक और हुआ दूसरा ही। क्योंकि जो भी सोचा और योजना की वह ईश्वर के नाम से ही की। और तदनुसार वह सभी योजनाएं करता ही गया। गांधीजी जैसे *तैयार मार्गदर्शक, जमनालालजी जैसे तैयार मित्र, वल्लभस्वामी जैसे तैयार विद्यार्थी और तैयार भूदान कार्यकर्ता अनायास मिले!* यह सब ईश्वर की ही योजना है। मुझे लगता है कि मेरी गुजरात-यात्रा सफल रही। लोगों को अनुभूति हो या न हो, परंतु मुझे इस यात्रा से अपनी शक्ति-वृद्धि का अनुभव हुआ।

दरगाह शरीफ में

राजस्थान की यात्रा में, अजमेर में सर्वोदय सम्मलेन का आयोजन किया गया। वह इसी लिए कि अजमेर का दरगाहशरीफ मुसलमानों का प्रसिद्ध पवित्र स्थान है।* फिलिस्तान में सम्मेलन करने का अवसर आये

---

* भारत की मुस्लिम जनता के लिए मक्काशरीफ के बाद दूसरा पवित्र स्थान है अजमेर का दरगाहशरीफ – सं.

तो वह जेरूसलेम में होगा। मैं पंथ का अभिमानी नहीं। इन स्थानों का महत्त्व है; क्योंकि यहां शुद्धतापूर्वक कठिन तपश्चर्या हुई है।

वहां दरगाहशरीफ के नाजिम का निमंत्रण मुझे मिला। उन्होंने हमारे साथी को लिखा था कि 'हम बहुत चाहते हैं कि विनोबाजी दरगाह में पधारें, हम उनका स्वागत करना चाहते हैं, क्योंकि हमारे महान संत का आदर्श शांति और प्रेम ही था। विनोबाजी के साथ मैं उनके साथ के बाकी सभी लोगों को भी निमंत्रण दे रहा हूं, सभी का यहां स्वागत होगा।' इस निमंत्रण के आधार से मैंने सम्मेलन की बैठक में सभी को मेरे साथ चलने का निमंत्रण दिया। मैंने कहा कि स्त्रियां भी अवश्य चलें। जैसे पंढरपुर के मंदिर में सभी जाति और धर्म के लोग आये, वैसे ही यहां भी सभी आयें। इस्लाम का संदेश बडा पवित्र है। वह गरीब और श्रीमान का भेद नहीं मानता। सूदखोरी का उसने तीव्र निषेध किया है। वह लोकतंत्र का एक आदर्श है। मैं घोषित करना चाहता हूं कि 'मैं मुसलमान हूं और ईसाई भी हूं'। दस साल पहले मैं एक दफा इस दरगाह में आया था। वे दिन ऐसे थे कि लोगों का दिमाग ठिकाने पर नहीं था। इसलिए मैं यहां आया था और सात दिन ठहरा था। यहां मेरी प्रार्थना हुआ करती थी।

दूसरे दिन सभी जाति-धर्म के हजारों लोगों के साथ में वहां गया। बहुत ही प्रेमपूर्वक हमारा स्वागत हुआ। मैंने वहां कहा कि कहीं-कहीं *मंदिरों-मसजिदों में सब लोगों के जाने की मनाही रहती है। यह ठीक नहीं। ऐसा होना चाहिए कि सभी इबादतगाहों में बिना किसी भेदभाव के सभी लोग जा सकें। यों इबादत के लिए न मंदिर की जरूरत है, न मसजिद की। हर जगह इबादत की जा सकती है। इसलिए भेदभाव मिट जाना चाहिए। भक्ति के लिए सिर्फ तीन चीजों की जरूरत है – कुरानशरीफ में कहा गया है – सब्र, रहम और हक। मैं इन्हें प्रेम, करुणा* और सत्य कहता हूं।

लल्लेश्वरी के राज्य में

जब मैं कश्मीर पहुंचा तब मुझे कितनी खुशी हो रही थी, इसका बयान लफ्जों में नहीं हो सकता। पठानकोट में कुछ मुसलमान भाई मुझसे मिलने आये थे। उन्होंने अपनी तरफ से मुझे एक ऐसी भेंट दी,

जिससे बेहतरीन दूसरी कोई चीज हो ही नहीं सकती। उन्होंने एक बडी खूबसूरत कुर्आन की प्रति भेंट दी। मैं समझता हूं कि कश्मीर-प्रवेश (22 मई 1959) के लिए आशीर्वाद हमें हासिल हो गया।

वहां मैंने कहा, मैं यहां आकर क्या करना चाहता हूं? अपनी ओर से कुछ भी नहीं चाहता। वह जो चाहेगा वही होगा। मैंने देखा कि भगवान जो चाहता है, वही होता है। मैंने अपना सारा भार या जीवन उसी पर सौंपा है। कभी भी मेरे लिए ऐसी चीज नहीं हुई, जो मेरे लिए और देश के लिए मुफीद न हो। मेरा उस पर भरोसा है। इसलिए इन्शा अल्लाह, मैं तीन बातें करना चाहता हूं – (1) मैं देखना चाहता हूं, (2) मैं सुनना चाहता हूं और (3) मैं प्यार करना चाहता हूं। जितना प्यार करने की ताकत भगवान ने मुझे दी है, वह सब मैं यहां इस्तेमाल करना चाहता हूं।

कश्मीर-प्रवेश के दिन मैंने एक समय का खाना लिया नहीं। पदयात्रा में रोजाना नौ-दस मील चलना होता था; तो मैं बडी फजर में थोडा-सा खा लेता था। लेकिन कश्मीर में प्रवेश हो रहा था इसलिए उस दिन मैंने यह खाना छोड दिया। मेरा पेट ऐसा है कि एक समय का खाना छोडने से दूसरी बार मैं भरपेट नहीं खा सकता हूं, न दुगना ही खा सकता हूं। फिर भी सोचा कि थोडा-सा फाका कर लूं, तो शुद्धि हो जाये। तो मैंने कश्मीर का नाम लेकर एक खाना छोड दिया।

हम पीरपंजाल लांघकर गये। उस पार मंडी लोरेन है। बारिश की वजह से हमें मंडी में छः दिन रुकना पडा। वहां मेरे दिल में खयाल आया कि इसी तरह बारिश रही और हम पहाड लांघ न सके, तो उसे परमात्मा का इशारा समझकर कश्मीर न जायेंगे, वापस पंजाब लौट जायेंगे। मैं तो उसी के इशारे पर चलता हूं। इसलिए मैंने तय किया कि मैं पहाड के रास्ते न जा सका तो दूसरे तरीके से कश्मीर न जाऊंगा। लेकिन आखिर बारिश रुक गयी और हम पहाड लांघकर आगे बढ सके।

सुबह ग्यारह बजे कुर्आनशरीफ की तिलावत (पठन) करने के लिए लोग आते। ऐसे प्रोग्राम मैं इसलिए करता कि वहां के भाइयों से वाकिफ हो जाऊं।

एक दिन एक भाई दान देने आये थे, जिनकी औरत ने उन्हें दान देने के लिए कहा था। उस बहन ने किसी अखबार में एक फोटो देखा,

जिसमें मैं किसी का हाथ पकडकर कठिन रास्ते से गुजर रहा था। वह फोटो देखकर उस बहन को लगा कि यह शख्स गरीबों के वास्ते इतनी तकलीफ उठाता है, इसलिए इसे जमीन न दें तो ठीक नहीं होगा। जिस औरत को वह तसवीर देखकर अंदर से यह सूझ आयी कि हमें गरीबों के वास्ते कुछ करना चाहिए, उसके तमद्दुन (सभ्यता) में क्या कुछ कमी है? मैं मानता हूं कि मैं पीरपंजाल की साढे तेरह हजार फुट की ऊंचाई पर चढा था, उस पहाड से भी उस बहन की ऊंचाई ज्यादा है।

मुझे यह कहने में खुशी होती है कि जिस किसी जमाअत के साथ मिलने का मौका आया, चाहे वह सियासी जमाअत हो, मजहबी हो या समाजी जमाअत हो, चाहे चंद व्यक्ति हों, उन सबने यह महसूस किया कि यह अपना ही आदमी है और इसके सामने दिल खोलकर बात रखने में कोई खतरा नहीं है। ऐसा विश्वास रखकर लोगों ने मेरे सामने बातें रखीं और सुनने की जो मंशा थी, उसमें मैं पूरा कामयाब हुआ। मेरी देखने की जो मंशा थी, उसमें कुछ कामयाब हुआ, पूरा नहीं हुआ। क्योंकि सैलाब की वजह से कुछ हिस्सा देखने का रह गया। लेकिन चावल पका है या नहीं यह देखने के लिए चावल का हर दाना देखने की जरूरत नहीं होती। मैंने जितना देखा, वह हालत का अंदाज करने में काफी था। मेरा तीसरा काम था प्यार करना। इन चार महीनों में एक भी मौका मुझे मालूम नहीं जबकि प्यार के सिवा और कोई ख्याल मेरे मन में आया हो। परमात्मा की कृपा थी कि प्यार करने का मेरा इरादा पूरा हुआ।

वहां के लोगों ने तीन-चार दफा मुझे याद दिलायी कि इसी प्रकार का मिशन लेकर भगवान शंकराचार्य कश्मीर आये थे। मैंने कबूल किया कि शंकराचार्य के मिशन का जो स्वरूप था, उससे मेरे मिशन का स्वरूप मिलता-जुलता है। उन्होंने अद्वैत का विचार कहा था। उनके साथ मेरी कोई तुलना ही नहीं हो सकती। वे बडे आलिम थे; मैं तो एक खिदमतगार हूं, अल्लाह् का बंदा हूं। मैं इल्म का दावा नहीं कर सकता हूं बल्कि मुझमें जितना इल्म है, उसके अमल का दावा करता हूं। मैं तो नाचीज हूं, लेकिन जो मिशन लेकर आया हूं वह नाचीज नहीं है। उससे न सिर्फ कश्मीर को, बल्कि हिंदुस्तान को और दुनिया को नजात मिलनेवाली है।

जम्मू-कश्मीर में हमने प्रवेश किया तब हमें एक किताब भेंट दी

गयी – 'लल्ला वाक्यानि' (लल्ला के वचनों का अंग्रेजी तर्जुमा)। लल्ला छः सौ साल पहले हुई, लेकिन आज भी जनता उसे भूली नहीं है। इस बीच कितने बादशाह आये और गये, पर लोगों ने किसे याद रखा? लेकिन कश्मीर की एक संत महात्मा लल्ला का नाम आज भी सबको याद है। इसी लिए जम्मू-कश्मीर में कदम रखते ही मैंने कहा था और यही हमारी इस यात्रा का निचोड है कि "**कश्मीर का, हिंदुस्तान का और दुनिया का मसला रूहानियत से ही हल होगा, सियासत से नहीं।**" क्योंकि मजहब और सियासत के दिन अब लद गये। इसके आगे दुनिया में रूहानियत और विज्ञान ही चलेगा। मजहब, कौम, जबान वगैरह सब तरह के तफरके मिटाकर अपने दिल को वसी बनायेंगे, तभी कश्मीर और हिंदुस्तान की ताकत बनेगी। वह ऐसी ताकत होगी, जिससे दुनिया का हर शख्स सुकून पायेगा।

गुरु नानक के चरणों में

कश्मीर से मैं नीचे पंजाब आया (21.9.59 से 10.5.60)। मैं पंजाब से दूर रहनेवाला; लेकिन कई बरस पहले मैंने नक्शे में बियास और सतलज के संगमस्थान को देख लिया था, जिसका जिक्र ऋग्वेद के एक सूक्त में आता है, जो दस हजार साल पहले का है। विश्वामित्र भारतीयों को लेकर नदी पार करना चाहते हैं। नदी में बाढ आयी है, इसलिए विश्वामित्र नदी से प्रार्थना करते हैं – हे मेरी मां, तू मेरे लिए रुक जा और मुझे रास्ता दे। फिर नदी जवाब देती है, जैसे मां बच्चे के लिए झुक जाती है, या जैसे कन्या पिता की सेवा के लिए झुक जाती है, वैसे मैं तेरे लिए झुक जाती हूं।

नि ते नंसै पीप्यानेव योषा । मर्यायेव कन्या शश्वचै ते

यों कहकर नदी झुक गयी और विश्वामित्र पार करके चले गये।

जब से मैंने यह सूक्त पढा तब से मेरे मन में बात आयी कि इतना पुराना स्थान हिंदुस्तान में और दूसरा नहीं हो सकता। काशी और कुरुक्षेत्र भी पुराने स्थान हैं, लेकिन उनका जिक्र उपनिषद में आता है, वेदों में नहीं। पंजाब के इस स्थान का जिक्र वेदों में आता है। इसलिए पंजाब को मैंने मातृस्थान माना है। मेरा इस मातृभूमि पर कितना प्यार है, इसका कइयों को पता नहीं। बचपन से मेरा इसके साथ संबंध है; क्योंकि मेरा वेद का अध्ययन बचपन से सतत चलता आया है।

अमृतसर में गुरुद्वारे में जाना हुआ। एकबार मुझे गुरुद्वारे के मामले में सवाल पूछा गया तब मैंने कहा था कि आज उसमें जो झगडे चल रहे हैं, यह एक बिलकुल ही नासमझी हो रही है। उसमें सिख धर्म को और भारत को भी खतरा है। सियासत में अक्सरीयत (बहुमत) और अकल्लियत (अल्पमत) के सवाल से झगडे पैदा हो रहे हैं। वह चीज धर्म में भी होने लगी है, यह कितनी खतरनाक बात है। मैंने बार-बार इन सियासतदां से कहा है कि आपकी इस समय जो पक्षीय राजनीति चली है, वह छोडकर पक्षमुक्त तरीके ढूंढने होंगे। अक्सरीयत-अकल्लियत-वाली सियासत से हिंदुस्तान का नुकसान हो रहा है। वही चीज जब धर्म में दाखिल होती है, तो हद दर्जे की नासमझी होगी। इससे ज्यादा नासमझी का मैं ख्याल ही नहीं कर सकता। क्या धर्म के फैसले अक्सरीयत से हो सकते हैं? गुरुनानक के मन में धर्म स्फूर्त हुआ और वह विचार आगे बढा। सिखों का जो बुनियादी विचार है, वह है – कुल दुनिया एक कौम, एक जमात है। वह एक बहुत बडी बात है, जिसमें फिरके, जातिभेद नहीं हैं। मूर्तिपूजा का ज्यादा आग्रह नहीं है, खंडन भी *नहीं है, परमात्मा एक है – यही कहा है। यह जो मूलभूत विचार है, वह* दुनिया में फैलनेवाला है, लेकिन जिस जमात ने दुनिया को यह विचार दिया, उसी जमात के अंदर आज सियासी हथकंडे दाखिल हो रहे हैं। *मजहब में सियासत का दाखिल होना बहुत खतरनाक है, इस बारे में मैं* आप सबको आगाह करना चाहता हूं। अगर मेरी चले तो मैं कहूंगा कि गुरुद्वारे में जाते समय सियासत के जूते बाहर रखकर जाना होगा। सियासत की कीमत जूते से ज्यादा नहीं है। आज देश में और दुनिया में जो सियासत चल रही है, वह सिर पर उठाने की चीज नहीं है, ज्यादा से ज्यादा पांव में रखने की चीज हो सकती है। इसलिए वह चीज लेकर गुरुद्वारे में, चर्च में, मंदिर या मसजिद में मत जाओ। वहां अगर उसे ले जाओगे तो भगवान का घर शैतान का घर बनेगा।

पंजाब में मैंने अपना एक निर्णय जाहिर किया। ऐसे तो, दो-एक साल के मनोमंथन के बाद का वह निष्कर्ष था, उसको मैंने सर्व सेवा संघ को पत्र लिखकर अक्षरांकित किया प्रागपुर, कांगडा (23.10.59) में। मैंने पत्र में लिखा – असम छोडकर बाकी सब प्रदेशों में हमारी पदयात्रा पिछले साढे आठ वर्षों में गुजर चुकी। हुआ तो वह जनवास ही, लेकिन

पुरानी भाषा में उसको वनवास भी कह सकते हैं। अब जरूरत है मेरे लिए अज्ञातवास की। यात्रा जारी रहेगी। भारत को इतनी खबर बस होगी कि यात्रा पंजाब में चल रही है। पंजाबवालों को खबर होगी कि कांगडे में चल रही है। कांगडेवालों को पांच-सात दिन की यात्रा की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। यह अज्ञातवास अपेक्षाकृत ही कहा जायेगा। पुराने पांडवों जैसा या आधुनिक पांडवों (यानी भूमिगतों) के जैसा नहीं। इसमें होनेवाली हानियां स्पष्ट ही हैं। लाभ आध्यात्मिक और खास करके अहिंसा की शोध की दृष्टि से हो सकते हैं, अगर चित्त उस भव्य कल्पना को पचा सका। वह पचा सकेगा कि नहीं, मुझे अनुभव से मालूम होगा, मैं जांचता रहूंगा। इस विचार का अमल अमृतसर से होगा। वहां साहित्यकारों की सभा होगी और वहीं वनवास की पूर्णाहुति और अज्ञातवास का आरंभ! अज्ञातवास में मनुष्य कहीं से कहीं भी जा सकता है। पर इंदौर की दिशा मेरे मन में है। पृथ्वी-प्रदक्षिणा करके इंदौर पहुंचूं या यूक्लिड की 'स्ट्रेट लाईन' (सीधी रेखा) की व्याख्यानुसार पहुंचूं – यह नजदीकवालों के कर्तृत्व पर, या प्रवाह पर निर्भर रहेगा।

मेरा यह प्रयोग चार-पांच महीने चला। तीन दिन का प्रोग्राम जाहिर किया जाता था, आगे का नहीं। निःसंशय, इसमें चिंतन-मनन की दृष्टि से बहुत लाभ हुआ। फिर उत्तरप्रदेश का कुछ हिस्सा पार कर मैं मध्यप्रदेश पहुंचा।

देश के मध्य में

जब मैं कश्मीर में घूम रहा था, तब बागी* मानसिंह के बेटे तहसीलदारसिंह ने जेल से मुझे चिट्ठी लिखी थी कि फांसी के पहले हम आपका दर्शन करना चाहते हैं। मैंने जनरल यदुनाथसिंहजी को, जो उसी क्षेत्र के निवासी हैं और उस वक्त हमारे साथ घूम रहे थे, उनके पास भेजा। फिर तहसीलदारसिंह ने इच्छा व्यक्त की कि बाबा इस क्षेत्र में घूमें और हमारे बागी भाइयों से मिलें। उनके कहने से मैं वहां (भिंड-मुरैना) गया और प्रेम की बातें लोगों को समझाने लगा कि बागी भाई हमारे पास आयें, उन्हें न्याय मिलेगा, उनके साथ सख्ती न होगी, बालबच्चों को तकलीफ न होगी।

---

* चंबल के बेहडों के डकैत खुदको बागी कहते थे – सं.

मध्यप्रदेश के उस डकैतीग्रस्त क्षेत्र (चंबल के बेहडों) में इस शांति-अभियान से जो कुछ हुआ, वह एकदम अप्रत्याशित था। आध्यात्मिक जगत् में अहिंसा एक सबल शक्ति है। महात्मा गांधी ने राजनैतिक क्षेत्र में उसका उपयोग किया। पिछले नौ साल से सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में इसका उपयोग किया जा रहा था। 'डाकूक्षेत्र' कहे जानेवाले इस क्षेत्र में इस बार इसके प्रयोग पर मुझे जैसा अनुभव हुआ, वैसा इससे पहले कभी नहीं हुआ था। कठोर हृदय पिघल गये, नरम हुए। और सारा वातावरण भगवदीय भावना से ओतप्रोत हो गया। जिन लोगों ने डकैती को अपना पेशा बना लिया था, वे पश्चात्ताप की भावना से आये और उन्होंने अपने पुराने तौर-तरीके एकदम बदल दिये। बीस आदमी हमारे पास आये। उन्होंने अपनी दूरबीनें लगी हुई भारी कीमती बंदूकें नीचे रख दीं। आत्मसमर्पण किया (कनेरा-ग्राम : 19 मई 1960)। अपने बालबच्चों से मिले। और फिर हमने उन्हें जेल पहुंचा दिया। उन्हें कामों का फल तो मिलेगा, लेकिन वे परमेश्वर की क्षमा के अधिकारी बनेंगे। ऐसा जान पडता है कि भगवान ने उनके हृदय में पैठकर दैवी चमत्कार प्रकट कर दिया। मैं तो उस जगदीश्वर के प्रति केवल कृतज्ञता ही प्रकट कर सकता हूं, जिस पर विश्वास रखकर मैं सत्य, प्रेम और करुणा के मार्ग पर चलने का प्रयत्न कर रहा हूं।

भिंड-मुरैना की इस यात्रा में, दस-बारह दिनों के भीतर ये जो घटनाएं घटीं, उन्होंने मेरे दिल को अंदर से नरम बना दिया। मैंने देखा कि कैसे परमेश्वर की ज्योति सबके अंदर जल रही है। पहले मैं 'इल्मुल-यकीन' था, वहां 'अयमुल-यकीन' बन गया। पहले किताबों में बात पढी थी, अब मुझे अहिंसा का साक्षात्कार हो गया। मुझे तीन दफा ऐसा सामूहिक साक्षात्कार हुआ। पहली दफा पोचमपल्ली में, दूसरी दफा बिहार में और तीसरी दफा यहां भिंड में।

मध्य-प्रदेश की यात्रा में इंदौर नगर में मुझे अधिक रहने का मौका मिला (24 जुलाई से 25 अगस्त 1960)। यह नगर सौम्य, सुंदर है। इसमें सद्भावनावान लोग रहते हैं। मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल है। मैंने इंदौर नगरी को संस्कारधानी कहा। और वहां के लोगों को, इंदौर को 'सर्वोदय-नगर' बनाने का कार्यक्रम दे दिया।

मगर पांच हफ्ते मैं शहर में घूमा तो एक विचित्र बात देखी, जिससे

मुझे गहरा सदमा पहुंचा। जगह-जगह सिनेमा के गंदे चित्र लगे थे। इतने बेशरम चित्र हम कैसे सहन कर सकते हैं? मेरी आंखें खुल गयीं कि ये गंदे दृश्य और गंदे गाने चलेंगे तो भारत उठ खडा नहीं होगा। वह निर्वीर्य बनेगा। वे गंदे अशोभनीय पोस्टर्स देखकर मेरे दुःख की सीमा नहीं रही। भूदान-यज्ञ के साथ-साथ मुझे पावित्र्य का कार्य सूझा। वह नहीं सूझता, अगर मैं इंदौर नहीं आता। मैंने वहां की जनता से कहा कि यह तो आपके बच्चों को विषयासक्ति की मुफ्त और लाजमी तालीम ही दी जा रही है, इसके खिलाफ सत्याग्रह करो। नगरपालिका के लोगों से भी कहा कि आपके नगर में जो गंदे इश्तेहार हैं, उन्हें हटाइए, पैसे का लोभ छोडिए। बहनों से तो विशेषरूप से कहा, गृहस्थाश्रम की नींव उखाडी जा रही है, जगह-जगह हमारी बहनों और माताओं के चित्र बहुत बुरे ढंग से चित्रित किये जाते हैं। इस देश में शांतिरक्षा और शीलरक्षा का विषय बहनों को सौंप रहा हूं। इंदौर की बहनें जागृत हो जायें और इन सारे पोस्टरों को एक दिन भी सहन न करें, हटा दें, जला दें।

इंदौर में हमने शुचिता का एक और कार्यक्रम किया – 'स्वच्छ इंदौर' सप्ताह मनाया। शहर के अलग-अलग हिस्से में गये और जिसे शौर्य-कार्य कहते हैं, वह करके आये। मैंने तय किया था कि मैं पाखाना-सफाई का काम करूंगा। मैं गया वहां मैला, मूत्र, पानी सब था – सत्त्व, रज, तम तीनों थे। बहनें (मेहतर) तो रोज हाथ से साफ करती होंगी, मैंने भी हाथ से साफ किया। मेरे हाथ में दस्ताने रहते थे। फिर भी घर आने पर हाथ बार-बार धोते रहने की इच्छा होती। सफाई के समय मेरे पांव में 'स्लिपर' (रबर का जूता) था, वह मैंने निकाल दिया। अप्पासाहब ने कहा, पांव में कुछ होना चाहिए। मैंने कहा, उसका नाम ही 'स्लिपर' (फिसलनेवाला) है, वह 'स्लिप' होगा (फिसल जायेगा) तो वह एक नाटक होगा, इसलिए उसे नहीं पहनूंगा। ऊपर से बारिश हो रही थी। नीचे सारा मैला था। अब मेरे पांव बहुत गंदे हो गये। घर पर आकर लगा कि क्या पांव को आग पर तपाऊं! कई लोगों ने हमारे साथ काम किया। मैंने उनसे कहा, आपने बहुत शौर्य दिखाया, अब अक्ल भी दिखानी चाहिए। यह काम मानव को करना ही न पडे, यह अक्ल अब सूझनी चाहिए। सबको मिलकर इसका उपाय ढूंढना चाहिए कि मेहतर को यह काम न करना पडे।

सर्वोदय-नगर के ख्याल से मैंने इंदौर को चुना और वहां ज्यादा समय ठहरा, वह इसलिए कि वह साध्वी अहिल्यादेवी का स्थान है और अब वहां माता कस्तूरबा का स्थान भी बनाया गया है। सात दिन मैं कस्तूरबाग्राम में भी रहा।

हम जबलपुर के नजदीक थे और एक दिन मेरी कमर में मोच आयी, अगले पडाव पर मुझे कार से जाना पडा। प्रभु की लीला है! पीर-पंजाल लांघने का जिसको बल देता है, उसकी मैदान में वह कमर तोडता है!

पूर्व दिगंचल

इंदौर का मेरा निवास पूरा कर मैं आगे बढा। इंदौर के नजदीक ही किसी गांव (राऊ) में था, तब मुझे पंडित नेहरू का एक पत्र मिला (30 सितंबर 1960 को)। उसमें उन्होंने सुझाया था कि मैं असम जाऊं। उस समय असम में अशांति की स्थिति थी। मैंने उनको जवाब दिया कि ग्रामदान के काम के लिए मुझे असम जाना ही है, क्योंकि अभी तक मैं वहां गया नहीं हूं। उसके साथ यह काम भी होगा। लेकिन कछुआ अपनी गति से जायेगा, खरगोश की गति से नहीं। जब राजेंद्रबाबू को यह मालूम हुआ तब उन्होंने कहा कि खरगोश कभी सफल नहीं होता, सफल होता है कछुआ ही। हमारे साथियों ने बहुत आग्रह किया कि मैं तुरंत वहां पहुंचूं। मैंने कहा कि ऐसा करूंगा तो असमवालों को लगेगा कि हमने बडा पाप किया, बाबा को सब छोडकर यहां आना पडा। लेकिन मैं मानता हूं कि उन्होंने कोई बडा पाप नहीं किया है; एक बुरी हवा चली, उसमें यह हुआ है। उधर पंडितजी से किसी ने चर्चा की कि बाबा तो पैदल निकला है और सीधे रास्ते से नहीं, पहले जो कार्यक्रम तय कर रखा था उसी के अनुसार चला है; तो पंडित नेहरू ने कहा कि मैं उनकी हालत में होता तो यही करता। मैं आहिस्ता-आहिस्ता असम पहुंचा।

रास्ते में बिहार प्रदेश में यात्रा हुई। वहां के लोगों से मैंने कहा कि आपका 32 लाख एकड जमीन प्राप्त करने का संकल्प पूरा नहीं हुआ है, तो वह पूरा करने के पीछे पडो। और एक बीघे में एक कट्ठा भूमि दान लेने को सुझाया। तो वहां 'बीघे में कट्ठा' अभियान शुरू हो गया। दो दिन समन्वय आश्रम (बोधगया) में रहा। उस समय बोधगया के बुद्ध

मंदिर में मैंने 'धम्मपद-नवसंहिता'* का संपूर्ण पाठ किया।

असम वैष्णवों की भूमि है। वहां प्रवेश करते ही, पहले ही दिन (5 मार्च 1961) मैंने वहां के लोगों को कहा कि ग्रामदान सामूहिक उत्थान का कार्यक्रम है; जो खुद स्वामी बनेगा, वह अवैष्णव होगा, सृष्टि का स्वामी तो विष्णु है।

असम एक ऐसा प्रांत है कि उसके पौने चार दिशाओं में अन्य देश हैं और केवल पाव दिशा में ही उसका भारत से संबंध है। बर्मा, चीन, तिब्बत, पाकिस्तान आदि की सीमा मिलकर करीब 2200 मील है। भारत के साथ संबंध करीब 50-60 मील से ही जुडा हुआ है। असम भारत का 'बोटल-नेक' है। इसलिए भारत को असम से संपर्क रखना होगा, उसके विकास की तरफ ध्यान देना होगा।

जब से असम पहुंचा, एक बात बार-बार सुनता रहा – 'इनफिलट्रेशन' (अनुप्रवेश – घुसखोरी) की समस्या। कितने परिमाण में पाकिस्तान से लोग आये, इसमें मतभेद है। कोई कहते हैं, बहुत आये। कोई कहते हैं, ज्यादा नहीं आये। लेकिन यह एक मानी हुई समस्या है। अगर लोग गांव की जमीन गांव में ही रखें और जमीन की खरीद-विक्री बंद हो जाये, तो जो लोग आते हैं वे जिस उद्देश्य से आते हैं वह सफल नहीं होता और यह समस्या अपने-आप खतम हो जाती है। ऐसी सर्वोत्तम योजना हमने बनायी। नहीं तो सीमा पर क्या करना, यह सोचना पडता है। क्या सीमा पर बार (सलाखें) लगायेंगे? या दीवाल बनायेंगे? या शस्त्रास्त्र देकर पुलिस रखेंगे? सीमा-संरक्षण के लिए मिलिटरी बुलायेंगे? हम समझते हैं कि इस समस्या का हल ग्रामदान में मिलता है। ग्रामदान में जमीन ग्रामसभा की मालिकी की होगी। कोई एक व्यक्ति जमीन बेच नहीं सकता। जमीन नहीं मिलती है, तो बाहर के लोगों को यहां आकर बसने के लिए आकर्षण नहीं रहेगा।

वहां गांव-गांव में मैंने 'नामघर' देखा। जो असर ज्ञानदेव-तुकाराम का मराठी जनता पर है, या तुलसीदास का हिंदी जनता पर है, वही असर शंकरदेव-माधवदेव का असम की जनता पर देखा। इन महापुरुषों ने 'एक-शरणीया' धर्म-विचार की स्थापना कर असम की जनता को

---

* धम्मपद ग्रंथ की विनोबाकृत पुनर्रचना की पुस्तक – सं.

भक्ति के संस्कार दिये। हर छोटे गांव में भी एक 'नामघर' खडा है, जिसके आधार पर गांव-परिवार की भावना गांव में है। और हर घर में आज भी बहनें हथकरघा चला रही हैं। मुझे लगा, ग्रामदान की नींव तो यहां तैयार है, अब नामघर के साथ 'कामघर' (ग्रामोद्योग) बन जाये तो इस प्रदेश में अपनी ताकत खडी हो जायेगी। और मैं वैसा कहने लगा। असम प्रदेश में बडी आसानी से ग्रामदान की हवा बन गयी।

जब मैं इंदौर में था, तब असम की एक बहन ने मुझे पत्र लिखा था कि आप स्त्री-शक्ति खडी करना चाहते हैं, तो आपको असम आना चाहिए। उनका कहना अक्षरशः ठीक है। ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन जीकर समाजसेवा में लगी हुई, आध्यात्मिक वृत्ति की बहनों का एक अच्छा समूह यहां बना हुआ है। अमलप्रभाबहन उसकी प्रेरणास्रोत हैं और पूरे असम पर उनके कार्य का प्रभाव है।

मैंने यहां एक काम किया। मेरी यात्रा में मेरे साथ चलनेवाली दो असमीया बहनों को मैंने गीताई के आधार से मराठी सिखाने की कोशिश की। छः माह में पूरी गीताई पढा दी। उनको सीख लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई। कहां असम और कहां महाराष्ट्र! पर मैंने देखा कि असमीया के कई शब्द मराठी से मिलते-जुलते हैं। अलावा इन बहनों को नागरी लिपि आती थी। नागरी लिपि और गीता का विचार, दो की सहायता से मैंने उन्हें मराठी सिखायी और वे मराठी पढने-लिखने-बोलने लगीं।

मेरा यह विचार है कि हिंदुस्तान में जोडने का काम एक भाषा नहीं कर सकती; पर वह काम एक लिपि कर सकती है। अगर भारत की सभी भाषाएं अपनी-अपनी लिपि के साथ नागरी लिपि को भी अपनायें तो यह बात बन पायेगी। मैं 'ही' वादी नहीं, 'भी' वादी हूं। यह नहीं कि नागरी लिपि ही चले, पर नागरी भी चले। हर भाषा का उत्तम आध्यात्मिक साहित्य नागरी में भी उपलब्ध हो तो एक-दूसरे की भाषाएं आसानी से सीख सकेंगे और वह भारत की एकात्मता बढाने में मददगार होगा।

असम में अत्यंत बारिश में भी यात्रा अखंड जारी रही। हमारी कसौटी ठंड में इतनी नहीं होती, जितनी बारिश में होती है। और अब बारिश के साथ बाढ भी गयी थी तब उससे हमारे उत्साह में भी बाढ आ गयी थी। इस पावन अनुभव का जो स्मरण करेगा, वह 'धृत्युत्साह- समन्वित' होगा। उसके लिए ठंड में गरमी पैदा होगी, गरमी शीतल होगी, और पर्जन्यवृष्टि

अमृत-वृष्टि साबित होगी। 'शांतिः पुष्टिः तुष्टिश्चास्तु।'

अब हम भारत के अंतिम सिरे पर थे। पांच-पचास मील के बाद भारत समाप्त होता है, ऐसा आभास हो रहा था। कन्याकुमारी में भी ऐसा आभास हुआ नहीं। वहां उलटे पूरा का पूरा खुल गया है, ऐसा आभास होता था। यहां लेकिन समाप्ति का आभास होता था। और ग्यारह वर्ष में भारत की एक यात्रा भी खतम हो रही थी। 'आगे क्या', लोग सवाल पूछा करते। तुकाराममहाराज ने कहा है, 'अब कौन देखेगा पीछे मुडकर'। वह तो मैं कहता ही हूं। पर यह भी कहता हूं कि 'अब कौन देखेगा आगे झांक कर'। इसमें जो आनंद है, वही जीवन का आनंद है।

मैं डेढ साल (5 मार्च 1961 से 4 सितंबर 1962) यहां रहा। आहिस्ता-आहिस्ता प्रदेश की लगभग दो प्रदक्षिणाएं हुईं। अब मुझे आगे बढना था। मैं देश की सीमा पर था। वहां से चीन, ब्रह्मदेश, पाकिस्तान – कहीं भी जा सकते हैं। पर मैंने पश्चिम बंगाल जाने का सोचा। असम से बंगाल के रास्ते पर पूर्व पाकिस्तान* पडता है। मैंने उसी रास्ते से जाने का सोचा। दोनों सरकारों ने इजाजत दे दी और मैं पूर्व पाकिस्तान के लिए निकल पडा।

* *

पूर्व पाकिस्तान की पहली ही सभा में मैंने कहा कि "हमें बहुत खुशी हो रही है कि हम पूर्व पाकिस्तान में बैठे हैं। यह हमारा देश है। मैं हिंदुस्तान और पाकिस्तान में कुछ भी फर्क महसूस नहीं करता। वही हवा है, वही जमीन है, वही आदमी है और वही हृदय है। कुछ भी फर्क नहीं। मैं मानता हूं कि सब पृथ्वी हमारी है और हम सब पृथ्वी के सेवक हैं। यह एक आकस्मिक घटना है कि हम किसी एक देश में जन्मे या मरे। मैं यहां महसूस करता हूं कि हम यहां के हैं। सब मानवसमाज हमारे अंतर्गत है। मैं जहां जाता हूं, वहां 'जय जगत्' कहता हूं।" मेरी पहली दो-तीन सभाओं में लोगों ने 'पाकिस्तान जिंदाबाद' का नारा लगाया। मैं 'जय जगत्' बोलता था। धीरे-धीरे वहां भी 'जय जगत्' ही चल पडा। मैं 'जय हिंद' बोलता तो 'पाकिस्तान जिंदाबाद' और 'जय-हिंद' का झगडा हो जाता। 'जय जगत्' में सब प्रेम से एक हो गये।

---

* अब बांगला देश – सं.

मैं अपने साथ गीता-प्रवचन ले गया था। उसकी 800 प्रतियां 18 दिन की यात्रा में बिकीं। उनमें 300 प्रतियां मुसलमानों ने खरीदीं। उस पर मैं प्रेमपूर्वक हस्ताक्षर करता था। भारत में भी हजारों मुसलमानों ने गीता-प्रवचन ली है।

कुर्आनशरीफ का मेरा चयन उस समय तैयार था और उसकी पुस्तक प्रकाशित होनेवाली थी। लेकिन उससे पहले ही कराची के 'डॉन' (अखबार) ने उस पर आलोचना की कि पिछले 1300 वर्षों में हमारे धर्मग्रंथ में इस तरह का फरक किसी ने किया नहीं था, अब वह करनेवाला यह काफिर निकला है। तब हिंदुस्तान के तमाम मुसलमान अखबारों ने मेरा समर्थन किया और कहा कि ऐसी आलोचना करना उचित नहीं, कुरान का ऐसा सार पहले भी निकाला गया है, इसलिए ग्रंथ पढे बिना उसकी आलोचना करना गलत है। इसका मेरे चित्त पर बहुत असर हुआ। मैं मानता हूं कि मुसलमानों का मुझ पर बहुत बडा उपकार है।

पाकिस्तान में मैंने मौन प्रार्थना चलायी। उसमें हजारों हिंदू-मुसलमान-ईसाई सब आते थे। उस पर भी 'डॉन' (कराची) ने आलोचना की कि यह मनुष्य हिंदुओं की प्रार्थना चलाना चाहता है। परंतु पूर्व पाकिस्तान के अखबारों ने ऐसी आलोचना नहीं की। मैंने इसका जवाब दिया कि आप लोग अपने घर में जो प्रार्थना करते हैं – आरती करते हैं या नमाज पढते हैं – उसका मैं विरोध नहीं करता; लेकिन सब मिलकर भी कोई प्रार्थना हो सकती है या नहीं? अगर न हो सकती हो तो ईश्वर के ही टुकडे हो जायेंगे।

पहले ही दिन मैंने भूमि की मांग की और एक दाता (मुसलमान) दान देने के लिए खडा हो गया। 'इफ्तिताह' हो गया – द्वार खुल गया। इससे यह बात साबित हो गयी कि मानव का हृदय सब जगह समान है और पाकिस्तान में भी जमीन का प्रश्न प्रेम और अहिंसा से हल हो सकता है।

पाकिस्तान की जनता के सामने मैंने वही विचार रखा, जो हिंदुस्तान की जनता के सामने भी रख चुका हूं कि 'वर्ल्ड फेडरेशन' (विश्वसंघ) का पहला कदम है 'भारत-पाक-कान्फेडरेशन' (भारत-पाकिस्तान-संघ)। उससे दोनों देशों की समस्याओं का हल होगा।

पाकिस्तानी भाइयों के प्रेमपूर्ण व्यवहार से मैं अत्यधिक प्रभावित हूं। पाकिस्तान सरकार ने यात्रा के दौरान सब प्रकार की व्यवस्था रखी, वह

भी धन्यवाद की पात्र है। पाकिस्तान के निवासियों ने मुझ पर भ्रातृवत् प्रेम किया। मेरा मानना है कि जिन पत्रकारों ने शुरुआत में मेरी आलोचना की थी, वे भी आखिर मेरे दोस्त बन गये और वे मानने लगे कि मैंने उनके देश में जो कुछ किया, वह अच्छे उद्देश्य से प्रेरित होकर ही किया।

* *

पश्चिम बंगाल में मैंने ग्रामदान के बारे में नया विचार रखा। करीब एक साल से, जब मैं पाकिस्तान में था तब से मेरे मन में यह विचार चल रहा था। बारह साल पहले भूदान का विचार लोगों के सामने रखा था। आठ साल पहले ग्रामदान का विचार रखा। ग्रामदान के विचार में जमीन की मालकियत छोडने और जमीन के बंटवारे की बात थी। सोचते हुए *मुझे लगा कि ग्रामदान का विचार पूर्णतया समाजप्रेरणा के अनुकूल है,* परंतु वह स्वार्थप्रेरणा के लिए उतना अनुकूल नहीं है। तब दोनों का मेल साधने की नयी युक्ति के बारे में सोचने लगा। इसी पर से सुलभ ग्रामदान की बात ध्यान में आयी। सुलभ ग्रामदान में जमीन की मालकियत ग्रामसमाज को समर्पित होगी और कुल जमीन का बीसवां हिस्सा जमीन भूमिहीनों में बंटेगी। बची हुई जमीन काश्त के लिए मालिक के पास रहेगी और आगे उसकी सम्मति के बिना जमीन दी नहीं जायेगी। बंगाल में मैंने यह सुलभ ग्रामदान का विचार लोगों के सामने रखा और कार्यकर्ताओं में नये उत्साह का संचार होते देखा। बंगाल में ग्रामदान होने लगे। जिस 'प्लासी' को गंवाकर हिंदुस्तान ने अपनी आजादी खो दी थी, उस प्लासी का भी ग्रामदान हो गया।

पंडित नेहरू से मेरी आखिरी मुलाकात बंगाल में हुई। अपनी निजी बात में मैंने उन्हें यह खबर दी कि प्लासी का ग्रामदान हुआ है। पंडितजी ने कहा, "मुझे बहुत खुशी हुई यह सुनकर और मुझे मिल्टन याद आ रहा है। मिल्टन ने 'पैरेडाइज लॉस्ट' लिखा। उसके बाद 'पैरेडाइज रिगेण्ड' लिखा। हमें 'प्लासी लॉस्ट' के बाद 'प्लासी रिगेण्ड' मिला है।" इतना उत्साह उन्हें वह खबर सुनकर आया था। उस दिन जाहिर सभा में उन्होंने कहा, "हमारा मुकाबला चीन के साथ है। हमारी कुछ जमीन चीन के हाथ में गयी है, वह हमें वापस लेनी है। लेकिन वह कोई बडी बात नहीं है। हमारी असली लडाई गरीबी के साथ है, वह अत्यंत कठिन है। उस लडाई में बाबा आपके सामने ग्रामदान की जो बात रख रहा है, वह

बहुत काम में आयेगी।''

उन दिनों खादी के बारे में भी मेरा बहुत चिंतन चल रहा था। नवद्वीप (बंगाल, 4-5-6 फरवरी 1963) में सारे भारत के खादी कार्यकर्ता इकट्ठा हुए थे। तब मेरा वह चिंतन मैंने उनके सामने रखा। मैंने कहा, अब तक हमने एक ढंग से सोचा। खादी की खपत खूब बढायी। पैसा हाथ में आया। उसका उत्पादन के लिए उपयोग किया गया। अब दूसरी दिशा क्या हो सकती है, इसके बारे में सोचो। अब तक खादी सरकाराभिमुख थी (सरकारी मदद से चलती थी)। अब उसे ग्रामाभिमुख करना है। मेरा विचार है कि प्रतिव्यक्ति कुछ गज खादी मुफ्त बुनकर दें। बुनाई में मदद देने का तरीका गांव में कताई के लिए प्रोत्साहन देगा। साथ ही 'डिफेन्स मेजर' के तौर पर कपडे के लिए गांव को स्व-आधारित रहने की शक्ति आ जायेगी। अपना अनाज और अपना कपडा खुद पैदा कर लेने की ताकत गांव में आती है तो गांव और फलतः देश मजबूत बन सकता है। इसलिए इस खादी के प्रचार में युद्ध के स्तर पर लग जाओ। यों कहकर मैंने उनको ब्राऊनिंग का एक वाक्य बताया – **''आई हैव एव्हर बीन ए फाईटर । सो वन फाईट मोअर, दि लास्ट एण्ड दि बेस्ट''** (मैं सतत एक योद्धा रहा हूं। सो एक और लडाई – अंतिम और सर्वोत्तम)। मेरे ख्याल में खादी को आखिरी प्रयत्न करना है – इसके बाद खादी को या तो राजा बनना है या समाप्त होना है।

मैं गंगासागर की यात्रा के रास्ते पर था। वह दिन था, 18 अप्रैल (1963)। उस दिन हमारी यात्रा को 12 साल पूरे हो रहे थे। उस दिन मैंने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था, ''एक तप हो गया, बारह साल सतत वाक्धारा चली। उसे लोगों ने भूदान-गंगा नाम दिया। अब वह भूदान-गंगा गंगासागर में डूबेगी। इसलिए उसकी यहां परिसमाप्ति हो रही है। इसके आगे मेरी यात्रा 'त्याग-यात्रा' रहेगी। अब मैं भारमुक्त हो जाऊंगा। अब मेरा कार्यक्रम **'तुष्यन्ति च रमन्ति च'** होगा। संतोषपूर्वक खेल खेल रहे हैं। इसके आगे का समय कार्यकर्ताओं के लिए दूंगा। सार्वजनिक भाषण कम करूंगा। मुख्य ध्यान यह रहेगा कि भारतभर में एक ऐसा सेवकवर्ग खडा हो जाये जो अन्योन्य अनुराग से एक-दूसरे के साथ जुडा हो और जिनके बीच विचार-भेद न हो।''

* *

बीच में मैंने सर्वोदय सम्मेलन में जाना छोड दिया था। उसके अनेक कारण हैं। एक कारण तो यह कि मैं नेता नहीं और दूसरा यह कि नेता नहीं हूं, फिर भी नेतृत्व-निरसन का मेरा कार्यक्रम है। और आखिरी कारण सूक्ष्म-प्रवेश की इच्छा का। परंतु 1963 में मैं रायपुर सम्मेलन में उपस्थित रहा। वहां मैंने त्रिविध कार्यक्रम सामने रखा –

(1) जब तक ग्रामदान नहीं बनेगा तब तक हम नये युग के लिए लायक नहीं हो सकते। नया युग विश्वराष्ट्र का युग है। उसका एक 'ट्रिब्युनल' – न्यायालय बनेगा, जिसमें दुनिया के सर्वोत्तम विद्वान लोग होंगे। भारत देश उसका प्रांत बनेगा, हर प्रदेश उसका जिला बनेगा, हर जिला गांव बनेगा और गांव एक परिवार बनेगा। आज परिवार छोटा बन गया है, उसको गांव तक बढाना है। ऐसा होने पर ही विश्व-शांति की बात हम कर सकते हैं। इसलिए उधर 'जय जगत्' और इधर 'ग्रामदान'।

(2) शांति-सेना। जब तक हम शांति-सेना व्यापक नहीं करते, ताकि अंदरूनी शांति के लिए पुलिस की खास जरूरत न पडे और सेना की तो कतई न पडे, तब तक हम अहिंसा की शक्ति का कोई दावा नहीं कर सकते। इसलिए शांति-सेना अत्यंत अनिवार्य है।

(3) ग्रामाभिमुख खादी। आज खादी को सरकार से मदद मिलती है, संरक्षण मिलता है। इससे उसकी तेजस्विता की हानि हो रही है। खादी लोक-क्रांति का वाहन होनी चाहिए। ग्रामाभिमुख खादी ही गांधीजी की खादी है।

सम्मेलन में त्रिविध कार्यक्रम का प्रस्ताव पारित हो गया। सम्मेलन के बाद, रायपुर से मैंने महाराष्ट्र – विदर्भ – वर्धा की दिशा ली।

भरत-राम के पास

तेरह साल पहले (वर्धा से) जिस रास्ते से दिल्ली जाना हुआ था, अब उसी रास्ते से (रायपुर की ओर से) वर्धा जा रहा था। तब भूदान मांगते हुए घूम रहा था, अब ग्रामदान लेकर आ रहा था। तब सेलडोह* में कुमारप्पा से मिलना हुआ था। अब उनके स्थान पर उनकी स्मृति को प्रणाम कर आगे बढा। वर्धा नजदीक आ रहा था, तो हमारे साथी मुझसे पूछ रहे थे, कैसा लग रहा है आपको? कुछ विशेष भावना है? मैंने

---

* वर्धा से 20 मील के फासले पर, जहां कुमारप्पा का पण्णै आश्रम था – सं.

उनसे कहा, कुल विश्व हमारा घर है ऐसा माने तो भी भारतभूमि विशेष घर है। मराठी में जिसको 'माजघर' (मकान के मध्य की कोठरी) कहते हैं, वैसा भारत है। तो फिर महाराष्ट्र होगा 'माजघर' के अंदर का घर और वर्धा जिला गर्भ-गृह – अंतर-मंदिर।

तेरह वर्ष, तीन महीने, तीन दिन के बाद, ब्रह्मविद्या-मंदिर की स्थापना के बाद पहली बार मैं ब्रह्मविद्या-मंदिर पहुंचा (10.4.1964)। तेरह साल से मैं घूम रहा था और मेरा वह घूमना जारी रहनेवाला था। मैंने कहा कि जाहिर है, मैं उस काम को अत्यंत महत्त्व देता हूं, जो मुझे यात्रा के द्वारा करना है। लेकिन मैं अपने अनुभव से कहता हूं कि यहां पर जो प्रयोग हो रहा है, उसे मैं उससे भी ज्यादा महत्त्व देता हूं। पूछा जायेगा कि आप ही घूमने के बजाय ऐसे प्रयोग में क्यों नहीं शामिल होते? इसका उत्तर है, 'कुलालचक्रवत्'। कुम्हार का चक्र बरतन बनाने के लिए जोरों से घुमाया जाता है और बरतन बन जाने के बाद बरतन वहां से उठा लिया जाता है, फिर भी चक्र घूमता ही रहता है। काम पूरा होने पर भी घूमना जारी रहेगा। और तब तो काम पूरा भी नहीं हुआ था।

दो महीने वर्धा जिले में घूमकर पुनः पवनार आया और बीमार हो गया। उस लंबी बीमारी के कारण मित्रों का सुझाव रहा कि मैं वहीं कुछ दिन विश्राम करूं। मेरे शारीरिक स्वास्थ्य के विषय में लोगों को कुछ चिंता महसूस हो रही थी। तीन महीने पहले मुझे सिर में कुछ चक्कर-से मालूम हुए थे। बीच में फिर एक दिन प्रातःकाल उठने के बाद वैसा ही हुआ। इस तरह मित्रों की चिंता का मैं विषय बना। उनके वश होकर पवनार में कुछ लंबे समय रुकने का मैंने तय किया।

मित्रों को मेरे स्वास्थ्य की चिंता थी, पर मेरी दृष्टि दूसरी ही थी। मुझे लगा, भूदान-ग्रामदान का संदेश लोगों में पहुंचाता हुआ मैं निरंतर घूमता रहूं, इसमें मेरी शोभा है; लेकिन तेरह वर्षों के बाद भी इस काम के लिए मुझे घूमना पडे, इसमें दूसरों की शोभा नहीं। जहां जो एक की शोभा वही दूसरों की शोभा, ऐसा सुयोग होता है, वहां धर्म स्पष्ट है। लेकिन जहां एक की शोभा दूसरों की शोभा से टकराती है, वहां धर्म संदिग्ध बन जाता है। ऐसी हालत में धर्म के स्पष्ट निर्णय के लिए इस विश्राम को मैंने आंशिक मान्यता दे दी। धर्म-निर्णय मुख्यतः अंतर-शोधन से मिलेगा, गौणतः परिस्थिति के निरीक्षण से। अंतर-शोधन के लिए ब्रह्मविद्या-मंदिर का

निवास मैंने मान लिया। उसमें दूसरा भी हेतु था। मेरे निमित्त भारत में छः आश्रमों की स्थापना हुई। उनका अंतर-हेतु एक ही है – कार्यकर्ताओं का शिक्षण। उस तरफ ध्यान देना भी मेरा कर्तव्य है, उसका कुछ चिंतन इस विश्रामकाल में हो सकेगा, ऐसा मुझे लगा।

वहां मैंने एक माह का मौन रखा। मेरा मौन का विचार लगभग छः महीनों से चल रहा था। उसकी आवश्यकता का ख्याल दूसरे लोग नहीं कर सकते, जो मुझे महसूस होती। मैं तेरह साल से बोल ही रहा था। केवल व्याख्यानों का हिसाब करना हो, तो दिन में तीन दफा बोलना, इस हिसाब से तेरह हजार व्याख्यान हुए। और दूसरी अनेक चर्चाएं हुईं, उसकी गिनती ही नहीं। इन व्याख्यानों में असंख्य विषयों पर चर्चा हुई। उस हालत में कुछ अंतर में, गहराई में जाऊं, थोडा वाणी का उपयोग कम करूं, ऐसा मुझे जरूरी लगा। स्वामी विवेकानंद ने एक जगह कहा है कि अमरीका वगैरह में वे बहुत बोले, उसके बाद, पहले उनकी समाधि जितनी सुलभता से लगती थी उतनी सुलभता से बाद में नहीं लग सकी। इसलिए उस दृष्टि से उन्होंने फिर से साधना की। ऐसा अनुभव तो मुझे नहीं आया। लेकिन इतना अखंड बोलने के बाद स्वाभाविक इच्छा हुई कि अब कुछ नया दर्शन होना चाहिए।

उस समय मैंने कहा था कि आश्रमों के मार्गदर्शन के लिए भी मेरा मौन अनुकूल रहेगा। किसी को कुछ पूछना हो, तो लिखकर पूछेंगे। जहां तक आश्रमों के साधकों का संबंध है, मैं उनको (लिखित) जवाब देने की कोशिश करूंगा। नहीं पूछा तो उनका उत्तम चल रहा है ऐसा समझूंगा और उस श्रद्धा से ही उनका उत्तम चलता रहेगा। यह बात मैंने अपनी मां से सीखी है। उसकी श्रद्धा से ही मैं बना हूं। सूक्ष्म बुद्धि के कारण मैं दोष देख सकता हूं, लेकिन दोष देखकर भी विश्वास और श्रद्धा रखता हूं, तो उसका परिणाम आता है।

दूसरी बात, एक सार्वजनिक कार्य, जो मैंने उठा रखा है, उसके लिए मुझमें कोई शक्ति नहीं थी, न मेरी वृत्ति उसके बहुत अनुकूल थी। लेकिन यह ईश्वर की आज्ञा है, जो मुझे घुमा रही है। लाचार होकर मैं घूमता हूं। घूमे बिना रहा नहीं जाता। और वह आज्ञा इतनी स्पष्ट सुनायी देती है, जैसे मैं कोई वाणी प्रत्यक्ष सुन रहा हूं। और वह आज्ञा उठा लेने से मुझे समाधान मिला है। बापू का एक महान ऋण मुझ पर है। और

उनका भी, जिनके ग्रंथों से मेरा दिल और दिमाग बना है।

पवनार के इस निवास-काल में मेरा पांच दिन का उपवास हो गया (12 से 17 फरवरी 1965)। 12 फरवरी को मैंने (देश में भाषिक दंगों में हुई हिंसा के कारण) उपवास करने का निश्चय किया और जाहिर किया कि मेरा यह उपोषण अनिश्चित काल तक चलेगा। इस उपवास में मुझे जरा भी तकलीफ नहीं हुई। सारे देश का अत्यंत प्रेम मैंने पाया। उपवास की खबर मिलने पर (गुलजारीलाल) नंदाजी (केंद्रीय गृहमंत्री) यहां आये। मैंने उनके सामने 'त्रि-सूत्री' (त्रिभाषी फॉर्म्यूला) पेश की। उन्होंने सब प्रदेशों के मुख्यमंत्रियों से संपर्क साधा और सभी मुख्यमंत्रियों ने त्रि-सूत्री तुरंत मान्य की।

मेरी उपवास करने की वृत्ति नहीं है। मैं भक्तिमार्गी हूं। और चित्तशुद्धि के अलावा और किसी उपवास के लिए मेरे मन में आकर्षण नहीं है। फिर भी परमात्मा से आज्ञा हुई तो मैं उसे टाल नहीं सका। अनशन तो पांच दिन चला, लेकिन उसमें परम शांति का अनुभव आया – आकाशवत्। इसका कुछ परिणाम निकलेगा, इसकी आसक्ति मेरे मन में नहीं थी। परंतु परमात्मा की इच्छा जिस चीज के लिए होती है, वह चीज बनती है। उन परिणामों को भगवत्-चरणों में समर्पित करके मैं उसमें से मुक्त हो गया। उपवास-समाप्ति के बाद चिंतन चला, वह ज्यादातर ब्रह्मविद्या का ही था।

तूफान के लिए

उन्हीं दिनों में सर्व सेवा संघ ने गोपुरी-वर्धा में अपना अधिवेशन बुलाया। भारतभर के लोग वहां इकट्ठा हुए। एक-एक प्रांत के लोग मुझसे मिलने के लिए आते गये। तब मैंने बिहारवालों के सामने कहा कि आप छः महीनों में बिहार में दस हजार ग्रामदान प्राप्त करें और तूफान खडा करें। अगर ऐसा होता है और मेरी जरूरत पडती है तो मैं बिहार आऊंगा। बिहारवालों ने यह बात मान्य कर ली। और मैं बिहार की तरफ निकल पडा (24.8.65)।*

लोग मुझसे कहते कि आप किसी एक गांव में बैठ जायें और एक

---

* स्वास्थ्य के कारण यह यात्रा कार से हुई – महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश से गुजरते बिहार पहुंचे – सं.

नमूना पेश करें। मैंने कहा, मैंने कुछ साल एक जगह बैठकर कार्य किया है, जब गांधीजी थे। पर अब मैं एक जगह बैठूं तो कार्य कैसे हो सकता है? जब मैं चलता हूं तो कार्यकर्ता बैठते हैं, जब मैं बैठता हूं तब कार्यकर्ता सोते हैं। मैं भागने लगूंगा तब कार्यकर्ता चलने लगेंगे। मैं एक जगह बैठ जाऊं तो कार्यकर्ता सोयेंगे नहीं? इसलिए मुझे चलना चाहिए, ताकि कार्यकर्ता बैठकर कार्य करें।

बिहार से कुछ दिन के लिए उडीसा जाना तय हुआ था। कार्यक्रम बन गया था। परंतु मुझे अचानक 'फीशर' की तकलीफ शुरू हो गयी और मुझे कुछ दिनों के लिए जमशेदपुर में (दिसंबर 1965) रुकना पडा। उडीसा का कार्यक्रम रद्द करना पडा। मैंने उनसे कहा, मुझे दुःख है इस बात का कि ग्रामदान-तूफान के सिलसिले में मेरा जो उडीसा का कार्यक्रम बना था, वह अचानक व्याधि के प्रादुर्भाव से फिलहाल स्थगित करना पडा। लेकिन एक बात सहज ध्यान में आती है कि तूफान तो अपने वेग से आता है। वह किसी व्यक्तिविशेष पर निर्भर नहीं रह सकता। भक्तिशास्त्रकारों ने माना है कि संयोगभक्ति से वियोगभक्ति में तीव्रता होती है। मुझे आशा है कि उडीसा का 'तूफान' उस तीव्र रूप में प्रकट होगा और सब कार्यकर्ता दुगने वेग से काम में जुट जायेंगे।

मेरी इस बीमारी में मेरा चिंतन चलता रहा। पवनार में मैं एक जगह बैठा था, वहां अगर मैं यह कहता कि एक जगह बैठे हुए तूफान चलना चाहिए, तो वह मेरा आग्रह होता। लेकिन वहां से निकल पडा, बिहार की एक यात्रा हुई और अब एक जगह बैठना पडा तो मुझे महसूस हुआ कि उसमें ईश्वर का संकेत है। अब भी मैं घूमने का आग्रह रखूंगा तो वह अडंगा लगाने जैसा होगा।

मेरा स्वास्थ्य सुधर रहा था। खास चिंता की बात नहीं थी। वेदना वगैरह तो बहुत हुई, लेकिन वह एक ईश्वर का वरदान था, ऐसा मैं मानता हूं। उससे मुझे बहुत लाभ हुआ। अधिकतर समय चिंतन-मनन-ध्यान आदि में जा रहा था। चारों ओर से ग्रामदान के तार रोज पहुंचते थे। तूफान में जितने वेग की अपेक्षा की थी उससे आधे वेग तक तूफान पहुंचा था।

मार्च की 16 तारीख को वहां से प्रस्थान करके उत्तर बिहार की ओर निकल पडा।

सूक्ष्म-प्रवेश

उन्हीं दिनों मुझे अंदर से आदेश मिला कि अब लोगों को ज्यादा पीडा नहीं देनी चाहिए। लोगों ने तो उसे पीडा नहीं माना। लेकिन वह एक पीडा ही है कि एक आदमी पीछे लगा रहे और उनको एक ही बात बार-बार समझाता रहे। मैंने सोचा कि इसी साल के अंदर-अंदर (एक तारीख थी मेरे मन में) इसका निर्णय लूंगा कि मैं खुद लोगों के पास नहीं जाऊंगा। लोग सहज मेरे पास आयेंगे तो उनको सलाह आदि दूंगा। सूक्ष्म में प्रवेश करने की कोशिश करूंगा।

बापू के पास आकर मुझे पचास साल पूरे हो रहे थे। तो ऐसा लग रहा था – उसके पहले ईश्वर ले जायेगा तो सवाल ही नहीं था, नहीं तो उस दिन गांधीजी से इजाजत मांगें। मुक्त होना यानी स्थूल कार्य से मुक्त होना है। उसमें सत्य नहीं छोडना है। अहिंसा नहीं छोडनी है। लेकिन 50 साल उनकी आज्ञा में काम किया, तो अब इजाजत मांगने से गांधीजी नाराज नहीं होंगे। मनुष्य ने बचपन में जो सेवा की होगी, वही वह जवानी में करे और जवानी में जो सेवा की होगी वही बुढापे में करे, ऐसी अपेक्षा कोई नहीं करेगा।

मेरे जीवन पर दो प्रवाहों का, दो विचारों का प्रभाव है। एक तो वह, जिसे मैं आत्मज्ञान का प्रवाह कहता हूं। इसका प्रभाव बचपन से ही है। दूसरा प्रवाह वह, जिसे विज्ञान का प्रवाह कहता हूं। उसका भी प्रभाव मुझ पर है।

पहला प्रवाह हमेशा निवृत्ति की ओर खींचता है। 'काम न करना' निवृत्ति नहीं है। काम न करना भी काम करने की तरह एक वृत्ति है। निवृत्ति में दोनों से मनुष्य भिन्न हो जाता है। वह मुझे हमेशा आकर्षक लगता है और मेरा विश्वास है कि उसमें एक शक्ति है। जैसे परमाणु-शक्ति सूक्ष्म है और वह विस्फोट से प्रकट होती है, वैसी ही एक आत्मशक्ति है। बहुत सारी नहीं, बल्कि सब-की-सब शक्तियां उसी में हैं, भले ही वह पूरी प्रकट न हो। जीवन में वही काम भी आती है। जीवन उसके साक्षीरूप से ही चलता है। जाने-अनजाने हरएक के जीवन को उसका स्पर्श होता है। दर्शन, लेकिन, उसका स्फोट होने पर होता है। सृष्टि में भी वही शक्ति है। उसको जितना मौका देंगे उतना अच्छा। सत्य को ही अपना आग्रह करने दें। बीच में हम क्यों आयें?

मेरी एक वैचारिक भूमिका है। उसी पर मैं खडा हूं। जरा लोगों से अलग हुआ कि उसी पर पहुंच जाता हूं। वह मुझे कहती है कि बस, अब 'केवल-स्वरूप' होकर ही तुझे घूमना चाहिए। नदी की तरह समुद्र में पहुंचना है। स्वाभाविक कर्म कर। जिस तरह से नदी अपनी ओर से कुछ नहीं करती, लोग जैसा चाहते हैं वैसा उसका उपयोग करते हैं, उसी तरह तेरा चलने दे। करना-करवाना 'केवल-स्वरूप' के विरुद्ध है। पर मुझे उसके लिए कुछ नहीं करना पडेगा। 'केवल-स्वरूप' बनना मेरे लिए स्वाभाविक है।

मेरे मन में निवृत्ति के जो विचार थे, उसके माने क्या थे? निवृत्ति यानी अप्रवृत्ति नहीं। प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति एक ही वस्तु के 'पाजिटीव-निगेटीव' रूप हैं। निवृत्ति अलग ही वस्तु है। चित्त को देह से, समाज से अलग करके चित्त का चैतन्य बनना चाहिए। वह एक बहुत बडा कार्यक्रम है। वही प्रधानरूप से मेरे मन में था। परंतु मेरी अपेक्षा यही रही कि पूर्ण चैतन्य में जाने के बाद कर्मयोग क्षीण नहीं होगा, वह वीर्यवत्तरम् होगा। मैंने सूत्र ही लिखा है – **'क्रियोपरमे वीर्यवत्तरम्'**।* इसलिए 7 जून (1966) के दिन मैंने जाहिर कर दिया कि "इन दिनों स्थूल कार्य से मुक्त होकर 'सूक्ष्म' कर्मयोग में प्रवेश करने का मेरा विचार तीव्रता से चल रहा है। उसका अमल मैं आज से कर रहा हूं।" आज का ही दिन था, जब बापू से मेरी प्रथम मुलाकात हुई थी, सन् 1916 में। 50 साल पूरे हो गये। ब्रह्म का नाम लेकर मैंने घर छोडा था, वह भी उसी साल में। उसको भी 50 साल और कुछ महीने हो गये। तो मुझे अंदर से आदेश मिला कि जो भी सेवा बनी, वह श्रीहरिगुरु-चरणों में अर्पण करके अब मैं सूक्ष्म में प्रवेश करूं। ऐसे तो जिस दिन परमेश्वर से निमंत्रण आता है, तब तो सूक्ष्म में जाना ही होता है हरएक को। लेकिन उसका परिणाम तो सूक्ष्म शरीर में बैठना, इतना ही होगा। इसलिए मैंने यह (सूक्ष्म कर्मयोग की) प्रक्रिया सोची है और उसको ध्यान, भक्ति, ज्ञान आदि नाम न देकर 'सूक्ष्म कर्मयोग' कहा – नयी संज्ञा दी है। वेग से घूमनेवाला लट्टू स्थिर दीखता है – यह सूक्ष्म कर्मयोग है। जब उसका वेग कम होने लगता है तब वह स्थूल में जाता है। यह विचार मेरा नया

---

* जितना क्रिया का उपरम होता जायेगा, उतना कर्म शक्तिशाली बनेगा – कर्म का परिणाम ज्यादा होगा।

नहीं, पुराना ही है। उस पर आज अमल करके मैं अपने को शून्यवत् पाता हूं। अभी पूरा 'शून्य' नहीं, 'वत्' है। तो पहले कदम के तौर पर बहुत सारा पत्र-व्यवहार बंद करने का मैंने निर्णय लिया है। मेरा अपना विश्वास है कि सूक्ष्मरूपेण बहुत काम किया जाता है। और जो अपनी वासनाएं निःशेष करके परमात्मा में और परमात्मा की सृष्टि में लीन हो गये, वे सूक्ष्मरूपेण बहुत मदद करते हैं।

सूक्ष्म कर्मयोग में न दया छोडनी है, न दान छोडना है, न दम छोडना है। यह जो त्रिविध कार्यक्रम है वह दया-दान-दम है। शांतिसेना का काम दया की प्रेरणा है – क्रोध के खिलाफ दया। ग्रामदान का काम है दान – लोभ के खिलाफ दान-प्रवृत्ति। और खादी का काम है दम – विलासप्रियता और कामवासना के खिलाफ दम। इसलिए चाहे मैं 'सूक्ष्म' में प्रवेश करूं, यह दया-दान-दम का जो कार्यक्रम है, उसके साथ मेरा हृदय जुडा रहेगा। 'तूफान' तो चल ही रहा था, पर पत्राचार नहींवत् था, बोलना भी कम। चिंतन 'सूक्ष्म से सूक्ष्म' में जाने का चल रहा था। खाली बैठने में कसौटी है। अब बोलने की कोई वृत्ति नहीं रही थी। रोजाना जो बोलने का समय रखा था, वह समाप्त कर दिया। न बोलने का कोई संकल्प नहीं था, बोलने का भी नहीं था।

उस दिन मैंने कहा कि 17 साल मैं बोलता रहा। अब भी बोलता ही रहूं, तो ठीक नहीं। तो मैंने सोचा है कि कार्यकर्ताओं के साथ आंतरिक अनुसंधान रखूं। इसलिए मैंने श्यामा से बंगाल के कार्यकर्ताओं के नामों की सूची तैयार करवा ली। और मैं सारे भारत के कार्यकर्ताओं के नाम चाहता हूं। उनका मैं ध्यान करूंगा। कार्यकर्ताओं के साथ आंतरिक अनुसंधान रखना चाहता हूं। आंतरिक अनुसंधान में जो शक्ति है उसे लोग पहचानते नहीं। आंतरिक अनुसंधान में अपने को भूल जाना होता है। खाली होना। एकदम खाली। तब अनुसंधान रहता है।

एक दिन मैंने बाबाजी (मोघे)* से, जो उन दिनों मुझे मिलने यात्रा में आये थे (1968), पूछा कि आपके कितने बच्चे हैं, कहां हैं? तो वे कहने लगे कि 56 साल से मैं आपके साथ हूं, 56 साल के बाद आप यह सवाल कर रहे हैं, कैसे प्रेरणा हुई? मैंने कहा, मैंने व्यक्तिगत सवाल

---

* बडौदा के बालमित्र, विद्यार्थी मंडल से बाबा के साथी – सं.

पूछा इसलिए आपको आश्चर्य हो रहा है। लेकिन अब मैं सूक्ष्मतर में गया हूं। पहले स्थूल कार्य में था, तो कार्य हो रहा है या नहीं इस तरफ ही ध्यान देता था। अब आसपास के साथियों की ओर ध्यान देता हूं। इसलिए देखता हूं कि बाल को जुकाम होता है तो वह गरम पानी पीता है या नहीं; जयदेव को पूरी नींद मिली या नहीं। ये हमारे औजार हैं, वे अच्छे चलें, इस तरफ ध्यान देता हूं। इतना करने पर भी 'बाबा' तो 'इंपर्सनल' ही है। तो उसका यह 'इंपर्सनल कांटैक्ट' 'पर्सनल कांटैक्ट' कहा जायेगा। आगे जब शून्य में जायेगा बाबा, तब यह झमेला भी खत्म होगा।

ऐसे संकल्पमात्र भगवान की इच्छा के अंतर्गत ही हैं। फिर भी स्वतंत्र हो सकते हैं। इन संकल्पों के अनुसार भक्त काम करता है, भगवान भक्त की मदद भी करता है। इस तरह मदद पाना एक बात है और आदेश पाना दूसरी बात है। 17 साल पहले मेरी पदयात्रा शुरू हुई। पोचमपल्ली में हरिजनों के लिए 80 एकड भूमि की मैंने मांग की। 100 एकड जमीन मिली। उन दिन रात को नींद नहीं आयी। भगवान से बातचीत शुरू हो गयी। आदेश मिला, यह काम तुमको उठाना चाहिए। वह ईश्वरी आदेश था। तब से पदयात्रा चलती रही। बीच में बीमारी के कारण मैं पवनार रुका। मुझे आगे नहीं जाना चाहिए था, लेकिन निकल पडा और फिर से बीमारी के कारण वापस पवनार जाना पडा। तो वह ईश्वर का आदेश नहीं था। फिर गोपुरी के सर्व सेवा संघ के अधिवेशन में 'तूफान' शब्द निकला, मैं वाहन (कार) से यात्रा पर निकला और अब वह शब्द चल रहा है। इसे भी मैं ईश्वर के आदेश का लक्षण समझता हूं।

आचार्य-कुल

इस समय बिहार में एक काम हुआ। पूसारोड की विद्वत् परिषद (7,8 दिसंबर 1967) में भी मुझे एक ईश्वरीय आदेश महसूस हुआ। इससे पहले मेरी पदयात्रा के दरमियान या गांधीजी के जमाने में भी इस प्रकार की कोई परिषद हुई थी, ऐसा कोई स्मरण मुझे नहीं। इस प्रकार की परिषदों को प्राचीन काल में 'संगीति' कहते थे। तो मुझे लगा कि यह विशेष प्रसंग है। फिर, इस परिषद के आयोजन के लिए मुझे जरा भी तकलीफ नहीं हुई, न मैंने इस बारे में कुछ सोचा भी था। सारा आयोजन कर्पूरी ठाकुर ने किया और उन्होंने कहा कि उसमें सरकार का एक पैसा भी खर्च नहीं हुआ। इसलिए मुझे लगा कि इसमें एक ईश्वरीय आदेश

विरुद्ध कोई बात कैसे होगी? इसलिए दवा की जरूरत नहीं है। मैंने दवा लेने से इनकार कर दिया। लेकिन मित्र और सुहृद चिंतित हो गये। राजेंद्रबाबू और पंडित जवाहरलाल के तार आये। श्रीबाबू (श्रीकृष्णसिंह, बिहार के मुख्यमंत्री) आये और बहुत आग्रह किया। मैं देख रहा था कि इन सबको बहुत क्लेश हो रहे हैं। तो मैंने दवा लेना मंजूर कर लिया। दवा लेने से बुखार उतर गया और सबकी चिंता दूर हुई।

लोगों के सामने यह पहेली हो गयी कि पहले बाबा ने दवा लेने से इनकार कर दिया और फिर दवा ले भी ली। बहुत-से लोगों ने अपनी भावना मुझे लिखकर भेजी। उनमें एक मत था कि दवा लेकर मैंने बडा पुण्यकार्य किया है; दूसरा मत था कि मुझसे महापाप हुआ है और ईश्वर पर की मेरी श्रद्धा ढह गयी है। तीसरा यह भी पक्ष था कि हुआ तो दोष ही है, पर लोकसेवा की भावना से हुआ इसलिए माफ किया जा सकता है। मुझे गीता का श्लोक याद आया,

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्

अब यह त्रिविध कर्मफल मेरे सिर पर भी चढनेवाला है या नहीं, मैं नहीं जानता। और जानने की मुझे उत्सुकता भी नहीं। भगवान ने जो कुछ कराया वह हुआ, ऐसी इस विषय में मेरी भूमिका रही, इसलिए मैं निश्चिंत रहा।

मैंने चांडिल में (7.3.53) कहा था कि "हमें स्वतंत्र लोकशक्ति निर्माण करनी चाहिए। अर्थात् हिंसाशक्ति की विरोधी और दंडशक्ति से भिन्न लोकशक्ति हमें प्रकट करनी चाहिए। हमारे देवता यह जनता-जनार्दन हैं।" मैं जो घूम रहा हूं उसके पीछे मेरी नहीं, उन तपस्वियों की ताकत है, जो कारखानों, खेतों और खानों में काम करते हैं। आधा पेट रहकर भी काम करते हैं और मस्त रहते हैं। किसी को तकलीफ नहीं देते, बल्कि स्वयं सहन करते जाते हैं। यही उनकी तपस्या है, जो मुझे जगाती है।

बिहार में तो मुझे भगवान का प्रसाद भी मिल गया। देवघर के वैद्यनाथधाम में हरिजनों को लेकर हम महादेवजी के दर्शन के लिए गये थे (19 सितंबर 1953)। महादेवजी के दर्शन तो नहीं मिल सके, लेकिन प्रसादरूप उनके भक्तों के हाथ की मार अवश्य मिली। जिन्होंने

मारपीट की उन्होंने अज्ञानवश वैसा किया। इसलिए मैंने नहीं चाहा कि उनको कोई सजा मिले। परंतु मुझे इस बात से बहुत ही संतोष हुआ कि जो सैकडों भाई-बहन मेरे साथ गये थे, वे सभी शांत रहे। इतना ही नहीं, मेरे साथियों ने, जिन पर बहुत ज्यादा मार पडी थी, उन्होंने कहा कि उस समय हमारे मन में कोई गुस्सा नहीं था। मुझे विश्वास है कि यह भेदासुर का अंतकालीन आक्रोश ही सिद्ध होगा। जबरदस्ती से या केवल कानून के बल से मंदिर में प्रवेश करने की मेरी इच्छा नहीं थी। उल्टे मैंने यह रिवाज रखा है कि जहां हरिजनों को प्रवेश नहीं मिलता उस मंदिर में मैं जाता ही नहीं। पर यहां हमने जब पूछा तो कहा गया कि मंदिर में हरिजन जा सकते हैं। इसी लिए हम लोग शाम की प्रार्थना के बाद श्रद्धापूर्वक दर्शन के लिए निकले। रास्ते में हम लोगों ने मौन रखा था। मैं तो मन ही मन महादेव की स्तुति के वैदिक सूक्त का चिंतन करता जा रहा था। उस हालत में जब हमारे ऊपर अनपेक्षित मार पडी तो उससे मुझे तो एक विशेष उत्साह चढा। साथियों ने मुझे घेर लिया था, इसलिए मारनेवाले मुझ पर जो भी सीधा प्रहार करते, उसे साथी लोग झेल लेते, फिर भी यज्ञशेष के तौर पर कुछ मुझे भी चखने को मिला। जिनके चरणों का मैं दास कहलाता हूं, उन पर (गांधीजी) भी इसी धाम में ऐसा ही प्रहार किया गया था, वह घटना मुझे याद आ गयी। वही भाग्य मुझे प्राप्त हुआ, कुछ धन्यता अनुभूत हुई।

14 सितंबर 1952 से 31 दिसंबर 1954 तक बिहार की यात्रा हुई। 23 लाख एकड भूमि प्राप्त हुई। भूदान-यज्ञ, संपत्तिदान-यज्ञ, श्रमदान-यज्ञ आदि कार्य चलते-चलते आखिर उनमें से जीवन-दान निकल पडा। इस कार्यक्रम से मेरे हृदय को अपार आनंद महसूस हुआ। परंतु इससे बडी बात यह है कि मैं कह सकता हूं कि बिहार में घूमते हुए ईश्वरीय प्रेम का साक्षात्कार हुआ। बिहार के लिए मेरे मन में एक स्वप्न था और है। मैं आशा करता हूं कि 'भूदान-यज्ञमूलक ग्रामोद्योगप्रधान अहिंसक क्रांति' बिहार की भूमि में होकर ही रहेगी। मैं अपने को बहुत धन्य समझता हूं कि वहां इतने दिन विचरने का सौभाग्य मुझे मिला। वहां के कण-कण में आंख भरके मैंने परमेश्वर का दर्शन पाया। वहां की जनता की सरलता, उदारता हृदय को छुए बिना नहीं रह सकती। हम जिसे प्रांतीय भावना कहते हैं, वह बिहार के लोगों में दूसरे प्रांतों की

है। अगर इस काम को हम उठा लेते हैं तो शिक्षा के क्षेत्र में अहिंसक क्रांति हम ला सकते हैं।

इस परिषद में शिक्षक, अध्यापक वगैरह लोग थे। मैंने कहा कि सारे देश का मार्गदर्शन आचार्यों के हाथ में होना चाहिए। लेकिन आज शिक्षक सामान्य नौकर की हैसियत में आ गये हैं। यह शिक्षा-विभाग का दुर्भाग्य है कि जो स्वतंत्रता न्याय-विभाग को है, उतनी भी स्वतंत्रता शिक्षा-विभाग को नहीं है। न्याय-विभाग की सरकार से ऊपर एक स्वतंत्र हस्ती है। यद्यपि उनको तनख्वाह सरकार की ओर से मिलती है, वह सरकार के मातहत नहीं हैं। वैसे ही शिक्षा-विभाग का होना चाहिए। शिक्षक को भी सरकार की ओर से तनख्वाह भले ही मिले, क्योंकि सरकार लोगों से लेकर ही देती है, लेकिन उसकी स्वतंत्र हस्ती होनी चाहिए। परंतु शिक्षा-विभाग की स्वायत्तता को सच्चे अर्थ में उपलब्ध एवं कार्यान्वित करने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक सत्ता की राजनीति के पीछे न भागें, बल्कि स्वयं अपनी शक्ति का विकास करें। कलुषित राजनीति से मुक्त होकर, संकीर्ण मतवादों से ऊपर उठकर विश्वव्यापक मानवीय राजनीति तथा जनशक्ति पर आधारित लोकनीति को अपनायें। शिक्षा-विभाग के स्वतंत्र अस्तित्व के लिए यह सब बहुत जरूरी है।

दूसरी बात मैंने यह बतायी कि एक है *अशांति-शमन-विभाग* और दूसरा है *अशांति-दमन-विभाग*। शिक्षक-प्रोफेसर-आचार्यों का विभाग अशांति-शमन-विभाग है। और पुलिस-विभाग, जो सरकार रखती है, वह है अशांति-दमन-विभाग। अगर शमन-विभाग समर्थ होगा, तो दमन-विभाग की आवश्यकता ही रहेगी नहीं। विश्वविद्यालय के अहाते में पुलिस को बुलाना पडे, यह आचार्यों पर एक कलंक ही मानना पडेगा। परंतु केवल विश्वविद्यालय ही नहीं, सारा भारत ही विश्वविद्यालय-परिसर है। इसकी ज़िम्मेवारी भी आचार्यों पर है।

इन्हीं विचारों के आधार पर कहलगांव में 'आचार्य-कुल' की स्थापना हुई (8.3.68)। कहलगांव प्राचीन स्थान है। कहोल नामक एक मुनि हो गये। याज्ञवल्क्य की सभा में चर्चा के लिए जो विद्वान आये थे, उनमें एक थे कहोलमुनि। बृहदारण्यक उपनिषद में ब्रह्मचर्चा में वे भाग लेते हैं। वहां मैंने कहा कि इस बार मैं दो अपेक्षाएं लेकर बिहार आया हूं। पहली बिहारदान की अपेक्षा और दूसरी, शिक्षकों की स्वतंत्र शक्ति

खडी की जाये। सभी शिक्षकों-आचार्यों का संगठन हो, जिसको 'आचार्य-कुल' कहा जायेगा।

समापन

मैंने बिहार में दो शब्दों के साथ प्रवेश किया था – 'तूफान' और 'छः महीने'। मैं चार साल बिहार में रहा। बिहारवालों ने शानदार काम किया। किसी ने अपनी ताकत में चोरी नहीं की।*

राजगीर के सर्वोदय सम्मेलन में मैंने जाहिर किया कि बादशाहखान से, जो 22 साल के बाद भारत आये थे, मिलने मैं सेवाग्राम जाऊंगा। और वर्धा की ओर जाने निकला।

* *

मैं अपने देवताओं की क्रम से भक्ति करता हूं। प्रथम अपील ईश्वर के पास। वह सबका प्रभु है। उससे संवाद होता है और मैं उसकी प्रार्थना करता हूं। यह मेरी बहुत बडी शक्ति है। दूसरा देवता है जनता। ये दो मेरे भगवान हैं।

मेरे अंतर में हमेशा ईश्वर बातें करता है। मैं उसको कहता हूं, तुम्हारे पास मेरी कोई शिकायत नहीं है। मैंने जितनी भक्ति की, उससे कम फल तुमने मुझे दिया, ऐसी कोई शिकायत मेरी नहीं है। मेरे से जो अल्प भक्ति हुई है, उससे बहुत ज्यादा फल मुझे मिला है। कई लोग कहते हैं कि चौदह वर्ष भूदान का काम चला है, लेकिन उसका कोई असर दिखायी नहीं देता। मैं उनसे कहता हूं कि आपका कहना ठीक है; लेकिन मैंने जितना पुरुषार्थ किया, हमारे लोगों ने जो कुछ किया उसे हिसाब से बहुत ज्यादा परिणाम आया है। इसलिए मेरे मन में कृतज्ञता है। ईश्वर मेरी योग्यता से बहुत ज्यादा सफलता दे रहा है। मैं यह जानता हूं कि जैसे-जैसे मेरी चित्तशुद्धि होती जायेगी वैसे-वैसे अधिकाधिक सफलता मिलती जायेगी।

मैं मानता हूं कि मुझे एक-एक दिन परमेश्वर के द्वारा मिला है, इसलिए जिसे मैं धर्म मानता हूं, उसका मुझे आचरण करना चाहिए। इसी कारण मेरी पदयात्रा चली। वह भगवान की प्रेरणा है। वैसी प्रेरणा नहीं

* परिणामतः बिहार के सभी जिलों का 'जिलादान' हुआ। राजगीर के सर्वोदय सम्मेलन (अक्तूबर 1969) में 'बिहारदान' हो जाने का ऐलान हुआ। – सं.

होती तो इस वृद्धावस्था में मुझे सतत पदयात्रा करने की सामर्थ्य नहीं आती। पिछले चौदह वर्षों से यह पदयात्रा (तथा साढे चार साल मोटर-यात्रा) जंगलों-पहाडों में, बरसात में, गरमी में, जाडों में अखंडरूप से चली। यह शक्ति भगवत्प्रेरणा से प्राप्त हुई। स्वयं मुझमें ऐसी शक्ति नहीं कि मैं इस प्रकार घूम सकूं। देह को इस प्रकार घूमने में सुख नहीं होता, परंतु मैंने माना कि यह ईश्वर की आज्ञा है और उसका मुझे पालन करना ही चाहिए। एक जगह लोगों ने आशा व्यक्त की कि आपकी यह यात्रा विजय-यात्रा हो। मैंने कहा, परमात्मा ने एक प्रेरणा दी, उस प्रेरणा से प्रेरित होकर मैंने यात्रा चलायी। मेरे हाथ में ज्यादा से ज्यादा इतना ही है कि यात्रा अखंड चले। लेकिन यह विजय-यात्रा होगी कि पराजय-यात्रा, यह आपके हाथ में है। विजय-यात्रा हुई तो आपकी जय है; और पराजय-यात्रा हुई तो आपकी ही पराजय है। मैं तो जय और पराजय भगवान को समर्पित करके मुक्त होता हूं।

मैं एक बात कहना चाहता हूं, जो मैं भूदान-आंदोलन के प्रारंभिक दिनों में कह चुका हूं कि हमें सोचना होगा कि हम किस प्रकार अपनी समाजरचना करना चाहते हैं। हमारे सामने आज पचासों रास्ते खुले हैं। हम सबके सामने यह बडा भारी सवाल है कि अपनी आर्थिक और सामाजिक रचना के लिए कौनसा रास्ता लें, कौनसा तरीका स्वीकार करें। अगर हम अच्छे उद्देश्य के लिए बुरे साधन इस्तेमाल करते हैं, तो हिंदुस्तान के सामने ऐसे मसले पैदा होते ही रहेंगे। लेकिन अगर हम अहिंसक तरीके से अपने मसले तय करेंगे तो दुनिया में मसले रहेंगे ही नहीं। मैं मानता हूं कि यह धर्मचक्र-प्रवर्तन का कार्य है। मेरा विश्वास है कि इस प्रयत्न से ही अहिंसा की कुंजी हमारे हाथ में आयेगी।

जिस विश्वास से तेलंगाना में भूदान का आरंभ हुआ, उसमें शंका का स्थान था। मेरे मन में इतना विश्वास नहीं होता था। लेकिन जो आदेश मिला वह स्पष्ट था। इसी लिए मैंने कहा कि मुझे आदेश मिला था। मेरे मन में तो झिझक थी, हिचक थी। लेकिन दिन-ब-दिन सिद्ध हुआ कि जिसने आदेश दिया, उसने सभी बातें हमारे सामने रखीं और मैंने तो श्रद्धा रखकर ही काम किया। लेकिन मैं विश्वासपूर्वक कहता हूं कि भारत का हृदय पूर्ण-कुंभ है, वह पूर्ण भरा हुआ है। मैं ईश्वर से यह नहीं कह सकता कि 'तुमने हमको दुःख का दर्शन कराया।' सर्वत्र सुख

ही सुख हमने पाया। जितना प्रेम मैंने पाया उसका एक अंशमात्र भी मैं नहीं चुका रहा हूं। प्राचीनों से, अर्वाचीनों से, शरीर के ख्याल से जो दूर हैं उनसे, नजदीकवालों से, इस तरह कश्मीर से कन्याकुमारी तक और द्वारका से दिब्रुगड (असम) तक उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सब तरफ से मुझे जो मिला, उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता। मुझे जो मिला है, वह इतना अत्यधिक मिला है कि मैं प्रेम दे रहा हूं, ऋण चुका रहा हूं, ऐसा भास मुझे नहीं होता है। माधवदेव ने गुरु के लिए जो लिखा है, वही मैं जनता के लिए कहता हूं – नमस्कार करने के सिवा दूसरा उपाय नहीं है। सबको हम भक्तिभाव से प्रणाम करते हैं।

वाङ्मय-उपासना

स्वाध्याय प्रवचने च

मैं जीवनभर विद्यार्थी रहा हूं। मेरा सतत अध्ययन चला ही है। जिसको अध्ययन में रस है, वह निरंतर अध्ययन करेगा, अध्ययन के बिना रह नहीं सकता। आध्यात्मिक ज्ञान, विज्ञान का ज्ञान, आरोग्यशास्त्र का ज्ञान, वैद्यकशास्त्र का ज्ञान अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। मैंने इसकी कोशिश की। जैसे कोई युनिवर्सिटी का विद्यार्थी पूर्ण हृदय से अध्ययन करता है, वैसे ही मैंने अध्ययन किया।

भूदान-ग्रामदान की यात्रा में भी वह चलता रहा। उपनिषद ने स्वाध्याय-प्रवचन के संपुट में सारे कर्तव्य बताये हैं। **सत्यं च स्वाध्याय-प्रवचने च, शमश्च स्वाध्याय-प्रवचने च, अतिथयश्च स्वाध्याय-प्रवचने च।** यानी हरएक कर्तव्य के साथ स्वाध्याय-प्रवचन होना चाहिए। मैंने अपने लिए समझ लिया – **भूदानं च स्वाध्याय-प्रवचने च, ग्रामदानं च स्वाध्याय-प्रवचने च, शांतिसेना च स्वाध्याय-प्रवचने च, ग्रामाभिमुखं खादी-कार्यं च स्वाध्याय-प्रवचने च** । और ऐसा ही व्यवहार मैंने किया। जितने काम किये उन सबके साथ अध्ययन-अध्यापन का कर्तव्य कभी दूर हुआ नहीं। बहुत बडा उपकार है मुझ पर उन महात्माओं का, जिन्होंने यह आदेश दिया।

अध्यापन अध्ययन का ही एक प्रकार है। सन् 1911 से मैंने वह भी सतत किया। और अंत तक चलता रहा। समाज को समझाना भी अध्यापन ही है। सतत चौदह-पंद्रह साल वह भी करता रहा।

तीन अवस्थाएं

ऐसे, मेरी पढाई की शुरुआत गागोदे में 1901 से हुई। परंतु मेरी बहुत सारी शिक्षा, लगभग 11 साल तक बडौदा में हुई। उतनी अवधि में मैंने अक्षरशः हजारों किताबें पढीं। मराठी, संस्कृत, हिंदी, गुजराती, अंग्रेजी, फ्रेंच, इन छः भाषाओं से मेरा परिचय था। इनका उत्तमोत्तम साहित्य पढने में आया। हिंदी में तुलसीदासजी की रामायण (मूल रामायण और उसका मराठी तर्जुमा) उसी वक्त पढी। गुजरात के नरसिंह मेहता, अखा भगत इत्यादि पढे। फ्रेंच में व्हिक्टर ह्यूगो की 'ला मिजरेबल' पढी। अंग्रेजी में मिल्टन, वर्डस्वर्थ, ब्राऊनिंग, वगैरह कवियों

का बहुत संस्कार हुआ। संस्कृत तो कम आती थी, तो गीता पढ ली। परंतु उस समय चित्त पर सबसे ज्यादा संस्कार मराठी संतों के ग्रंथों का हुआ। स्वाभाविक ही था, मातृभाषा ही थी, समझने में खास प्रयास नही पडता था। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ और रामदास, इनकी हजारों ओवियां, भजन कंठस्थ थे। पांचों के मिलकर लगभग दस हजार पद्य होंगे। यह मेरी पहली अवस्था।

ब्रह्मविद्या के नाम से घर छोडकर निकला उसके दो साल बाद मां की मृत्यु हुई। उस समय मैं उसके पास था। तब मुझे ज्ञानेश्वरी का वचन याद आया – 'अहित में से छुडानेवाली, हित में प्रेरित करनेवाली श्रुति के समान माता नहीं।' शंकराचार्य ने भी एक जगह यही कहा है कि हजार माताओं और हजार पिताओं से बढ कर हितैषी वेद है। तो उस दिन से वेदाध्ययन शुरू किया – 1918 से, और 1969 में समाप्त किया। पचास वर्षों में वेद-वेदांत आदि संस्कृत आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन किया। मेरे ख्याल से कोई ग्रंथ बाकी नहीं रहा होगा। रामायण, महाभारत, भागवत, योगवासिष्ठ, योगसूत्र, ब्रह्मसूत्र, सांख्यसूत्र इत्यादि। फिर भाष्य पढे। 20 संस्कृत भाष्य पढे, 13 अन्य पढे, कुल 33 । इस प्रकार धार्मिक, आध्यात्मिक साहित्य बहुत सारा पढ लिया। हरएक किताब पूर्ण पढी, ऐसा नहीं। कुछ पूर्ण पढीं, कुछ कंठस्थ कीं, कुछ सरसरी तौर पर पढीं। यह मेरी बीच की अवस्था हुई। उसमें साररूप किताब मैं वेद को मानता हूं।

अब (1975) मैं वृद्ध हो गया। तो वृद्धावस्था में आश्रय के लिए दो किताबें लीं – वह भी शंकर की आज्ञा के अनुसार लीं – **गेयं गीता नाम-सहस्रम्,** एक गीता और दूसरा विष्णुसहस्रनाम। दिन में, रात में, सोते, जागते निरंतर विष्णुसहस्रनाम का स्मरण करता हूं।

जीवन की पहली अवस्था में पांच संतों का असर; दूसरी अवस्था में वेद का मुख्य असर; तीसरी अवस्था – सबसे अधिक विष्णुसहस्रनाम का असर! इसके आगे ग्रंथमुक्ति ही रहती है।

विहंगमावलोकन

बचपन में मैं मासिक पत्रिकाएं पढता था, तब कहानी-कविता आयी कि छोड देता था। निबंध आदि ऊपर-ऊपर से देख लेता था।

ऐतिहासिक जानकारी, जीवनचरित्र, विज्ञान की जानकारी, ऐसी चीजें पूरी पढ लेता था।

बडौदा के ग्रंथालय में जितने चरित्रग्रंथ थे, वे सारे के सारे मैंने पढ डाले थे। वर्णानुक्रम से अब्दुल रहमान का चरित्र पहले आता था। अफगानिस्तान का आदमी स्वतंत्र रहने के लिए किस तरह प्रयत्न करता है, अच्छी जानकारी थी। फिर बुद्ध का चरित्र पढा। ८० साल के अस्सी प्रकरण उसमें थे। बडे-बडे ग्रंथ मैं दस-दस, पंद्रह-पंद्रह मिनट में पूरे देख लेता था। फैजपुर में था, तब पंडित नेहरू का आत्मचरित्र ऐसे ही दस-पंद्रह मिनट में देख लिया था। उसमें एक जगह उन्होंने लिखा है – 'मेरी शादी हुई, हम कश्मीर गये। वहां अकाल पडा था, गरीबी थी...' और फिर शुरू हुआ हिंदुस्तान की गरीबी का वर्णन! शादी के बारे में 'शादी हुई' इतना ही, बाकी सारी दूसरी बातें। मेरे ध्यान में आया कि यह आदमी अनासक्त है। बापू की आत्मकथा भी मैंने पूरी पढी नहीं। 'नाताल में हडताल शुरू हुई' – इतना पढ लिया तो आगे का ध्यान में आ गया, इसलिए वह हिस्सा छोड दिया और आगे बढा।

संस्कृत में उपन्यास, काव्य, नाटक पढा नहीं। केवल एक नाटक पढा, उत्तररामचरितम् । शाकुंतल नहीं पढा। रघुवंश के दो सर्ग पढे। वाल्मीकि रामायण भी पूरी नहीं पढी। महादेवी या वल्लभ, किसी को पढाना शुरू किया था, उस समय चार-पांच सर्ग पढे होंगे। उसमें मारीच और सुबाहु का वर्णन आता है – **वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ।** उतना ही ध्यान में रहा कि ये राक्षस सुशिक्षित थे। वेद, उपनिषद, गीता, ब्रह्मसूत्र पूरे पढे।

हमारा मित्र रघुनाथ (धोत्रे) मराठी काव्य-नाटक पढता था और अभिनय के साथ बोलकर सुनाता था। उसने मुझे कीचकवध नाटक पढने को दिया। उतना मैंने पढा। साने गुरुजी ने अपनी पत्री नाम की किताब पढने को दी। उसमें से दस-बारह कविताओं पर निशानियां लगाकर दी थीं, वे कविताएं मैंने पढीं, बाद में पूरी किताब देख ली। उनकी 'श्यामची आई' (श्याम की मां) मैंने पढी नहीं।

शेक्सपीअर का केवल एक नाटक मैंने पढा – ज्युलीयस सीजर। वह भी पाठ्यक्रम में था इसलिए पढा। उसमें पहले पृष्ठ पर पात्रों का परस्पर रिश्ता दिया था, उस पृष्ठ पर उंगली रखकर ही मैंने आगे का सारा पढा। हर पात्र के आते ही झट् से इधर देख लेता था कि यह

किसका कौन है। नहीं तो वह सारा झमेला ध्यान में रहेगा कैसे? स्कॉट का इवानोव भी कोर्स में था। उसमें एक मनुष्य के वर्णन से ही तीन-चार पृष्ठ भरे हुए थे। किसलिए पढना वह सारा? बोले, पाठ्यक्रम में है इसलिए। तो मैंने छोड ही दिया।

टॉलस्टॉय इतना बडा आदमी। उसका एक-एक उपन्यास हजार-हजार पृष्ठों का। 'वॉर एण्ड पीस' मैंने लिया, आदि-अंत देखकर रख दिया। 'ट्वेंटी थ्री टेल्स ऑफ टॉलस्टॉय' मैंने पूरी पढी। टॉलस्टॉय खुद कहता है – मेरी जो किताबें खरीदी जाती हैं, उनमें कोई सार नहीं। मेरी कहानियां सर्वोत्तम हैं और उनमें भी प्रथम कहानी 'गॉड सीज दि ट्रुथ, बट वेट्स' सर्वाधिक उत्तम है। मुझे भी वह कहानी बहुत पसंद आयी।

प्रेमचंद का करबला नाटक पढा। उसमें उर्दू शब्द हैं और नागरी में लिखा है। उर्दू शब्द कंठ करने थे इसलिए पढा। पंजाबी रीडर्स भी मैंने उर्दू शब्दों के लिए पढी।

ऑक्सफर्ड डिक्शनरी मैंने पूरी की पूरी पढी। कौन होगा ऐसा डिक्शनरी पढनेवाला? संस्कृत का गीर्वाण लघुकोश और तमिल का कोश भी मैंने पूरा पढ डाला। अंग्रेजी व्याकरण की दस-बारह किताबें पढीं।

जब मैं बापू के पास पहुंचा, तो वहां एक छोटा-सा पुस्तकालय था। दोपहर को खाकर आराम करने के बदले मैं वहीं जाकर पुस्तकें पढता था। शाम को बापू के साथ घूमने जाना पडता था, इसलिए रात को पढने का मौका नहीं मिल पाता था। उसी पुस्तकालय में मुझे राजचंद्रजी की मोक्षमाला पढने को मिली। उनके अनेक भजन मुझे कंठस्थ थे। राजचंद्रजी की एक पुस्तक डायरी के रूप में छपी है, उसे मैं पूरी पढ गया। खास करके मेरे भाई बालकोबा राजचंद्र का सूक्ष्म अध्ययन करते थे। उनके लिए मुझे भी उनके साहित्य का अध्ययन करना पडा।

गीताध्ययन की प्रेरणा

बचपन में मेरे मन में गीता के लिए आदर ज्ञानेश्वरमहाराज ने पैदा किया। आठ साल की उम्र थी। घर में ज्ञानेश्वरी थी, वह पढना शुरू कर दिया। पहला अध्याय पूरा हो गया। लडाई का बडा जोरदार वर्णन आया – शंख बजे, पृथ्वी हिलने लगी, जैसे पारिजात के वृक्ष से पुष्पों की वृष्टि होती है वैसे आसमान से तारकाओं की वृष्टि होने लगी, प्रलय होगा ऐसा

भास हुआ। लडाई होगी, ऐसा महाभयंकर प्रसंग उपस्थित हुआ। मुझे बडा आनंद हुआ कि अब कुछ तो सुनने को मिलेगा। लेकिन आगे पढा तो बडी निराशा हुई। अर्जुन बेचारा ठंडा पड गया। दूसरे अध्याय में प्रवेश किया तो भगवान उसको डांट रहे हैं! वह डांट भी ऐसी जोरदार कि वह पढकर भी उत्साह आया, लगा कि अब लडाई शुरू होगी। लेकिन उसके बाद ऐसे गहरे तत्त्वज्ञान में प्रवेश हुआ कि मैंने पढना ही खतम कर दिया। वह मेरा गीता से प्रथम परिचय, जिससे मुझे यह भास हुआ कि गीता में लडाई नहीं है।

फिर हाइस्कूल में मराठी साहित्य का अध्ययन शुरू हुआ। उस समय मैं ज्ञानेश्वरी तक पहुंच गया और ज्ञानेश्वरी पूरी पढ ली। साहित्य कें ख्याल से पढी, लेकिन एक अमिट छाप चित्त पर बैठ गयी कि उसको कभी आगे पढूंगा, जब समझने की शक्ति आयेगी।

ज्ञानेश्वरमहाराज ने गीता के लिए आदर पैदा किया और गीता के अध्ययन की आवश्यकता लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य ने पैदा की। शायद 1912 की बात होगी। मैंने सुना, लोकमान्य ने जेल में गीता-रहस्य लिखा है। मैं संस्कृत जानता नहीं था, परंतु गीता-रहस्य समझने के लिए गीता को समझना जरूरी था; तो गीता का अध्ययन शुरू किया। और फिर जब गीता-रहस्य प्रकाशित हुई तब वह 32 घंटे में पढ ली। एक घंटे में 25 पृष्ठ। शनिवार की शाम को ग्रंथालय से ले आया और सोमवार की सुबह लौटा दी।

गीता-रहस्य के अध्ययन के बाद इच्छा हुई कि और कुछ ढूंढना चाहिए, सोचना चाहिए। लोकमान्य ने जो विचार पेश किये थे, उनमें से कुछ जंचे, कुछ नहीं जंचे। तो दो तरह से खोज चली। एक तो जीवन के स्वरूप का चिंतन और दूसरा गीता के पहले और बाद जो विचार हुआ है, उसका परिचय। बाद का तो आसान था। गीता पर जो भी टीकाएं लिखी गयी थीं, वे पढनी थीं। गीता के पहले के प्रवाह का अध्ययन कठिन काम था। लेकिन बहुत बडी बलवान प्रेरणा थी, तो किया मैंने। आखिर मामला वेदों तक जाकर अटका। बहुत गूढ भाषा थी, पुराने शब्द थे। जिस वक्त शब्द बन ही रहे थे, उस वक्त की भाषा! यानी शब्द के मूल अर्थ में जाकर ढूंढने की जरूरत थी। तो काफी समय उसमें गया। लेकिन उस परिश्रम का लाभ हुआ। और इस सारे अध्ययन के

परिणामस्वरूप गीता पर निष्ठा दृढ हो गयी। फिर समझने के लिए और गीता के साथ तुलना के लिए अन्य धर्मों का चिंतन, कर्मयोगी जीवन में जितना हो सका उतना, किया। एक अद्‌भुत दृश्य देखा।

रामायण-भागवत

हमारे परिवार में हम बिलकुल बचपन से रामायण सुनते आये। उसे पढने और सुनने में मुझे कभी यह खयाल भी नहीं आया कि उसमें कुछ ऐतिहासिक घटना का जिक्र है। रावण नाम का कोई आदमी था, यह भास मुझे कभी नहीं हुआ। दुनिया के किसी भी ऐतिहासिक ग्रंथ में मैंने दस सिरवाले मनुष्य का वर्णन नहीं पढा। इसलिए जिस पुस्तक में दस सिरवाले मनुष्य का जिक्र हो वह इतिहास का ग्रंथ नहीं हो सकता, यह समझना बहुत जरूरी है। कुंभकर्ण नाम का द्रविड आदमी था, ऐसा भी कभी खयाल नहीं आया। इसलिए मैंने बचपन में यही समझा और हमें समझाया गया कि वह राक्षस और देवों का युद्ध है। देव-असुर का यह युद्ध हमारे हृदय के अंदर चल रहा है। रावण रजोगुण है, कुंभकर्ण तमोगुण और बिभीषण सत्त्वगुण, इस तरह वे रूपक हैं।

* *

भागवत ने जिसके मन को पकड न लिया हो, जिसके चित्त को रिझाया न हो, रमाया न हो, शांत न किया हो, ऐसा कौन भक्त इस *अखिल भारत में होगा? केरल-कश्मीर-कामरूप इस त्रिकोण में जो आया वह भागवत से छूट नहीं सका। जहां से कोई भी छूट नहीं सका, वहां से मैं भी कैसे छूट सकता था? गीता के तुलनात्मक अध्ययन के निमित्त ही* क्यों न हो, भागवत मुझे देखनी पडी। भागवत के एकादश स्कंध का *अध्ययन तो एकनाथमहाराज ने मुझसे अनेक बार करवा लिया है। मुझे मानना पडेगा कि गीतारूपी दूध में भागवत ने मधु की मिठास डाली।*

सर्वधर्म-समभाव

मैंने 1949 में पहली दफा कुर्‌आनशरीफ पूरी तरह से पढी। ऐसे उसके पहले अंग्रेजी तर्जुमा पढा। पिकथाल पढा था। युसुफअली का भाष्य पढा। फिर भूदानयात्रा में कश्मीर में प्रवेश किया तब अहमदियावालों का शाया किया हुआ तर्जुमा देखा। अंग्रेजी तर्जुमा पढने के बाद मैंने अरबी पढना शुरू किया था। एक-एक लफ्ज पढूं और याद

न रहे, आंख को तकलीफ भी हो, इसलिए मैं पूरा नागरी में लिख लेता था, तो फिर वह याद भी हो जाता। उर्दू से मुझे अरबी ज्यादा आसान लगती है। जुम्मे के दिन रेडियो पर बीस मिनट कुर्आन चलती थी। जेल में मैं रोज वह सुनता था। उस पर से मैंने तलफ्फुज (उच्चारण) पकड लिये। 1949 से लेकर कुर्आन पढता ही आया हूं।

* *

मैं हाइस्कूल में था, तब बहुत-से इंग्लिश कवियों का काव्य मैंने पढा था। गोल्डन ट्रेजरी की हर लाईन का अर्थ समझ लिया था। वर्डस्वर्थ वगैरह महान कवियों की रचनाएं पढी थीं। फिर भी बाइबिल पढने की इच्छा मुझे हुई नहीं, आश्चर्य की बात है। बाइबिल समझना कठिन तो था, पर इतना इंग्लिश साहित्य पढने के बाद कठिन नहीं भी लगता। परंतु बाद में जब मिल्टन की पॅराडाइज लॉस्ट पढी तब उसमें बारबार बाइबिल का उल्लेख आने लगा, इसलिए फिर ओल्ड रेस्टामेंट और न्यू टेस्टामेंट, दोनों पढने पडे। ओल्ड टेस्टामेंट का खास कोई असर मन पर हुआ नहीं। मनुस्मृति जैसा ग्रंथ लगा। कहावतें, गानें, कथाएं, कानून वगैरह सब उसमें हैं। हमारे पुराणों में भी और क्या है? मुझे उसमें कभी रुचि पैदा नहीं हुई। लेकिन जब न्यू टेस्टामेंट पढने लगा तब मन उसमें लग गया। विशेषरूप से फोर गॉस्पेल्स ने मेरे मन को आकर्षिक कर लिया। मैं उसको छोड ही नहीं सका। बाद में धर्मों के अध्ययन के सिलसिले में न्यू टेस्टामेंट के जितने अनुवाद उपलब्ध हो सके, उतने पढ लिये।

भूदानयात्रा में पश्चिम बंगाल में (1955) कुछ ईसाई भाई-बहन मुझे मिलने आये और उन्होंने बाइबिल की एक प्रति भेंट की। उसी दिन से बाइबिल का अध्ययन फिर से शुरू हुआ और वह जारी रहा। फिर मैं गया केरल। वहां भिन्न-भिन्न चर्चों के बिशप मिलने आये। उन्होंने मेरी बाइबिल की प्रति, जिस पर मेरी निशानियां, टिप्पणियां आदि थीं, देखी और अपनी खुशी व्यक्त की। उन्होंने अपने रिवाज के अनुसार प्रार्थना की और भूदान-कार्य के लिए सहानुभूति प्रकट करते हुए आशीर्वाद दिये। आगे (1959 में) 13000 फुट पीरपंजाल लांघकर हम कश्मीर घाटी में पहुंचे। रास्ते में एक ईसाई मिशन था। वहां एक 85 साल की वृद्धा हमसे मिलने खडी थीं। वह मेरा स्वागत करना चाहती थीं। मैंने

पूछा, आपके पास 'स्कोफील्ड रेफरन्स बाइबिल' है? वह तुरंत गयीं और अपनी प्रति लाकर मुझे भेंट दे दी। इस प्रकार विविध प्रकार की प्रतियां अध्ययन के लिए सहज उपलब्ध होती गयीं। मैंने उनका गहराई से अध्ययन किया।

* *

धम्मपद का मराठी गद्य अनुवाद बचपन में ही मेरे पढने में आया था। कई वर्षों के बाद मूल पाली का थोडा अध्ययन कर लिया। उन दिनों मेरा मन गीता में रमा हुआ था। पर धम्मपद के कुछ वचनों का इतना असर रहा कि अपने लेखन (मुख्यतया 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' और 'उपनिषदों का अध्ययन') में वेदांत और बौद्धदर्शन के अंतिम ध्येयों की एकरूपता दिखाने की कोशिश मैंने की। इधर नामदेव, कबीर आदि संतों की सिखावन, उधर उपनिषद और गीता की सिखावन, दोनों के बीच धम्मपद मुझे जोडनेवाली कडी-सा मालूम हुआ। और उस दृष्टि से उसका अधिक सूक्ष्म अध्ययन किया।

* *

ग्रंथसाहब की नागरी लिपि में मुद्रित प्रति मुझे पहली बार शिरोमणि गुरुद्वारा सभा की कृपा से मिली। शुरू से आखिर तक मैं उस ग्रंथ को देख गया। उसके बाद महीनों सिक्खों की उपासना का अध्ययन और अनुभव प्राप्त करने के लिए रोज सुबह की प्रार्थना में जपुजी का पाठ करता रहा। मुझे नामदेव के भजनों का संग्रह करना था। नामदेव के प्रायः सभी भजन मराठी में हैं, पर कुछ भजन हिंदुस्तानी में भी हैं। उन्हें देखने और उनमें से चुनाव करने की दृष्टि से मैं पुनः एकबार ग्रंथसाहब को देख गया। इस तरह नानक के साथ मेरा हृदय का परिचय हो गया।

संत-संग

हिंदी में मुख्यतया तुलसीदासजी और नानक, इनका ही अध्ययन मैंने किया है। उसमें भी सांगोपांग तुलसीदास का, थोडा-सा नानक का, और बाकी चीजें जो सहज देखने को मिलीं वह देख लीं। कबीर का एक बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है, बीजक। वह मैंने पढा था 1918 में। क्या समझा होगा उस जमाने में, मालूम नहीं। 23 साल की उम्र थी। लेकिन मेरे पर असर हुआ कि जो विचार ज्ञानेश्वरमहाराज ने अनुभवामृत में, जिसे

अमृतानुभव भी कहते हैं, बताये हैं, उन विचारों के समान ही कबीर के विचार हैं। खास कर के जिसे निर्गुणिया और सहजिया कहते हैं, इन दो पंथों को मिल कर के कबीर का वह विचार बना है, ऐसा मुझे भास हुआ।

तुलसीदासजी की विनयपत्रिका देखने का मौका मुझे पहली बार साबरमती आश्रम में मिला। पंडित खरेशास्त्री उन दिनों प्रार्थना में आश्रमवासियों को संतवाणी सिखाया करते थे। विनयपत्रिका के भजनों का उसमें समावेश था। उस निमित्त से विनयपत्रिका के तीन पारायण चिंतन-मननपूर्वक मैंने किये। यह सन् 1918 से 21 का जमाना था। फिर तो सात-आठ साल वह शीतागार में यानी मेरे हृदय में पडी रही। कुछ वर्षों बाद बालकोबा ने वर्धा-आश्रम में विद्यार्थियों को संगीत सिखाना शुरू किया। विनयपत्रिका के कुछ नये भजन सिखाये। तो दुबारा मैंने विनयपत्रिका देखना शुरू किया। करीब तीन साल मैं उसमें तन्मय था। कितने पारायण उस समय हुए, इसका हिसाब नहीं। बहुत सारा मेरे कंठ में बैठ गया। फिर सोलह साल वैसे ही शीतागार में पडी रही। फिर, बापू के निर्वाण के बाद जब मैं शरणार्थियों को बसाने के काम के लिए गया तब अपने साथ मैंने एक ही पुस्तक रखी थी – विनयपत्रिका। उसके कुछ अर्धघन भजन मैंने महादेवी को सिखाये, जो मेरे साथ यात्रा में थी। सन् 1948 से 51 तक उसका चिंतन-मनन चला। तेरह साल के बाद मध्यप्रदेश की पदयात्रा में एक गांव की पाठशाला के छोटे बच्चों ने विनयपत्रिका की एक प्रति मुझे भेंट दी और मेरा अध्ययन पुनः शुरू हुआ।

* *

उस समय मेरी उम्र पंद्रह के आसपास होगी। निर्णयसागर के द्वारा मुद्रित एकनाथ के भागवत की सुंदर पुस्तक उन्हीं दिनों प्रकाशित हुई थी। वह मेरे हाथ में आयी। पुस्तक का आकार देख कर मैं सहम तो गया। फिर भी, समझ में आ रहा है या नहीं, इसकी परवाह किये बिना आखिर भागवत पूरी पढ तो ली ही। रोज एक अध्याय पढने का क्रम रखा था। याद नहीं, कौनसा अंग्रेजी महीना था, पर इतना याद है कि इकतीस दिन का महीना था और महीनेभर में पुस्तक पूरी हुई थी। लिखनेवाले ने कमर तोड कर लिखा तो पढनेवाला क्यों हार खाये, ऐसी वीरवृत्ति से पूरा पढ

लिया। इतना बडा ग्रंथ, पहले ही वाचन में, उस उम्र में कितना समझ में आनेवाला था! लेकिन एकनाथ की पुण्याई और उनकी पुनरुक्ति का बल इतना मजबूत कि कुछ छाप पडी ही।

इतना ग्रंथ-सागर पार करने का आश्चर्य और कर्तव्य पूरा करने का समाधान पल्ले में ले कर ग्रंथ बंद कर के रख दिया, तो सालों तक खोला ही नहीं। फिर गीता के साथ तुलना के लिए भागवत का एकादशस्कंध देखने की आवश्यकता पडी, तब एकनाथी भागवत दुबारा पढी। इस समय पूरा समाधान मिला। अपार आनंद प्राप्त हुआ। हर पन्ने में अनुभव भरा हुआ है। बाद में मालूम हुआ कि एकादशस्कंध पर इतनी योग्यता का विवरण हिंदुस्तान की दूसरी किसी भाषा में नहीं है। उसके बाद, मेरी आदत के अनुसार एकनाथी भागवत उलटी-सीधी कई बार देख ली।

दरमियान मैंने एकनाथमहाराज का चरित्र पढ लिया था। उसने मेरे चित्त को घेर लिया। विशेषतः मैं था क्रोधी और नाथ उससे ठीक उलटे शांति-जलधि! इसलिए वह चरित्र मेरे लिए कल्याणकारी भेषज ही ठहरा। भागवत के परिशीलन से नाथ के चरित्र का रहस्य मुझे खुल गया। जैसे-जैसे चिंतन करता गया, वैसे-वैसे वह चरित्र मेरी दृष्टि में अधिकाधिक ऊंचा होता गया। मुझे लगता है, आधुनिक काल में इस विषय में और अन्य बहुत-सी बातों में भी महात्मा गांधी का नाथ के साथ साम्य है।

* *

समर्थ रामदासस्वामी के ग्रंथ मैंने बचपन में ही पढे। मैं उनके पीछे पागल ही था। वे मानो मेरे आदर्शमूर्ति ही थे। उनके सीधे-सरल लेखन के कारण आध्यात्मिक साहित्य में मेरा प्रवेश सहजता से और स्वाभाविकता से हो गया। वहां से पीछे जाते-जाते ज्ञानदेवमहाराज तक और फिर संस्कृत वेदों तक का दर्शन सहज प्रवाह-क्रम में होता गया। रामदास का स्मरण होते ही 'आई, थोर तुझे उपकार' (हे मां, महान तेरे उपकार), इतना ही एक उद्‌गार स्फुरित होता है। रामदास के ग्रंथ मैंने बालमन से पढे, इसलिए उनमें से मुझे छोटा-सा अर्थ ही उपलब्ध हुआ, लेकिन जो हुआ उसकी मेरे चित्त पर गहरी छाप पडी, जो आज भी कायम है। भक्ति, वैराग्य, प्रयत्नवाद, विवेक इत्यादि अनेक बातें उनके उपदेश में आती हैं। परंतु मुख्य वस्तु मेरे चित्त में पैठ गयी वह है उनका समूह का लोभ!

लोक-हृदय-प्रवेश के लिए

भूदान-यात्रा में लोक-हृदय-प्रवेश के निमित्त उस-उस प्रांत में उस-उस भाषा के साहित्य का अध्ययन मुझ पर लादा गया। मतलब यह कि प्रेम के कारण ही मैंने उसे अपने पर लाद लिया। मैं विश्व-साहित्य का विद्यार्थी हूं। साहित्य और साहित्यिकों के लिए मेरे मन में आदर है और वह असाधारण है। मराठी भाषा का मैंने बारीकी से अध्ययन किया और उसी प्रवाह में संस्कृत का अध्ययन किया आत्मा के समाधान के लिए। उस समय भी मुझे निरुक्ति और व्युत्पत्ति में बहुत रुचि थी। शब्द कैसे बने, उनकी कुलपरंपरा क्या है, यह देखने का शौक था। विचारों का अनुसंधान करते हुए शब्दों की भी परंपरा देखनी पडती है। उसके लिए भी अनेक भाषाओं का अध्ययन जरूरी था। लेकिन मुख्यतया जनता के हृदय से संपर्क साधने के हेतु से हिंदुस्तान की सभी भाषाओं का अध्ययन मैंने किया।

जिस प्रांत में गया वहां के आध्यात्मिक साहित्य का अध्ययन पूरा किया और असम से ले कर केरल तक सभी भाषाओं के आध्यात्मिक साहित्य का काफी हिस्सा कंठस्थ किया – पद्य की भाषा में ही बोलना हो तो, मेरा ख्याल है, कम से कम 50,000 पद्य कंठस्थ होंगे। अलावा इसके, प्राचीन अरबी, फारसी, अर्धमागधी, पाली भाषाओं का भी अध्ययन किया है। यात्रा में ही चीनी भाषा का अध्ययन किया। एक दफा एक जपानी भाई तीन महीने यात्रा में रहे थे। उनके पास रोज एक घंटा जपानी सीखता था। फिर एक जर्मन लडकी आयी थी, उसकी मदद से जर्मन सीख ली। यात्रा में एक विदेशी भाई की मदद से मैंने 'एस्परेंटो' भी सीख ली थी। यह सब सीखने में शब्दों से संपर्क बनता है। और शब्दों की शक्ति का मुझे पूरा भान है। शब्द प्रकट होने के लिए शब्द को एक बाजू कर अंदर के तत्त्व का ग्रहण होना चाहिए। ऐसा ग्रहण शब्द को पचाये बगैर, मनन कर के उसका अनुभव लिये बगैर हो नहीं सकता, ऐसी मेरी श्रद्धा है।

वैद्यकशास्त्र

वैद्यकशास्त्र के ग्रंथों का भी मैंने अध्ययन किया है। पहला ग्रंथ मैंने 1923 में पढा। झंडा सत्याग्रह के समय मैं जेल में गया। उस समय कर्नाटक के वैद्य भी जेल में थे। उनके साथ मैंने वाग्भट पढा। ग्रंथ

संस्कृत में है तो अच्छी तरह समझ सका। फिर आगे चरक पढने के लिए लिया। उसकी भाषा सुंदर है। छोटे-छोटे वाक्य हैं। इतने प्राचीन काल में भी सूक्ष्म दृष्टि दिखायी दी। तीसरा ग्रंथ जो मैंने पढा, उसका नाम है शार्ङ्गधर। वह पतंजलि का ही है या और किसी का, कह नहीं सकते, यद्यपि वह पतंजलि के नाम पर है।

अर्थशास्त्र

कार्ल मार्क्स का प्रचंड ग्रंथ 'कैपिटल', जो कम्यूनिस्टों की मूल संहिता है, मैंने पूरा का पूरा पढ डाला। बाद में 1940 के व्यक्तिगत सत्याग्रह के समय जेल में एक कम्यूनिस्ट मित्र मुझसे बोले, मालूम होता है, आपने आज तक कम्यूनिस्ट साहित्य नहीं पढा। वह पढने जैसा है। मैंने कहा, जब मैं कातता रहता हूं, उस वक्त आप ही मुझे पढ कर सुनाइए। तब उन्होंने उनकी दृष्टि से चुना हुआ साहित्य मुझे पढ कर सुनाया। उससे पहले मार्क्स की 'कैपिटल' मैंने बाहर फुरसत से पढ ली थी। इसलिए उन्होंने पढ कर जो सुनाया, उसे समझने में मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। रोज घंटा-डेढ घंटा श्रवण होता था। कुछ महीने यह क्रम जारी रहा। उनका पढ कर सुनाया हुआ साहित्य चुना हुआ था, फिर भी उसकी पुनरुक्तियों की मेरे मन पर जबरदस्त छाप पडी। तब अगर हमारे तरुणों के मन इस पुनरुक्ति-दोष से उकताये नहीं, उलटे मंत्रमुग्ध हो गये, तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं।

इसके अलावा टालस्टाय, रस्किन आदि का साहित्य भी मैंने पढा।

मुझे किसी ने पूछा था, आपके प्रियतम ग्रंथ कौनसे? तो मैंने कहा था – गीता, ईसप की नीतिकथाएं और यूक्लिड की भूमिति। ईसप छोटी-छोटी कहानियां कहता है। गीता का एक-एक योग पांच-पचास श्लोकों में समाप्त होता है। और यूक्लिड एक भी वाक्य कम या बेसी कहता नहीं। यह मेरी अपनी रुचि है। मुझे 'क्षुद्र' वर्ग में पडनेवाले ग्रंथ पसंद आते हैं। यह 'क्षुद्र' शब्द मैंने वैदिक भाषा से लिया है। ऋग्वेद में अंत में छोटे-छोटे सूक्त आते हैं, जिनमें नासदीय, अघमर्षण आदि उत्तम सूक्तों का समावेश है। उनको वैदिक भाषा में 'क्षुद्र' कहते हैं। मुझे ऐसे 'क्षुद्र' ग्रंथ बहुत प्रिय हैं। ईशावास्योपनिषद, योगसूत्र, मांडुक्यकारिका ऐसे ही ग्रंथ हैं।

वाङ्मय-सेवा

हमारे जैसे मुक्त विहार करनेवालों को दुनिया में बांधनेवाली कोई चीज नहीं है। लेकिन वे भी प्रेम से बंधे रहते हैं। उन्हें यह उत्सुकता रहती है कि जो लोकहितकारी ज्ञान-संग्रह किया है उसे लोगों को दे कर ही मरें। जैसे-जैसे वृद्धावस्था आती है, मृत्यु का भान सामने होने लगता है, वैसे ही यह इच्छा और भी बढ जाती है कि यह सारा एक दफा समाज को दे दें और फिर अपने असली घर जायें, जहां जाने की बहुत ही आस लगी हुई है। सचमुच उसके स्मरणमात्र से हमें उत्साह होता है कि एक समय आयेगा, जब हम इस शरीर को फेंक कर प्रभु के पलने में बैठ जायें। लेकिन इतनी इच्छा रह गयी कि वह संचित, जो ज्ञान या अज्ञान कुछ भी हो, पर जिसका हमने ज्ञान समझ कर ही संग्रह किया है, समाज को दे कर ही छूटें।

भक्तिमार्ग के भागवत, तुलसीरामायण, तुकारामगाथा, ज्ञानेश्वरी आदि *ग्रंथ* बहुत उच्च कोटी के *ग्रंथ* हैं। मुझ पर उनका बहुत असर है। यहां तक कि मुझे अनुभव आया कि कभी मन उत्साहरहित हो गया – ऐसी स्थिति क्वचित् ही आयी – और उस समय तुकाराम का कोई अभंग या ज्ञानेश्वरी की चार ओवियां, या रामायण की चार चौपाइयां पढ लीं तो मन प्रसन्न हो गया। इतना उन ग्रंथों का मुझ पर प्रभाव है। तिस पर भी मैं मानता हूं कि इन ग्रंथों को पचा कर नया दूध तैयार कर समाज को देना चाहिए। जैसे गाय कडबा खा कर दूध देती है। ये ग्रंथ ऐसे ही पौष्टिक और मधुर हैं। उनका दूध बना कर लोगों को देना होगा। ऐसा न करें तो क्या होगा? भक्ति के साथ बहुत सारी ऐसी बातें आ जायेंगी, जो हमें न पचनेलायक और न भानेलायक होंगी। हमें वे कभी जंच नहीं सकेंगी। इसलिए उनका दूध बनाना ही पडेगा।

समन्वय के द्वारा साम्य

मेरे चिंतन का तरीका समन्वय का है। अंत में मैं साम्य की आशा रखता हूं। हमें जरूरत है समन्वय-पद्धति से सोचने की और उसके नतीजे में, अंत में साम्य की। इसलिए गीता को मैंने, उसमें जो शब्द आया है उसी के आधार से, साम्ययोग नाम दिया। **अभिधेयं परम साम्यम्** । प्राप्तव्य वस्तु साम्ययोग है और समन्वय पद्धति है। मेरे तत्त्वज्ञान की चर्चा में भी यही दृष्टि

रही है कि हम समन्वय-पद्धति से साम्ययोग तक पहुंचें। मेरा जो दार्शनिक साहित्य है, उसमें भी साम्ययोग फलित है और समन्वय पद्धति है।

मेरी मौलिक किताबें सारी मराठी में लिखी हुई हैं। क्योंकि यद्यपि मैं हिंदी, उर्दू आदि जानता हूं, मराठी पर मेरा जो काबू है, वैसा दूसरी भाषाओं पर नहीं है।

सन् 1923 में 'महाराष्ट्र-धर्म' मासिक पत्रिका में **'उपनिषदांचा अभ्यास'** (उपनिषदों का अध्ययन) शीर्षक से चार लेख मैंने लिखे थे। उसी की आगे पुस्तक बनी। मेरी दृष्टि से उपनिषद एक प्रातिभ दर्शन है।* मेरे जीवन में गीता ने मां का स्थान लिया है। वह तो उसी का है। परंतु मैं यह जानता हूं कि उपनिषद मेरी मां की मां है। उस श्रद्धा से उपनिषद का मनन-निदिध्यासन सतत वर्षों तक मेरा चला। उसी का एक बिंदु इस पुस्तक में है। वह मेरा प्रथम लेखन है। अत्यंत जटिल ग्रंथ है, फिर भी गहरा है। आज भी उसमें खास फर्क करने की जरूरत मुझे महसूस नहीं होती। आज वह लिखी जाती तो उतनी जटिल नहीं लिखी जाती, लेकिन मेरे विचार में कोई फर्क नहीं हुआ है। बुद्ध भगवान का उपनिषद के अध्ययन के साथ वास्तव में कोई ताल्लुक नहीं है। लेकिन उस पुस्तक की समाप्ति धम्मपद के एक वचन से की है। उसी तरह 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' में भी बौद्धों और वेदों के समन्वय का विचार रखा है।

सन् 1923 से 1944 तक एक विचार मेरा हुआ, जिसमें बौद्धों का हमें सतत स्मरण रहा। और सन् 1923 से 1960 तक सतत यह विचार मन में रहा कि वेदांत और बौद्ध दर्शन का समन्वय होना चाहिए। बौद्ध दर्शन और वेदांत से मेरा मतलब है, हिंदुस्तान में जितने भी दर्शन साधना के विषय में परमेश्वर को अलग रख कर सोचते हैं वे सब एक ओर और परमेश्वर की मदद अनिवार्य मान कर जो दूसरे दर्शन बने हैं वे दूसरी ओर। एक आत्मा पर निर्भर है, दूसरा परमेश्वर की कृपा का आवाहन करनेवाला है। दोनों दर्शनों का समन्वय होना चाहिए, तभी समाधान होगा तत्त्वज्ञान का और तभी समाधान होगा जीवन-विचार का। इसलिए जितने ग्रंथ मैंने लिखे हैं, उनमें वाद-समाप्ति है। **'गीता-प्रवचन'**

---

* विनोबाजी ने अठारह उपनिषदों में से किया हुआ चयन 'अष्टादशी' नाम से प्रकाशित है – सं.

देखिए, उसमें वाद मिलेगा नहीं। उसमें तात्त्विक विचारों का आधार छोडे बगैर, लेकिन किसी वाद में न पडते हुए, रोज के कामों की बातों का ही जिक्र किया गया है।

* *

'साम्यसूत्र' मेरा लगभग आखिरी ग्रंथ है। साम्यसूत्र में भी मेरी दृष्टि समन्वय की ही रही है। गीता का साम्ययोगपर विवरण गीता-प्रवचन में लौकिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। बहुत दिनों से सोचता था कि उसे संस्कृत सूत्रों के रूप में गूंथा जा सके तो गूंथूं। उडीसा में, कोरापुट जिले के घने जंगल में भूदान-यात्रा महीनों तक चली। उस समय इन सूत्रों को गूंथने (रचने) की वृत्ति हुई। गीता-प्रवचन में ऐसे ही सूत्र मराठी में दिये गये हैं। परंतु ये संस्कृत सूत्र अधिक व्यापक अर्थ का समावेश करनेवाले हैं। मुझे ये चिंतन में उपयोगी पडते हैं। बीच-बीच में चिंतन में उनका लगातार मंथन चलता रहता है। वेद-उपनिषद आदि के सूचक शब्दों से वे उपस्कृत हैं। उसमें मैंने एक सूत्र लिखा है – **शुकजनकयोः एकः पंथाः**– शुक और जनक का मार्ग एक है। इन्हीं दो व्यक्तित्वों को ले कर गीतारहस्य में झगडा पेश किया गया है। संन्यासमार्ग से कर्मयोग श्रेष्ठ, ऐसा बताया है। वास्तव में शुक और जनक का रास्ता एक ही है। शुक-जनक की एकता जब हम ध्यान में लेंगे तभी गीता का रहस्य हमारे हाथ में आयेगा।

प्रार्थना-रस के हेतु

मैंने कुछ किताबें तो प्रार्थना को रसमय करने के हेतु से भी लिखी हैं। स्वराज्य के आंदोलन में सारे हिंदुस्तान में हजारों सत्याग्रही स्त्री-पुरुष रोज सायंप्रार्थना में भक्तिपूर्वक स्थितप्रज्ञ के लक्षण गाते थे। आज भी कई जगह इनका समावेश प्रार्थना में किया जाता है। हम भी रोज शाम को स्थितप्रज्ञ के श्लोक प्रार्थना में बोलते हैं। उन श्लोकों पर मैंने स्वतंत्र भाष्य किया है। सन् 1944 के जाडों में सिवनी जेल में कुछ लोगों के सामने गीता के स्थितप्रज्ञ-लक्षण पर मेरे व्याख्यान हुए। उसी की यह पुस्तक बनी। तीस वर्षों के निदिध्यास से जो अर्थ स्थिर हुआ, उसका विवरण उसमें है – **'स्थितप्रज्ञ-दर्शन'**।

* *

सुबह प्रार्थना में हम ईशावास्य उपनिषद का पाठ करते हैं। उस पर मैंने **'ईशावास्य वृत्ति'** लिखी है। वह पुस्तक बापू की आज्ञा पर लिखी गयी है। जब मैं ससून अस्पताल में गांधीजी से मिलने गया तब उन्होंने ऐसी इच्छा प्रकट की थी कि ईशावास्य पर मैं कुछ लिखूं। और मैंने उसे मंजूर भी कर लिया था। लेकिन तीव्र कर्मयोग के उस जमाने में उतनी फुरसत निकलना संभव नहीं था। आगे त्रावणकोर की हरिजनयात्रा के बाद गांधीजी ने मुझे आज्ञा ही दी कि अपने मन को संतोष देनेलायक जब तुम लिख सकोगे तब लिखना, पर अभी मेरे उपयोग के लायक कम से कम एक छोटी-सी टिप्पणी तो लिख ही दो। उसके मुताबिक मैंने एक छोटी-सी टिप्पणी लिख कर उनको दी। वह टिप्पणी प्रकाशन के लिए नहीं थी। लेकिन मैं जेल में था तब बाहर के मित्रों ने उसको प्रकाशित कर डाला और उसकी एक प्रति अचानक जेल में आ पहुंची। तब मैं सचेत हो गया और दो महीने उसी विषय का चिंतन कर के एक छोटा-सा भाष्य, जिसको मैं 'वृत्ति' नाम दे रहा हूं, लिख लिया। पूर्वाचार्यों ने जो विवरण किया है, उससे इसमें बहुत जगह भिन्नता दिखायी देनेवाली है, लेकिन इसमें विरोध जैसा कुछ नहीं है। वचन को अर्थ का भार नहीं होता। और विचार उत्तरोत्तर आगे बढा तो पूर्वाचार्यों के परिश्रम की उसमें सार्थकता ही है। भिन्न अगर कुछ भी कहने का न हो तो फिर लिखने की आवश्यकता ही क्या है? ईशावास्य उपनिषद में साधक की समग्र साधना थोडे में आ गयी है, इसलिए प्रातःस्मरण के लिए वह बहुत उपयोगी है।

ईशावास्य के चिंतन में मेरे जीवन के कई वर्ष व्यतीत हुए है। ईशावास्यवृत्ति में उस चिंतन का सार कम से कम शब्दों में देने की कोशिश है। गांधीजी की आज्ञा न होती, तो शायद इतना भी न बन सकता और वह वृत्ति अंतर में ही लीन हो जाती। लेकिन उनकी आज्ञा समर्थ थी, जिसने यह लिखवाया। इसलिए मैं सहज ही इसके कर्तृत्व से मुक्त हुआ हूं।

ईशोपनिषद मेरे हृदय को अवर्णनीय समाधान देती है। मेरी सुबह की नित्य प्रार्थना उसी से होती है। उसके कई मंत्र गूढवत् भासित होते हैं, लेकिन मेरे साथ वे खुले दिल से बात करते हैं, अपना हार्द मेरे सामने प्रकट करते हैं। उसी को मैंने टूटी-फूटी भाषा में व्यक्त करने का प्रयास किया है।

* *

अभंग-व्रतें यह मेरी पुस्तक गांधीजी की मंगल-प्रभात पुस्तक का पद्यानुवाद है। मंगल-प्रभात के विचारों का सूत्र कायम रखकर पूर्णता के लिए बचे हुए विचारों के अंश भी उसमें गूंथ लिये हैं।

गांधीजी ने बहुत लिखा है। उसमें काफी मौलिक साहित्य भी है। फिर भी उस सबका सार मंगल प्रभात है। उन्होंने आज की पिढी के लिए जो लिखा है वह सारा इतिहास बनेगा, परंतु जो थोडा लेखन निरंतर उपयोग का माना जायेगा, उसमें मंगल-प्रभात शिरोमणि सिद्ध होगा। उसमें वर्णित व्रत नये नहीं हैं। परंतु उसके पीठे की उनकी दृष्टि – विचार मौलिक और अभिनव है।

* *

रामनाम-संबंधी गांधीजी के विचारों का संग्रह ठीक उसी समय मेरे हाथ आया। जब मुझे उसकी जरूरत थी (1950)। मानो मेरे लिए बापू ने अपना संदेश इस लेख के रूप में दिया। मैं डेढ-दो वर्षों से भारतयात्रा कर रहा था। प्रवास का मुझे उतना विशेष अनुभव न होने से अनियमितता हो गयी और जेल में मुझे जो पेटदर्द शुरू हुआ था, उसने फिर से जोर किया। इस तरह मानो ईश्वर ने मुझे प्राकृतिक उपचार और राम-नाम का प्रयोग करने का अवसर दिया। मैंने नम्रतापूर्वक प्रवास का कार्यक्रम स्थगित किया और आत्मसंशोधन में लग गया। उस समय भारतन् कुमारप्पा द्वारा किया गया बापू के रामनाम-संबंधी विचारों का संग्रह मेरे हाथ आया। मुझे लगा, धन्वन्तरी ने मेरे रोग के लिए दिव्यवल्ली ही भेजी और मैं उसका आस्था से सेवन करने लगा। उन विचारों को पचाने के लिए मैंने जो चिंतन किया, वही लेख के रूप में 'सर्वोदय' (पत्रिका) में हिंदी में व्यक्त किया। मैं प्रायः अपना सारा वाङ्मय मूल मराठी में ही लिखा करता हूं, क्योंकि वही भाषा मुझे आती है। लेकिन यह लेख हिंदी में ही लिखा। कारण, इन विचारों की आधारभूत पुस्तक (गांधीजी की 'रामनाम' – सं.) हिंदी थी। मेरा वही चिंतन पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ – **'रामनाम : एक चिंतन'**।

अक्षरराशि वेद

हमने हमारी पदयात्रा सामवेद के गायन के साथ चलायी। चलते-चलते जोर से बोलते –

वसंत इन्नु रंत्यो, ग्रीष्म इन्नु रंत्यो
वर्षाण्युनु शरदो हेमंतः शिशिर इन्नु रंत्यः

वसंत रमणीय है, ग्रीष्म रमणीय है
वर्षा-शरद-हेमंत-शिशिर रमणीय हैं

यात्रा में यह गान बहुत चला। फिर जब आसमान से बहुत बारिश चलती थी तब चलता था – **स नो वृष्टिं दिवस्परि...** ऐसा वेद का आनंद लेते-लेते हमारी यात्रा चली।

हिंदुस्तान के साहित्य में सबसे मुख्य असर मुझ पर रहा वेद-वेदांत-गीता का (वेदांत यानी उपनिषद); यद्यपि एक ही ग्रंथ बताना हो तो मैं निःसंशय गीता को चुनूंगा। मैंने वेदों का अध्ययन भी सालों तक किया है। व्यावहारिक ज्ञान के लिए अनेक ग्रंथ पढने पडते हैं। लेकिन आध्यात्मिक लाभ के लिए एक ग्रंथ बस होता है। एक ग्रंथ, जिससे हमको पोषण मिलता है, बार-बार पढकर कस लेना चाहिए। वेद का मेरा अध्ययन 1918 से 1969 तक चला। केवल देखने-पढने से तो नहीं होता। चीज पुरानी है, तो बरसों एक-एक शब्द के पीछे जाना पडा। पचास साल अध्ययन हुआ। चार-साढे चार हजार मंत्र तो कंठस्थ हो गये। उन्हीं में से 1319 मंत्र चुन लिये, जिनकी **'ऋग्वेद-सार'** पुस्तक बनी। 50 साल के अध्ययन का यह परिणाम है।

वेद के विषय में कहा गया है कि वेद अक्षरराशि हैं। शब्दराशि भी नहीं। उसका आप पदच्छेद करते हैं तो वह आपका भाष्य होगा। जिसने पदच्छेद किया उसने भाष्य किया। भाष्य प्रमाण नहीं, अक्षर प्रमाण है। तर्जुमा तो बिलकुल ही काम का नहीं। 'अग्नि' का अंग्रेजी में क्या तर्जुमा करेंगे? अग्नि यानी 'फायर' और वह्नि यानी 'फायर'। लेकिन वेद का जो पहला मंत्र है, **अग्निमीळे पुरोहितम्,** वहां अग्नि की जगह वह्नि नहीं चलेगा। इसलिए तर्जुमा कैसे करेंगे? तर्जुमा तो कर ही नहीं सकते, और जितना भाष्य है वह वेद नहीं, पदच्छेद भी वेद नहीं, संहिता यानी अक्षर वेद है। मैं व्याख्या करूंगा तो वह मेरा वेद होगा, मैं पदच्छेद करूंगा तो वह मेरा वेद होगा। इसलिए मैंने इतना ही किया कि जितने मंत्र मुझे कंठस्थ थे, उनमें से थोडे-से लेकर इकट्ठा प्रकाशित किये। ऋग्वेद में 10,558 मंत्र हैं। मैंने उसका अष्टमांश (1319) किया – अष्टमांश काढा। इतना प्रकाशित कर दिया (सन् 1969 में), ताकि पठन के लिए आसान हो।

आचार्यों की सेवा में

शांकर विचार का सबसे बडा आकर्षण मुझे यही रहा कि साधना की कल्पना के बारे में शांकर विचार में कहीं भी संकुचितता नजर नहीं आती। किसी भी साधना का बोझ शंकराचार्य नहीं होने देते। साधना छुटकारे के लिए है, अटके रहने के लिए नहीं।

शंकराचार्य का बहुत बडा ऋण मेरे सिर पर है। देहभावना से मुक्त होना – यही इस ऋण को चुकाने का उपाय है। वह प्रक्रिया मेरी सतत चालू है और ईश्वरकृपा से वह पूर्ण होगी, ऐसा विश्वास है। बीच में सबको ही प्रसाद बांट देना, यह भी ऋणमुक्ति का स्थूल उपाय हो सकता है। तदर्थ एक प्रयत्न **'गुरुबोध'*** (शंकराचार्य के पद्य, स्तोत्र आदि का चयन) के चुनाव का किया। केरल की भूदानयात्रा में, कालडी ग्राम में, जो शंकराचार्य का जन्मस्थान है, 'गुरुबोध' का प्रकाशन हुआ (सन् 1957); यानी आचार्य के चरणों में समर्पण ही हुआ।

* *

मैंने मनु-स्मृति का भी चयन किया। शंकराचार्य के उपदेशों का जो सार है उसे मैंने गुरुबोध नाम दिया। इसका नाम मनुबोध नहीं, **'मनु-शासनम्'** रखा। दोनों में फर्क है। शंकराचार्य का विचार 'शासन' का नहीं, 'बोध' देने का है। उसमें आप और बोध देनेवाला, दोनों मुक्त हैं। अगर आपको बोध पसंद आया तो उस पर अमल करें, न आया तो छोड दें। मनु का वाक्य 'शासन' है, यानी आज्ञा है। मनुस्मृति में पिता के, पुत्र के, भाई के, राजा के, सबके धर्म बताये हैं। इस चयन को 'शासन' नाम क्यों दिया, इस सिलसिले में यह बात!

मनु ने जो ग्रंथ लिखा है वह समाजशास्त्र का है। इसलिए मनु के वाक्य आज वैसे के वैसे नहीं चलेंगे, बल्कि कुछ तो विरुद्ध भी पडेंगे। इसलिए उनका चुनाव बहुत विवेक से करना होगा। मैंने ऐसा ही किया है। जैसे, मनु की आज्ञा का असर मेरे चित्त पर भी था और बचपन में मनु की आज्ञा के अनुसार ही मैंने जूता पहनना छोड दिया था। बडौदा की कडी धूप में जूता न पहनने से आंखें बिगड गयीं। संभव है, मनु के जमाने में विद्यार्थी आश्रम में रहते होंगे तो जूते की जरूरत नहीं पडती

* बाद में 'गुरुबोध' का भी चयन कर 'गुरुबोध-सारः' प्रकाशित किया गया – सं.

होगी। तो वह वाक्य मैंने मेरे चयन में नहीं लिया। इस प्रकार विवेक से चुनाव करना पडता है।

इन दिनों मनु पर बहुतों का रोष है। वह वाजिब भी है। क्योंकि मनुस्मृति में कई परस्परविरोधी विचार पडे हैं। मैं नहीं मानता कि वे सब मनु के हैं। उसमें बाद में अनेक प्रकार के क्षेपक जरूर हुए हैं। जिन वचनों पर गुस्सा है, वे विषमता के वचन हटाने पर भी मनु का कुछ बिगडता नहीं। क्योंकि मनु को विषमता नहीं, व्यवस्था चाहिए। यद्यपि जो व्यवस्था की उसमें विषमता का प्रवेश हुआ, जो नहीं होना चाहिए था, और उससे देश का नुकसान हुआ, मनु का उद्देश्य समता की ओर ले जाने का था। वह अंश मैंने हटा दिया है। ऐसा अंश रखा है, जो मनु के मूल उपदेश के लिए अनिवार्य था।

दिलों को जोडने के लिए

बरसों से भूदान के निमित्त मेरी पदयात्रा चली, जिसका एकमात्र उद्देश्य दिलों को जोडने का रहा। बल्कि मेरी जिंदगी के कुल काम दिलों को जोडने के एकमात्र उद्देश्य से प्रेरित हैं। साइन्स ने दुनिया छोटी बनायी और वह सब मानवों को नजदीक लाना चाहती है। ऐसी हालत में मानवसमाज फिर्कों में बंटा रहे, हर जमाअत अपने को ऊंचा समझे और दूसरों को नीचा समझे, यह कैसे चलेगा? हमें एक-दूसरों को ठीक से समझना होगा।

मेरी **'कुर्‌आन-सार'** (कुर्‌आन शरीफ का चयन) पुस्तक उस दिशा में एक छोटा-सा प्रयत्न है। इसी उद्देश्य से धम्मपद की पुनर्रचना मैंने की। और गीता के बारे में मेरे विचार गीता-प्रवचनों के जरिये लोगों के सामने पेश किये। **'ख्रिस्तधर्म-सार'** (न्यू टेस्टामेंट का चयन) के प्रकाशन के पीछे भी यही प्रेरणा काम कर रही थी।

धम्मपद का परिचय तो बचपन में ही हुआ था। सूक्ष्म अध्ययन भी किया। तो धम्मपद के वचनों का एक व्यवस्थित क्रम मेरे मन में स्थिर हुआ। आज की धम्मपद की रचना कुछ प्रकीर्ण या सुभाषितसंग्रह जैसी है और उसमें उसका समन्वित दर्शन छिप-सा गया है। बहुत दिनों से मेरा विचार था कि धम्मपद का जो क्रम मेरे मन में बैठ गया है, उसे लोगों के सामने रखूं। यह एक साहस ही था। लेकिन नम्रतापूर्वक वह साहस मैंने

किया। और **'धम्मपद नवसंहिता'** पुस्तक के रूप में वह प्रकाशित किया।

* *

मेरे जीवन में मुझे अनेक समाधान प्राप्त हुए हैं। उसमें आखिरी, अंतिम समाधान, जो शायद सर्वोत्तम समाधान है, वह है 'समणसुत्तं'।

मैंने कई दफा जैनों से प्रार्थना की थी कि जैसे वैदिक धर्म का सार गीता में सात-सौ श्लोकों में मिल गया है, बौद्धों का धम्मपद में मिल गया है, जिसके कारण ढाई हजार साल के बाद भी बुद्ध का धर्म लोगों को मालूम होता है, वैसे जैनों का होना चाहिए। उनके अनेक पंथ हैं और ग्रंथ भी अनेक हैं। जैसे बाइबिल है या कुरान है – एक ही ग्रंथ है, वैसा जैनों का नहीं है। मैं बार-बार उनसे कहता रहा कि आप सब लोग, मुनिजन इकट्ठा होकर चर्चा करें और जैनों का एक उत्तम, सर्वोत्तम धर्म-सार पेश करें।

आखिर वर्णीजी को मेरी बात जंच गयी। वे अध्ययनशील हैं। बहुत मेहनत करके उन्होंने जैनधर्म-सार की एक किताब प्रकाशित की। उसकी हजार प्रतियां निकाली गयीं और जैन समाज के तथा जैन समाज के बाहर के भी विद्वानों के पास भेजी गयीं। विद्वानों के सुझावों पर कुछ गाथाएं हटाना, कुछ जोडना यह सारा करके, वह भी प्रकाशित की जिण्णधम्मं नाम से। फिर मेरे आग्रह पर चर्चा करने के लिए एक संगीति बनी। उसमें मुनि, आचार्य और दूसरे विद्वान श्रावक मिलकर लगभग तीन-सौ लोग इकट्ठा हुए। बार-बार चर्चाएं हुईं। फिर उसका नाम भी बदला, रूप भी बदला, आखिर सर्वानुमति से 'श्रमण-सूक्तम्' जिसे अर्धमागधी में **'समणसुत्तं'** कहते हैं, बना। एक बहुत बडा कार्य हुआ, जो हजार-पंद्रह-सौ साल से हुआ नहीं था। उसका निमित्तमात्र 'बाबा' बना, लेकिन मुझे तो पूरा विश्वास है कि यह भगवान महावीर की कृपा है।

* *

उडीसा की भूदान-यात्रा में भक्तशिरोमणि जगन्नाथदास द्वारा रचित भागवत का अध्ययन करने का अवसर मिला। अध्ययन के लिए उनके एकादशस्कंध को चुन लिया। यात्रा के बीच घंटा-आध घंटा रुककर किसी खेत में एकांत जगह में बैठकर सब यात्री मिलकर सहअध्ययन

किया करते। तुलना के लिए मैं मूल संस्कृत और एकनाथ का हरिरंग में रंगा विवरण (भागवत श्रीधर-टीकासहित) देख लिया करता था। उस अध्ययन में से '**भागवत-धर्म-सार**' हाथ में आया।

* *

हमारी कश्मीर-यात्रा के आरंभ में कुछ दिन जपुजी का सामूहिक अध्ययन किया जाता था। उस समय जपुजी पर जो व्याख्यान मैंने दिये, उनका संग्रह करनेवाली पुस्तक '**जपुजी**' चार साल बाद प्रकाशित की गयी।

जपुजी केवल सिक्खों के लिए नहीं है, कुल दुनिया के लिए है, उस दृष्टि से उसका भाष्य किया है। गुरु नानक को किसी एक संप्रदाय में बांध लेना ठीक नहीं है। वे तो इधर गंगा-जमुना के किनारे से लेकर उधर भुवनेश्वर-जगन्नाथपुरी तक घूमे हैं। उन्होंने जपुजी में कहा है, हम सच्चे बनेंगे तभी ध्यान का, चिंतन का उपयोग होगा। भगवान ने हमारे लिए जो लिख रखा है उसके अनुसार, उसके हुक्म के मुताबिक, उसकी सम्मति पर, उसके आदेश पर चलना, नानक कहते हैं, यही सच्चा बनने का रास्ता है। उनकी कुल साधना '**निरभउ निरवैरु**' इन दो शब्दों में बता सकते हैं। मानव के सामने आज जो समस्याएं पेश हैं, उनका हल इन दो शब्दों में रहा है। इसके साथ मैं हमारे काम के लिए और एक शब्द जोड देता हूं, 'निष्पक्ष'। यह भी जपुजी में सूचित है, **मंनै मगु न चलै पंथु** – मनन से मनुष्य पंथों के रास्ते पर नहीं चलेगा। शांति-सेना के अध्ययन के लिए इसमें अच्छी सामग्री मिलेगी, इस ख्याल से पुस्तक प्रकाशित करने की मैंने इजाजत दे दी।

संत-प्रसाद

असमीया के आध्यात्मिक साहित्य का मेरा जो बहुत ही थोडा अध्ययन हुआ है, उसमें नामघोषा ने मुझे विशेष आकर्षित किया। असमीया साहित्य में तो शायद नामघोषा अद्वितीय ही है। भारतीय भाषाओं में भी उसका अपना एक स्थान रहेगा। भगवन्नामस्मरण को मुख्य केंद्र बनाकर उसके इर्दगिर्द अनेक जीवनमूल्यों को माधवदेव ने सूचक ढंग से ग्रथित किया है। उस पुस्तक को मैंने अनेक बार पढा। उसके कई वचन मेरे कंठ में बैठ गये। उसकी संगति में मुझे मित्रसंगति का आनंद

मिला। उसका मैंने अपने लिए एक संक्षेप (**'नामघोषा-सार'**) कर लिया, जो सब साधकों के उपयोग के लिए प्रकाशित करने का सोचा गया।

* *

भूदान-यज्ञ के बारह वर्ष के तप के बाद हम आये रायपुर सम्मेलन में। बीच में दो-तीन साल सर्वोदय सम्मेलन में मैं उपस्थित नहीं रह सका था। रायपुर में सुलभ ग्रामदान, ग्रामाभिमुख खादी और शांति-सेना की त्रिमूर्ति-उपासना का सम्मेलन ने निर्णय किया, तो मुझे याद आया वचन विनय-पत्रिका का – **बंदौ राम-लखन-बैदेही जे तुलसी के परम सनेही ।** और उसी धुन में मैं मस्ती में चला आ रहा था सेवाग्राम के लिए, जहां मुझे इजहार करना था खादी की नयी योजना का। रास्ते में दरचुरा नामक छोटे-से गांव (म. प्र.) में ता. 26.1.64 के पुण्य-दिन प्राथमिक शाला के विद्यार्थियों ने मुझे विनय-पत्रिका भेंट दी, जिस पर लिखा था – "विनोबाजी को सप्रेम समर्पित।" अब मेरे आनंद का पार नहीं रहा। शाला के विद्यार्थी इन दिनों कुछ असंयत और अश्रद्धालु-से हो गये हैं। ऐसी हालत में उनकी तरफ से विनय-पत्रिका की मेरे लिए भेंट मुझे अपूर्व प्रसाद मालूम हुआ। तब पुनः तीसरी बार उसका अध्ययन शुरू किया। दस महीने उस प्रेम-सुधा-सागर में मैं निमग्न रहा। परिणामस्वरूप मुझे प्रेरणा हुई कि विनय-पत्रिका का एक संक्षिप्त संस्करण सहधर्मियों के लिए प्रकाशित करूं। इस संचयन को मैंने नाम दे रखा है – **'विनयांजलि'**।

* *

मानसिक संशोधन के काम में तुकाराम ने मेरी बहुत मदद की है। मेरी मां के मधुर कंठ से मैंने तुकाराम के अभंग सुने हैं। उस स्मरण से आज भी मेरी आंखें गीली हो जाती हैं। तुकाराम के मेरी रुचि के सौ-एक अभंग चुनकर किंचित् विवरण के साथ पाठकों को देने की एक योजना मेरे मन में थी। महाराष्ट्र-'धर्म' साप्ताहिक में इस प्रकार एक-एक अभंग दिया गया। परंतु वह योजना पूर्ण हुई नहीं। जो प्रकाशित हुआ उसकी पुस्तक बनी **'संतांचा प्रसाद'**। बाद में तुकाराम के भजनों का मेरा किया हुआ चयन भी प्रकाशित किया गया, **'तुकारामांचीं भजनें'**।

* *

एकनाथ के व्यक्तिगत अनुभवों को खोजने के उद्देश्य से मैं उनके अभंगों की तरफ मुडा। उनकी 'गाथा' देख ली। धर्म और तत्त्वज्ञान का जो कुछ वाचन मैंने किया है, वह सारा मेरे अपने चिंतन की मदद के लिए, केवल आत्मसमाधान के लिए किया है। एकनाथ की गाथा के अनुभव-रत्नों का चयन भी मैं मेरे अपने उपयोग के लिए धीरे-धीरे वर्षों करता आया। उसका एक संग्रह 1941 में, मैं जेल में था तब प्रथम बार प्रकाशित किया गया – **'एकनाथांची भजनें'**। फिर दूसरे संस्करण के समय मैं पुनः बारीकी से उसे देख गया। कुछ अभंग निकाल दिये और उनकी जगह दूसरे अभंग लिये। संकलन में भी किंचित् फरक किया। अब चयन और संकलन, दोनों मेरे मनपसंद उतरे हैं।

कभी-कभी चयन करने के पीछे हेतु यह होता है कि उससे पाठकों में रुचि पैदा हो और मूल संपूर्ण कृति देखने की उन्हें प्रेरणा हो। मेरा उद्देश्य ठीक उलटा है। मेरा उद्देश्य यह है कि इस चुनाव को आत्मसात् करने पर साधक का काम पूरा हो जाये, उसे मूल विशाल विस्तार में संचार करने की जरूरत न रहे; जो मेहनत हमको करनी पडी वह उसको न करनी पडे। इसलिए चुनाव होने पर भी वह सांगोपांग है। निःसंदेह इस चुनाव से एकनाथ को समाधान होगा।

* *

नामदेव महाराष्ट्र के महान प्रचारक! उन्होंने 'विठ्ठल' नाम हिंदुस्तानभर में प्रसिद्ध किया। उन्होंने पंजाबी भाषा में भी पद्यरचना कर रखी है, जिसका कुछ भाग सिक्खों के *'ग्रंथसाहब'* में समाविष्ट है। कुछ समय वे पंजाब में रहे थे। नामदेव 'शतकोटि' उर्फ आशु कवि थे इसलिए उनके अभंगों की प्रमाणभूत गाथा ही उपलब्ध नहीं है। इसलिए नामदेव के अभंगों का चयन करने में बहुत ही परिश्रम करना पडा। फिर मैं ज़ेल में था तब मालूम हुआ कि जिस गाथा से यह चुनाव किया था, वह गाथा ही खो गयी है। तो संपूर्ण चुनाव पुनः नये सिरे से करना पडा। बाद में वह खोयी हुई पुस्तक मिल गयी, तो दोनों चुनावों का मिलान कर देखने का लाभ मिला। इतनी सारी मेहनत का फलित है उनके भजनों के चयन का अमृतमधुर संग्रह **'नामदेवांची भजनें'**। निष्काम हरिप्रेम से ओतप्रोत यह वाणी साधकों की चित्तशुद्धि का साधन बन सकती है।

* *

समर्थ रामदास ने बहुत कुछ लिख रखा है, परंतु उनके दासबोध और 'मनाचे श्लोक', ये दो शिरोमणि ग्रंथ हैं। 'मनाचे श्लोक' तो मुझे कंठस्थ ही हैं। दासबोध के मेरे असंख्य पारायण हुए। अनेक पारायणों के बाद दासबोध का जो सार मेरे हाथ में आया उतना बोधबिंदु नाम से मैंने अपने लिए चुनकर रखा था। मनाचे श्लोक रामदास की अपौरुषेय वाणी है। उनकी अभंगों की गाथा को मैं बार-बार याद करता रहा हूं। उसका एक सहज संग्रह मेरी स्मृति में संगृहीत हो गया। इस सबको **'रामदासांची भजनें'** नाम से पुस्तकरूप में प्रकाशित किया गया।

* *

'ज्ञानदेवांची भजनें' और उसकी चिंतनिका में मैंने जितना चिंतनांश उंडेला है उतना गीताई तथा गीताई-कोश छोडकर अन्य किसी भी ग्रंथ में नहीं उंडेला है। ज्ञानदेव के अभंगों का उससे अच्छा चयन मैं कर नहीं सकूंगा और उस चिंतनिका में ऐसी मधुरता है कि वह कभी बासी हो ही नहीं सकती।*

हर भजन की चिंतनिका एक ही तरह की नहीं है। कहीं सविस्तर भाष्य है, कहीं संक्षिप्त सार, कहीं सरल अनुवाद, तो कहीं स्वैर संचार। चिंतन करनेवाले को जिस भाव का स्फुरण हुआ वह उसने अनिर्बंध पेश किया। हर कोई अपनी जीवनशुद्धि को ध्यान में रखकर स्वतंत्र अर्थ करें, यही इच्छा। चिंतनिका केवल दिशा सुझानेवाली है।

साधना के क्रम के विषय में मेरी जो दृष्टि है, उसी के अनुसार यह रचना है। ज्ञानदेव को वह कहां तक पसंद आयेगी, यह बात तो इस पर निर्भर है कि मैं उनसे कितना एकरूप हुआ हूं! परंतु मुझे उसकी फिक्र नहीं है। मैं इतना जानता हूं कि ज्ञानदेव से मैं जितना एकरूप हुआ हूं उतना अन्य किसी से नहीं हुआ।

वाचा-ऋण के कारण

चिंतन में से प्रयोग और प्रयोग में से चिंतन, ऐसा मेरे जीवन का गठन हो गया है। इसी को मैं निदिध्यास कहता हूं। निदिध्यास में से

---

* स्व. दामोदरदास मूंदडा ने, जो इसको लिख लेते थे, कहा है – 'लिखवाते-लिखवाते विनोबा भावसमाधि में ऐसे लीन हो जाते कि उन्हें इस दुनिया का कुछ भान ही न रहता। कितनी ही देर तक सतत अश्रुधाराएं बहती रहतीं' – सं.

विचार स्फुरित होते रहते हैं। साधारणतया उनको लिख रखने की मेरी वृत्ति नहीं होती। परंतु मन की एक विशिष्ट अवस्था में ऐसी वृत्ति उदित हुई थी। सबके सब विचार लिख नहीं रखता था, कुछ थोडा लिखता था। उसी की **'विचार-पोथी'** बनी। सौभाग्य से यह प्रेरणा ज्यादा दिन टिकी नहीं। थोडे ही दिन में समाप्त हुई।

विचार-पोथी छापने की कल्पना नहीं थी। तथापि जिज्ञासुओं ने उसकी प्रतिलिपि करना शुरू कर दिया। इस प्रकार बारह वर्षों में करीब 150 प्रतिलिपियां बनी होंगी। लेकिन सांप्रत काल में अशुद्ध लेखन और खराब अक्षरों का प्रचार होने के कारण और सभी प्रतियों को मूल प्रति का आधार न मिलने के कारण प्रतियों में अपपाठ दाखिल होते गये। परिणामतः कुछ वचन अर्थहीन बन गये। इसलिए उन्हें छापना पडा।

ये विचार सुभाषित के जैसे नहीं हैं। सुभाषित को आकार होता है। ये लगभग निराकार हैं। वे सूत्र के स्वरूप के भी नहीं हैं। सूत्र को तर्कबद्धता चाहिए। ये मुक्त हैं। फिर इनको क्या नाम दें? मैं इनको 'अर्धवट पुटपुटणें' (अस्फुट आवाज में बोलना) कहता हूं। इन विचारों को पूर्वश्रुतियों का आलंबन तो है, तथापि वे अपने ढंग से निरालंब ही हैं। ज्ञानदेव की परिभाषा का उपयोग करना क्षम्य माना जाये तो, यह एक वाचा-ऋण चुकाने का प्रयत्न है।

'स्वराज्य-शास्त्र' की रचना

'स्वराज्य-शास्त्र' 1940 के कारागृहवास में लिखी हुई मेरी पुस्तक है। वह एक स्वतंत्र दर्शन ही है।

'राज्य' एक बात है और 'स्वराज्य' दूसरी बात है। राज्य हिंसा से प्राप्त किया जा सकता है, परंतु 'स्वराज्य' बिना अहिंसा के असंभव है। इसलिए जो विचारशील हैं, वे 'राज्य' को नहीं चाहते, बल्कि यह कहकर तडपते रहते हैं कि चलें, हम सब स्वराज्य के लिए यत्न करें। **न त्वहं कामये राज्यम्** उनका निषेधक और **यतेमहि स्वराज्ये** विधायक राजनैतिक उद्घोष होता है। स्वराज्य वैदिक परिभाषा का शब्द है। उसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है – स्वराज्य यानी प्रत्येक व्यक्ति का राज्य, यानी ऐसा राज्य जो हरएक को 'अपना' लगे, यानी सबका राज्य, अर्थात् 'रामराज्य'। स्वराज्य का शास्त्र नित्य वर्धिष्णु है, इसलिए उसकी पद्धति

देशकालानुसार बदलनेवाली है। परंतु उसके मूलतत्त्व शाश्वत हैं। उन शाश्वतों के आधार पर इसकी रूपरेखा खींची गयी है।

राजनीति को निकाल देना और लोकनीति को लाना, हमारी यह तीव्रता है। 'स्वराज्य-शास्त्र' उस 'लोकनीति का व्याकरण' है। स्वल्पाक्षर-योजना के कारण उसका अर्थ खुलने के लिए मनन की जरूरत होगी। उसका विस्तृत भाष्य लिखना संभवनीय है; जो आज भूदान-यज्ञ-प्रक्रिया के द्वारा लिखा जा रहा है।

सर्वोत्तम सेवा

मेरी मां ने कहा था, "विन्या, तू ही क्यों नहीं कर देता गीता का सरल मराठी पद्यानुवाद? तू यह कर सकता है।" मां की इस श्रद्धा ने मुझसे **'गीताई'** लिखवायी। गीता संस्कृत में होने के कारण उसका चिंतन-मनन-निदिध्यसन करना हमारी जनता के लिए संभव नहीं होता, इसलिए गीता को मराठी में लाने की बहुत दिन से इच्छा थी। उसके लिए आवश्यक मानसिक योग और अन्य अनुकूलता 1930 में मिल सकी।

गीतार्थ निश्चित करते समय गीता के पांचवें अध्याय ने मेरे कई वर्ष ले लिये। मैं उस अध्याय को गीता की कुंजी मानता हूं। और उसकी कुंजी है चौथे अध्याय का 18 वां श्लोक – 'कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म।' उसका जो अर्थ मुझे खुल गया, उसका विवरण मैंने गीता-प्रवचन में किया है। उसकी छाया संपूर्ण गीता-प्रवचन पर फैली है।

तारीख 7 अक्तूबर 1930 को प्रातः-प्रार्थना के बाद पांच बजे गीताई लेखन का प्रारंभ पांचवें अध्याय से हुआ –

स्वरों में स्वर पंचम । वर्णों में वर्ण पंचम
वैसे गीता में अध्याय पंचम । आदरणीय साधकजनों को

इसकी समाप्ति 6 फरवरी 1931 को हुई।

मेरी दृष्टि से इतनी फिक्र करने के बाद भी प्रत्यक्ष प्रयोग के बिना मेरा संतोष नहीं हो रहा था। इसलिए आश्रम की छोटी लडकियों के एक क्लास को गीताई सिखाने का प्रयोग किया। जहां-जहां उनको कठिन गया, वहां बदल किया। फिर मित्रों से सुझाव मांगे। उन पर भी विचार किया। और धुलिया जेल में (1932 में) उसकी अंतिम प्रति तैयार की गयी। 'गीताई' का पहला संस्करण मेरे धुलिया-जेल में रहते प्रकाशित हुआ।

उसी समय, उसी जेल में **'गीता-प्रवचन'** का जन्म हुआ। साने गुरुजी के मंगल हाथों वह लिपिबद्ध हुआ। और ईश्वर की योजना के अनुसार अब गीता-प्रवचन सारे भारत में अनेक भाषाओं में अनूदित होकर जनता की सेवा कर रहे हैं।

गीता-प्रवचन ने कुल गीता-सार सरल भाषा में लोगों की पहुंच में ला दिया। परंतु श्लोकशः अर्थ करने के लिए और मदद की जरूरत बनी रही। फिर **गीताई-शब्दार्थ-कोश** की मांग होने लगी। परंतु मैं उधर ध्यान नहीं दे रहा था। क्योंकि फुरसत मिलनेवाली नहीं थी। अलावा, कोश के लिए पाठ का अंतिम निर्णय कर लेना भी जरूरी था। उस दिशा में मेरा चिंतन-मनन चल ही रहा था। गीताई के एक-एक संस्करण में पाठ-संशोधन होता गया है। आगे व्यक्तिगत सत्याग्रह और भारतनिर्मुक्ति आंदोलन में (जेल में) पूरे पांच वर्ष अच्छा एकांत मिला। दरमियान कुछ महीने मौन भी लिया था। उस समय पाठ-संशोधन का काम पूरा हो सका।

बाहर आने के बाद मेरा छोटा भाई शिवाजी और मैं, दोनों ने मिलकर (1945-46 में) सात महीने इस काम के लिए दिये। इस प्रकार कोश की समग्र रचना पूरी हो गयी। परंतु मेरी चिरकारिक वृत्ति के कारण मैंने कोश वैसा ही पडे रहने दिया। लोग जल्दी कर रहे थे, परंतु कुछ वर्ष ऐसे ही जाने देना मुझे जरूरी लग रहा था। काल के कारण नया-नया आकलन होता रहता है। इसलिए भाप को नीचे बैठ जाने देना चाहिए। कुछ समय के बाद दोनों ने मिलकर पुनः संपूर्ण कोश की दूसरी परिक्रमा की। इस समय पांच माह लगे।

गीताई-रचना से सर्वथा उलटी स्थिति कोश-रचना में है। गीताई में 'मैं' न हो, इसका ख्याल रखा गया है, तो कोश में पूरा मैं ही हूं। अर्थात् गीता के चिंतन की मेरी पद्धति इस कोश में प्रतिबिंबित हुई है। यह तो मैं कभी न कहूंगा कि सबको इसी पद्धति से चिंतन करना चाहिए। क्योंकि मैं खुद भी इसी तरीके से चिंतन करने के लिए बंधा हुआ नहीं हूं। कल मैं भिन्न चिंतन भी कर सकता हूं। गीताई शब्द में अब मुझे कोई बदल नहीं करना है। परंतु यह अर्थचिंतन है। इसलिए यह चिंतन तो उत्तरोत्तर मेरा भी बदलता जा सकता है। चार साल पूर्व लिखा हुआ कोश पुनः संशोधन करने पर वह नया ही तैयार हो गया। कहीं तो समाप्ति-रेखा देनी होती है, इसलिए उस समय वह रेखा खींच दी, और प्रकाशन के

लिए इजाजत दे दी।

मैंने देखा कि अध्ययन करनेवालों को उसकी मदद मिलती है। फिर भी साधारण पाठकों के पास कोश का उपयोग कर अर्थशोधन करने की शक्ति और फुरसत भी नहीं रहती। इसलिए यह कल्पना उद्‌भूत हुई कि श्लोक का विवरण उसी श्लोक के नीचे देना ठीक रहेगा। वैसी योजना 'गीताई-चिंतनिका' में कर दी गयी। कोश के प्रायः सभी मुख्य विवरण उसमें लिये गये हैं। कई नये विवरण भी जोडे गये। सिवा इसके, गीता के कतिपय श्लोकों पर ज्यों-ज्यों टिप्पणियां सूझीं, त्यों-त्यों मैंने एक कापी में लिख रखी थीं। उनका आवश्यक अंश भी इसमें जोड दिया गया। इस तरह कहा जा सकता है कि आज तक का गीताविषयक मेरा चिंतन **'गीताई-चिंतनिका'** में थोडे में प्रतिबिंबित है।

गीता-प्रवचन, स्थितप्रज्ञ-दर्शन और गीताई-चिंतनिका मिलकर गीता का साम्ययोगमूलक अर्थ, जैसा मैं समझा हूं, प्रस्तुत होता है। मेरा विश्वास है कि मेरे द्वारा हुई अन्य सेवा दुनिया भूल जायेगी, लेकिन गीताई तथा गीता-प्रवचन को नहीं भूलेगी, और मेरी यह कृति दुनिया की सेवा करती रहेगी। क्योंकि गीताई लिखते समय और ये प्रवचन करते समय मैं केवल समाधिस्थ था।

विन्या की कृति-शून्यता

मैंने जो कुछ लिखा था, लिखता हूं, वह मेरा नहीं है। मैं तो अपने स्वामी का मजदूर हूं। बडों के पास से वह मुझे मिला है। और उसे मैं वितरित करता हूं। कवि ने कहा है, 'तेरे महान उदार सारस्वत के महासागर का यदि मैं मीन हो जाऊं तब भी मेरे मन की तृष्णा कभी शांत नहीं होगी।' मुझे जो ऐसा विचारधन प्राप्त हुआ है, उसे मैं थोडा-बहुत बांट रहा हूं। मैं एक 'रिटेल डीलर' हूं। बडे-बडे व्यापारियों से माल लेता हूं और उसे बांटता हूं।

वाणी संत-कृपा की यह। विन्या की कृति-शून्यता!

जीवन की प्रयोगशालाएं

सतत तेरह साल भारत की पदयात्रा हुई। उसके बाद चार-साढे चार साल मोटर से यात्रा की। भारत के सब प्रदेशों में यात्रा हुई। लगभग सब जिलों में भी। ऐसी स्थिति में कुछ शाश्वत कार्य आगे चलता रहे, इस दृष्टि से छः आश्रमों की स्थापना मैंने की। और यह कहने में खुशी होती है कि उन आश्रमों ने अच्छा लोकोपयोगी काम किया है।

आश्रमों को मैंने 'लेबोरेटरी के प्रयोग' कहा है। प्रयोगशाला बाजार में नहीं, एकांत स्थान में खोली जाती है। लेकिन वहां जो प्रयोग होते हैं, उनके लिए जो सामग्री एकत्र की जाती है, वह सब सामाजिक होती है। प्रयोग तो 'कंडिशंड' परिस्थिति में किये जाते हैं, पर उनसे निकलनेवाले परिणाम पूरे समाज को लागू होते हैं।

आश्रमों की स्थापना करने के संदर्भ में मैंने कहा था कि आश्रम और आरोहण (भूदान-आंदोलन) एक ही कार्यक्रम की दो योजनाएं हैं, जैसे कि विज्ञान में होता है। प्रथम शुद्ध विज्ञान (प्योअर साइन्स) की खोज होती है और उसके बाद वह समाज पर लागू किया जाता है। उससे व्यावहारिक विज्ञान (अप्लाईड साइन्स) विकसित होता है। यानी, व्यावहारिक विज्ञान को आधार के लिए शुद्ध विज्ञान की और शुद्ध विज्ञान को उसके विनियोग और प्रचार के लिए व्यावहारिक विज्ञान की आवश्यकता होती है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। हमारी आश्रम-योजना हमारे सामाजिक कार्य का पूरक अंग है। वहां जो चिंतन चलेगा, उससे बाहर के कामों को स्फूर्ति मिलेगी। उसका स्वरूप स्फूर्ति-स्थान का होगा। और बाहर का कार्य उस स्फूर्ति की दिशा में चलेगा। बाहर चलनेवाला कार्य आश्रमों के लिए कीर्तिस्थान है। विचार की कीर्ति आचार में परिणत हो, जैसे कि शुद्ध विज्ञान की कीर्ति व्यवहार में उपयुक्त होती है।

हमारे आश्रम जहां-जहां बने, वहां उन आश्रमों को 'पावर-हाऊस' (शक्ति-केंद्र) का काम करना होगा। वहां से पावर आसपास फैलें ऐसी अपेक्षा है। हमारा मुख्य काम है, सारे जनसमाज को अहिंसक बनाना – अहिंसक, शक्तिशाली, आत्मनिर्भर, आत्मविश्वासी, निर्भय, निर्वैर। परंतु ऐसा 'पावर-हाऊस' कहां बनेगा? जहां आश्रम खुद पावर महसूस करते हों।

मैंने जगह-जगह आश्रम खडे किये – हिंदुस्तान के तीन कोने में तीन आश्रम बने और बीच में भी तीन आश्रम बने। यदि उनमें प्राण हो, तो सारे हिंदुस्तान को व्याप्त करने के लिए वे पर्याप्त साधन हैं। शंकराचार्य ने हिंदुस्तान के चार कोने में चार आश्रम ऐसे जमाने में स्थापित किये थे, जबकि उनका एक-दूसरे से संपर्क असंभव था। ऐसे दूर-दूर आश्रमों की स्थापना करके उन्होंने वहां चार मनुष्यों को इस महती श्रद्धा से बिठाया कि ये दीपक का काम करेंगे। उन आश्रमों ने वैसा काम किया भी। उन्होंने भारत की बहुत सेवा की। इन दिनों आवागमन के साधन हैं, इसलिए छः आश्रम बनाये हैं तो कोई बडी बात नहीं। इन आश्रमों का अधिष्ठान परमेश्वर की भक्ति न हो, तो ये आश्रम कुछ भी काम कर न सकेंगे।

ये जो छः आश्रम बने, उन सबके उद्देश्य अलग-अलग हैं।

समन्वय आश्रम, बोधगया

समन्वय आश्रम (स्थापना 18 अप्रैल 1954) के लिए मैंने बोधगया का क्षेत्र चुना, इसमें एक दृष्टि है। भारतीय संस्कृति और जीवन का विकास समन्वय पद्धति से हुआ है। ब्रह्मविद्या का आधार और जीवमात्र के लिए अहिंसा का विचार, ये दो बातें उसकी बुनियाद में हैं। समन्वय आश्रम से यही अपेक्षा है कि यहां दर्शनों का अध्ययन हो और प्रत्यक्ष जीवन के प्रयोग हों।

आश्रम के लिए जमीन वहां के शांकर मठ से मिली। उस स्थान के ठीक सामने ही बुद्ध-मंदिर है। शांत और एकांत स्थान है। तो मुझे लगा कि यह समन्वय का अच्छा स्थान बन सकता है। बोधगया में अनेक देशों के बुद्ध-मंदिर हैं – चीन, जपान, तिब्बत, श्रीलंका आदि – तो उनसे संपर्क बन सकता है। मैंने आश्रम के लिए यह कार्यक्रम ही दे दिया कि बोधगया में जो यात्री या भिक्षु आते हैं, उनसे संपर्क करें, उनके अनुभव सुनें, अपने अनुभव सुनायें, भारतीय ढंग से उनका आतिथ्य करें तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंध बढायें। इस प्रकार का काम वहां हुआ भी है। मैंने यह भी कहा कि हर बुद्धपूर्णिमां को वहां यात्रा का आयोजन हो।

दूसरी बात मैंने कही, हम लोगों में यद्यपि व्यक्तिगत स्वच्छता का कुछ भान है, सामूहिक स्वच्छता का भान कम है। इसलिए हम चाहते हैं

कि बोधगया का क्षेत्र अत्यंत स्वच्छ और निर्मल रहे। अगर यह काम ठीक हुआ तो बाहर से जो लोग आयेंगे, उनको वहां पर स्वच्छता का दर्शन होगा। शरीर-परिश्रम के समान स्वच्छता को भी हमें नित्य-यज्ञ मानना चाहिए।

मेरी यह भी अपेक्षा है आश्रम से कि बिहार में जो कार्यकर्ता हैं, भूदान में लगे हुए, उनके लिए बोधगया एक विरामस्थान बने। वहां आकर उन्हें कुछ विरति प्राप्त हो, मन को कुछ शांति मिले।

वहां पर जो स्थायी साधक रहेंगे, उनके लिए मैंने बताया था कि उनका जीवन किसी तरह से अतिरेकी नहीं, बल्कि समत्वयुक्त हो। परंतु वे अपना जीवन शरीर-परिश्रम पर आधारित रखें। दान में जो पैसा मिलेगा, उसका उपयोग साधकों की जीवन-यात्रा के लिए न हो। उनकी जीवन-यात्रा उत्पादक परिश्रम से ही चले। और अगर दान लेना ही हो, तो वह भी परिश्रम का ही लिया जाये। वहां पर जो मकान आदि बनाने होंगे, उसके लिए मैं उत्पादक परिश्रम के ही दान का आग्रह नहीं रखता, क्योंकि मैं जानता हूं कि हम आदर्श परिस्थिति में काम नहीं कर रहे हैं।

फिर आसपास के क्षेत्र की सेवा से तो हम बच ही नहीं सकते हैं। हम अपना क्षेत्र बहुत बडा न मानें, छोटा ही मानें। दीपक छोटा हो तो भी उसकी परिमित कक्षा से अंधकार मिट जाता है। वैसे ही आसपास के लोगों की सेवा हमें गुण-विकास के ख्याल से करनी चाहिए।

जब वहां आश्रम शुरू हो गया और पानी के इंतजाम के लिए कुआं खोदना प्रारंभ हुआ, तब वहां जमीन में से एक सुंदर बुद्धमूर्ति मिली। इसे मैं आकस्मिक घटना नहीं मानता। ऐसी ही मूर्ति भरत-राम की परंधाम में मिली। वह मूर्ति मिली उसके आठ साल पहले उसकी आकांक्षा गीता-प्रवचन में प्रकट हुई है। समन्वय-आश्रम की मूर्ति, बिहार की यात्रा में बुद्ध की भावना का जो सतत चिंतन चला उसका परिणाम है। जपानी भिक्षु और साधु उस मूर्ति को दंडवत् करते हैं, तो हमको वह हक उनसे भी अधिक हासिल है। क्योंकि आखिर बौद्ध लोग बुद्ध को एक पुरुष ही मानते हैं। हमने तो बुद्ध को राम-कृष्ण के साथ अवतारों में स्थान दिया है। समन्वय आश्रम के कार्य को आशीर्वाद देने के लिए वह मूर्ति वहां उपस्थित है। पुराने भक्तों के जीवन में इस प्रकार की मूर्ति-लाभ की कहानियां आती हैं। वैसी ही यह घटना है। उसकी वहां स्थापना की

गयी। मुझे अत्यंत संतोष हुआ कि इस काम के लिए भगवान का आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

ब्रह्मविद्या-मंदिर, पवनार

जहां तक भारत के इतिहास का हमें ज्ञान है, उसके अनुसार स्त्री-शक्ति जगाने का काम प्रथम भगवान कृष्ण ने किया व्यापक पैमाने पर। उसके बाद के युग में महावीरस्वामी ने प्रयत्न किया, बहुत बडे पैमाने पर स्त्रियों को दीक्षा दी। इन दो प्रयत्नों के बाद तीसरा प्रयत्न व्यापक पैमाने पर महात्मा गांधी ने किया। इस काम में थोडा अनुदान 'बाबा' का भी है। स्त्रियों की सामूहिक साधना के लिए ब्रह्मविद्या-मंदिर की स्थापना – 'बाबा' का यह अल्प-सा अनुदान माना जायेगा।

बचपन से मेरा विचार ब्रह्मविद्या की तरफ था। हमारे कार्य में उसकी कमी महसूस होती थी। बापू के जाने के बाद वह ज्यादा महसूस होने लगी और मन में विश्वास हो गया कि इस भूमिका पर नहीं पहुंचते हैं, तो ये ऊपर-ऊपरवाली चीजें टिकेंगी नहीं। कम से कम हिंदुस्तान में तो नहीं टिकेंगी, क्योंकि हिंदुस्तान तत्त्वज्ञान की भूमि है। मुझे लगा कि ब्रह्मविद्या की पूर्ति किये बिना हमारा विचार अखंड प्रवाह में नहीं बहेगा। उसका जो प्रवाह बनना चाहिए, वह नहीं बनेगा। इसका निर्णय मेरे मन में हुआ और इस बात का विचार किये बिना कि मुझमें इतनी शक्ति है या नहीं, मैंने ब्रह्मविद्या-मंदिर शुरू करने का तय किया। शक्ति से भक्ति श्रेष्ठ है। मुझमें शक्ति उतनी नहीं होगी, परंतु उस विचार की भक्ति मुझमें अवश्य है। उसी भक्ति पर दारोमदार रखकर ब्रह्मविद्या-मंदिर की स्थापना की गयी (25 मार्च 1959)।

फिर यह भी मुझे लगा कि ऐसे आश्रम की कुल व्यवस्था बहनों के हाथ में होनी चाहिए। यह भी एक प्यास मेरे मन में थी। स्त्रियों की साधना हमेशा गुप्त रही है। उसका प्रभाव किसी न किसी व्यक्ति पर जरूर रहा है। परंतु उस साधना के प्रकट होने की भी बहुत जरूरत है। विश्व-शांति अकेले पुरुष नहीं कर सकते। बुद्ध ने प्रथम तो स्त्री को प्रवेश नहीं दिया था, और दिया तो यह कहकर दिया कि मैं एक खतरा उठा रहा हूं। लेकिन वह पुराना जमाना था। मैं तो इसमें खतरा मानता हूं कि पुरुष के साथ स्त्री को (ब्रह्मविद्या में) स्थान न हो, उसमें ब्रह्मविद्या

अधूरी रहती है, उस ब्रह्म के टुकडे-टुकडे होते हैं। स्त्रियों के हाथ में संचालन देकर मैं उलटे उस ब्रह्म के टुकडे होने नहीं दे रहा हूं। जमाने की मांग है, इसलिए संचालन स्त्रियों के हाथ में रहेगा तो सुरक्षित रहेगा।

प्राचीन काल में स्त्रियों ने व्यक्तिगत तौर पर शक्ति-निर्माण की कोशिश की, जिसके फलस्वरूप आज हमको प्रेरणा मिल रही है कि सामूहिक तौर पर स्त्रियां खडी हो जायें। आगे जो युग आनेवाला है वह मुख्यतया स्त्रियों का है। आध्यात्मिक शक्ति स्त्रियों की पैदा होनी चाहिए। मैं यहां तक अपेक्षा करता हूं कि स्त्रियां शास्त्रकार बनें। भारत में बहुत बडी भक्त स्त्रियां हो गयीं, उनका समाज पर प्रभाव था, परंतु वे शास्त्रकार नहीं थीं। अभी तक ब्रह्मविद्या का जो शास्त्र बना, जो पुरुषों ने बनाया है, वह एकांगी बना है। उसमें संशोधन हो और संशोधित ब्रह्मविद्या दुनिया के सामने आये, और वह काम बहनों के द्वारा हो। भारतीय ब्रह्मविद्या का स्वरूप परिष्कृत होने के लिए काफी गुंजाइश है। स्त्रियां ब्रह्मचारिणी होंगी, शास्त्रकार होंगी, समूहरूपेण काम करेंगी तभी चित्र बदलेगा।

मैंने ब्रह्मविद्या-मंदिर की बहनों से कहा था, 25 मार्च को ही ब्रह्मविद्या का नाम लेकर गृहत्याग करके मैं निकल पडा था। आज भी उसी नाम से जी रहा हूं। अब समूह-साधना के ख्याल से बहनों का ब्रह्मविद्या-मंदिर शुरू कर रहा हूं। मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता, कितनी गहराई से उसका चिंतन कर रहा हूं। घर छोडते समय जितनी तीव्रता महसूस होती थी चित्त में, आज उससे कम नहीं महसूस होती। लेकिन ब्रह्मविद्या का जो संकल्प था, वह अब नहीं रहा। पूर्ण हुआ इसलिए गिर गया कि वैसे ही गिर गया, भगवान को मालूम! लेकिन अब जो तीव्रता है, वह सामूहिक समाधि की है। समूह की भावना उन दिनों में भी थी। लेकिन सामूहिक साधना की नहीं थी। जो कल्पना थी, वह समूहरूपेण कुछ सेवाकार्य किये जायें, यह थी। लेकिन आज सामूहिक समाधि की भावना है और उसके लिए तीव्रता महसूस होती है। इसलिए मैंने बताया कि जो भी कार्यक्रम यहां तय करें, सब मिलकर सर्वानुमति से तय करें और सब लोग उसमें नियमित भाग लें। यह ब्रह्मविद्या के लिए बहुत जरूरी है। अक्सर संसारग्रस्त मनुष्य मन के अनुकूल बरतते हैं। अक्सर साधकों की कोशिश मन के विरोध में काम करने की होती है। मैं

तो तीसरी बात चाहता हूं – मन से ऊपर उठने की। उसका सादा और प्राथमिक उपाय है, सबकी राय से कार्यक्रम तय करें। मन को खतम करने की यह दिशा है। मन खतम होने के बाद जो सामूहिक प्रेरणा होगी, वह सामूहिक चित्त की प्रेरणा होगी। इसका प्रयोग यहां करना है।

एक छोटे-से ट्रैंगल में जो सिद्धांत सिद्ध होता है, वह बडे ट्रैंगल को भी जैसा का वैसा लागू होता है। दुनिया के सामने जो बहुत-सी समस्याएं आज मौजूद हैं, वे छोटे पैमाने में एक गांव में भी होती हैं। जैसा विश्व-समस्या-परिहार का गांव-गांव में प्रयोग होगा वैसा ही एक प्रयोग – उससे भी अधिक सघन प्रयोग छोटे पैमाने पर ब्रह्मविद्या-मंदिर में होगा।

प्राचीन काल में ब्रह्मविद्या अरण्य में बनी – उपनिषदों की स्फूर्ति अरण्यप्रेरित है। उसके बाद गीता की विद्या रणांगण में खडी हुई। आज हमारी ब्रह्मविद्या को मजदूरी के क्षेत्र में खडा होना पडेगा। मजदूरी को – शरीरश्रम को उपासनास्वरूप समझना होगा। संपूर्ण स्वावलंबन का आग्रह रखकर मैंने अपने साथियों के साथ कई साल प्रयोग किये। उसके लिए आठ-आठ, नौ-नौ, जितने घंटे काम करना पडा, किया। वह भी ब्रह्मविद्या का ही प्रयोग था। लेकिन अब प्रयोग दूसरे तरीके से करना है। मेरा मानना है कि योजनापूर्वक काम किया जाये तो तीन-साढे तीन घंटे के उत्पादक-परिश्रम में एक व्यक्ति की पूर्ण जीविका हासिल हो सकती है। मैंने बहनों को कहा कि उतना ही समय हम परिश्रम को दें और उसमें जितना स्वावलंबन हुआ, उतने में संतोष मानें। और दूसरी बात, सब परिश्रम का समान मूल्य मानें। आज समाज में उसका समान मूल्य नहीं है, लेकिन हमको वह करना है।

ब्रह्मविद्या-मंदिर में मुख्यतया बहनें रहती हैं। कुछ भाई भी हैं। ये लोग थोडा समय खेत में काम करते हैं। रसोई बनाना, पाखाना साफ करना, सफाई, सब खुद ही करते हैं। यहां एक 'मैत्री' नाम की हिंदी मासिक पत्रिका हर महीने प्रकाशित की जाती है। तो यहां तीन काम चलते हैं – एक, सामूहिक साधना; दो, श्रमनिष्ठा; तीन, सबके साथ एक होकर ध्यान, स्वाध्याय इत्यादि और भक्ति। ये बातें यहां की मुख्य हैं।

नदी के किनारे पर यह एक छोटा-सा टीला है, जिस पर ब्रह्मविद्या-मंदिर है। यहां खोदते-खोदते जमीन में से कोई तीस-बत्तीस मूर्तियां

निकलीं। उनमें जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, इनकी मूर्तियां यहां मिलीं। ये मूर्तियां 1400 साल पुरानी हैं। गुप्त साम्राज्य का पतन होने के बाद वाकाटकों का राज यहां चला। उस जमाने में ये मूर्तियां यहां बनी हैं। भगवत्कृपा अनेक प्रकार से इस स्थान में प्रकट हुई है। इसलिए भक्ति की भाषा में बोलना हो, तो यह स्थान जागृत देवस्थान है।

ब्रह्मविद्या-मंदिर के बारे में मैंने कहा है कि यहां या तो उत्तम चीज देखेंगे या सारा प्रयास व्यर्थ जायेगा। इतनी बेभरोसे की दूसरी संस्था नहीं। दूसरी संस्थाओं में ऐसा होता है कि मिले तो दस लाख, नहीं तो दस हजार तो है ही। यहां मिला तो अनंत, नहीं तो शून्य! इसलिए यहां ब्रह्मविद्या से कम बात तो चलेगी ही नहीं। मुझे अगर कोई ऐसी धमकी दे, तो मैं कहूंगा कि शून्य मिले तो भी मुझे यह करना है। दस-पांच मिलने में मुझे रस नहीं। या तो अनंत हासिल करें, या शून्य!

प्रस्थान आश्रम, पठानकोट

कश्मीर की पदयात्रा पूरी करके जब पुनः पंजाब आया तब मुझे प्रस्थान आश्रम की कल्पना सूझी। वहां से पाकिस्तान, कश्मीर और पंजाब, तीनों निकट हैं। तीनों के लिए वहां से प्रस्थान कर सकते हैं। वहां शांति-सेना का केंद्र बन सकता है। शिक्षण का काम हो सकता है। कश्मीर से जो मजदूर लाचार होकर ठंढ में वहां आते हैं, उनकी सेवा हो सकती है। कम से कम उनके साथ हृदय का संपर्क बना रहे, उनके कष्टों में हम उनके साथ रहें। फिर गुरुदासपुर जिले में ईसाई भी अधिक हैं। तो यहां से हिंदू, मुस्लिम, ईसाई – सब धर्मों से संपर्क हो सकता है। इस प्रकार एकता का काम अगर यहां से हो सकेगा तो देश की बहुत बडी सेवा होगी। इस विचार से पठानकोट में आश्रम की स्थापना हुई (अक्तूबर 1959 में)।

विसर्जन आश्रम, इंदौर

मेरी पदयात्रा को नौ साल पूरे हो रहे थे। असम को छोडकर बाकी सभी प्रदेशों में जाना हुआ था। तो मेरे मन में आया कि आज तक सर्वोदय आंदोलन के प्रयत्न मुख्यतः देहात को दृष्टि में रखकर हुए हैं। अब नगरों में भी यह काम होना चाहिए। जब इस तरह सोचने लगा तब मेरी दृष्टि इंदौर नगर पर गयी। इंदौर चार प्रदेशों (महाराष्ट्र, गुजरात,

राजस्थान, मध्यप्रदेश) का मिलन-स्थान है। देवी अहिल्याबाई की भूमि है। अहिल्याबाई का नाम मैंने बचपन में ही सुना था। तो स्त्री-शक्ति के लिए मुझे यह स्थान अनुकूल लगा। इंदौर औद्योगिक नगर होते हुए भी यहां जनता की प्रकृति सौम्य है, अर्थात् संघर्ष और विग्रह की भावना कम है। जल-वायु भी सौम्य है। इन सब कारणों से नगर-अभियान के लिए इंदौर को मैंने चुना और उसकी व्यूह-रचना में वहां विसर्जन-आश्रम की स्थापना की (15 अगस्त 1960)। आश्रम के नजदीक ही एक नदी है और वहां गांधीजी की रक्षा का विसर्जन हुआ था।

उसका उद्घाटन करते हुए मैंने कहा था – इस आश्रम का ध्येय है, **इयं विसृष्टिर्यत आबभूव** – पुराने कालबाह्य मूल्यों का विसर्जन कर नवयुगानुसार प्राणवान, उपयुक्त मूल्यों का वि-सर्जन – विशेष सर्जन करना। स्वाध्याय, शुचिता, नम्रता से एकादशव्रतों का पालन होगा। श्रद्धा से अहिंसात्मक जीवन के प्रयोग यहां किये जायेंगे, ताकि नागरिकों में परस्पर प्रेम और करुणा का भाव जागे, उन्हें आत्मशक्ति का भान हो, वे सहयोग और समत्व की ओर बढ़ें और विभिन्नता में एकता का आदर्श रखें। आश्रम लोकाधार और आत्माधार पर चलेगा। इंदौर-नगरवाले आश्रम की प्रवृत्तियों और योगक्षेम में रुचि लें, ऐसी अपेक्षा है।

मैत्री आश्रम, असम

यह विज्ञान का जमाना है। विज्ञान का जमाना कहता है, 'दुनिया के मनुष्यों, एक हो जाओ'। आज मानवसमाज पहले से भी अधिक छिन्न-विच्छिन्न है। ऐसी हालत में भारत के एक सीमाप्रदेश में 'मैत्री आश्रम' की स्थापना (5 मार्च 1962) करना मेरे लिए अनिवार्य हो गया।

असम की यात्रा में अंतिम दिनों में मैं सोचता रहा कि यहां सर्वोदय की बुनियाद मजबूत कैसे बनेगी, और उसी का परिणाम है मैत्री आश्रम। असम में स्त्रियों की एक शक्ति है। यों दुनिया में पुरुष काम कर रहे हैं और वे असम में भी हैं, न होते तो गांव-गांव में ग्रामदान का काम कौन करता? फिर भी सारे भारत में तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर कह सकते हैं कि यहां स्त्री-शक्ति के विकास के लिए अवकाश है। इसलिए भी ऐसे स्थान की आवश्यकता मालूम हुई।

मैंने कहा था कि यहां सद्भाव और प्रखर वैराग्यशीलता रहे। एक

दफा समाज देखें कि स्त्रियां भी गहराई में जा सकती हैं। समाज के विकास के लिए खोजें कर सकती हैं। आज तक बना समाजशास्त्र बदल सकती हैं। स्त्रियों में वीरांगनाएं, राज्य-मर्मज्ञ, भक्त हुई हैं, साहित्यिक भी हुई हैं; परंतु यह सब होते हुए भी यह अनुभव नहीं आया है कि समाज के मार्गदर्शन में स्त्रियों ने विचार पेश किया है और समाज ने उसे माना है। उस दृष्टि से मौलिक चिंतन आवश्यक है। वह यहां हो। मैंने कहा था, यहां नियम, ध्येय और कार्यक्रम, जो भी होगा, वह इस '**मैत्री**' शब्द में आ जाता है। यहां एक ही नियम होगा – मैत्री। एक ही ध्येय होगा – मैत्री। एक ही कार्यक्रम होगा – मैत्री।

मैत्री के साथ-साथ समाज की समस्याओं का भी समाधान होना चाहिए। अन्यथा सर्वसाधारण मैत्री की बात तो राष्ट्र के सर्वोच्च राजनैतिक नेता भी बोलते हैं कि सेना नहीं होनी चाहिए, लडाई नहीं होनी चाहिए। लेकिन उसके लिए जो उपाय है, उसका सम्यक् दर्शन किसी को नहीं है। इसी लिए उसी गोल चक्कर में दुनिया पडी हुई है। और इसी लिए दिशा दिखाने के लिए मैत्री-भावना चाहिए। इसलिए इस आश्रम में ज्ञान-विज्ञान संयुक्त हो। ज्ञान और विज्ञान में शरीर और बुद्धि, दोनों की तपस्याएं करनी होंगी। यहां अनेक भाषाओं और धर्मों का, सर्वोदय और दूसरे विचारों का अध्ययन-अध्यापन और उस प्रकार के साहित्य का निर्माण करना होगा। यह स्थान भारत के सिर पर बिलकुल एक कोने में है। आश्रम के लिए हमने ऐसी जगह चुनी कि जहां से हवाई अड्डा बहुत नजदीक है। अपेक्षा यह है कि यहां से दुनिया के साथ संपर्क रखा जाये, यह एक अंतर्राष्ट्रीय मैत्री का केंद्र बने।

वल्लभ-निकेतन, बेंगलूर

वल्लभस्वामी के स्मरण के लिए हमने वल्लभ-निकेतन बनाया (1965 में)।* वे विशुद्धात्मा थे। हमने ऐसे बहुत लोग देखे हैं, जो बुद्धि में बहुत प्रखर हैं। लेकिन जैसी शुद्धि वल्लभस्वामी में देखी थी, वैसे लोग हमने ज्यादा नहीं देखे। उनके स्वभावविशेष को ध्यान में लेकर तदनुरूप उनका स्मारक होना चाहिए। तो वहां स्वाध्याय हो। लोग थोडा

** 1959 में, बेंगलूर से सात मील दूर विश्वनीडम् आश्रम की स्थापना की गयी थी,* 'यत्र विश्वं भवति एक-नीडम्' इस ध्येयवाक्य से – और उसका भार वल्लभस्वामी को सौंपा गया था। उसी का बाद में स्थानांतर हो कर वल्लभ-निकेतन में रूपांतर हुआ – सं.

ध्यान, चिंतन करें और शांति पाकर जायें, ऐसा प्रबंध होना चाहिए। वहां सात्त्विक मैत्री का वातावरण बना रहे।

वहां की दृष्टि से चार बातें ध्यान में रखनी होगी – (1) वहां के वातावरण में शांति रहे, (2) अविरोध सेवाकार्य हो और (3) उसमें आध्यात्मिक दृष्टि रहे, (4) वहां शांति, भक्ति और प्रीति का वातावरण बना रहे। लोग वहां आयें, शांति लेकर जायें। इस अपेक्षा से वल्लभ-निकेतन का प्रारंभ हुआ है।

* *

आत्मदीपो भव

मैंने पहले जिस ढंग से आश्रम चलाये वैसे अभी नहीं चलाता। पहले तो मेरे जितने साथी थे, सब हुक्मबरदार थे। मैं जो कहता उस पर उसी क्षण अमल होता। मैंने ऐलान किया कि कल से नमक छोडना है, तो एकदम नमक उठ गया। कोई चूं नहीं करता था। कल से अमिश्र खाना है, तो अमिश्र शुरू हो जाता। इस तरह खाने के प्रयोग चले, आठ-आठ घंटे खेती, कताई चली। हुक्म का तुरंत अमल होता गया। वह भी 'बाबा' का एक रूप था। लेकिन उसमें जो व्यक्तित्व बना, उसकी मर्यादा मैंने देख ली। अपने आश्रम में और गांधीजी के आश्रम में भी देख ली। इसलिए सोचा कि अब जो आश्रम बनेंगे उनमें मार्गदर्शक नहीं होने चाहिए। और इसलिए आंदोलन में भी मैंने एक शब्द दे दिया है – गणसेवकत्व! कुल जमात के लिए गणसेवकत्व की बात कही है तो आश्रमों के लिए तो है ही। इसलिए अब तो मैंने पत्रों का उत्तर देना भी बंद कर दिया है। सब प्रश्नों के जवाब में मैं एक ही बात कहता हूं – **आत्मदीपो भव ।**

साधना के पहलू

जब मैंने साधना के हेतु से प्रयास करना आरंभ किया था, तब प्रातःकाल उठकर संकल्प करता कि "अभी इस मंगल प्रभात में मैं शुभ-संकल्प करता हूं कि..." और सारा दिन उस संकल्प के अनुसार साधना में लगता। जब संध्या हो जाती तो जैसे पक्षी घोंसले में वापस आ जाते हैं, वैसे ही चित्त को अंदर ले लेता। दिनभर जो साधना हुई, उसे भगवत्-चरणों में समर्पित करता। उसके बाद रात को सोने जाता तो सब संकल्प छोडकर अब समाधि में लीन होने जा रहा हूं, इस भावना से सो जाता। यह अभ्यास आज तक ऐसा ही चला। एक संकल्प, दो साधना, तीन समर्पण, चार समाधि – यह दिनभर का, चौबीस घंटे का कार्यक्रम रहा।

सूरदास ने कहा है – **'सूर क्रूर इहि लायक नाहीं'**। 'इहि लायक नाहीं' तो अब मैं रहा नहीं; परमेश्वर की प्रीति का अब मैं बहुत ही लायक बन गया हूं। उसकी प्रीति मुझे निरंतर मिल रही है। और उसकी प्रीति के अनुभव के बिना मेरा एक दिन भी नहीं जाता। दूसरी बात यह कि मैं क्रूर तो नहीं हूं, लेकिन कठोर हूं। और मैं कठोर हूं, इसका मुझे कोई पश्चात्ताप नहीं है। कारण, यह कठोरता मेरी ढाल है। बापू ने अपने बारे में लिखा है कि शर्मीलापन मेरी ढाल है। मैं शर्मीला नहीं हूं। आक्रमणकारी का मुझे कभी डर नहीं लगा। पर मैं बडा ही कठोर हूं। वह मेरी ढाल है। वैसे ही जैसे नारियल। वह ऊपर से बहुत कडा होता है, पर भीतर से उसमें रस भरा रहता है। उस समय मैं कठोर था, पर आज मेरी आंखों से जिस प्रकार आंसू झरते हैं, उसी प्रकार जब मैं साबरमती आश्रम में था तब झरते थे। आज सबके सामने बहते हैं, पर उस समय एकांत में झरते थे। परमेश्वर के सिवा मेरा दूसरा कोई उद्देश्य नहीं। पर मैंने अपना जीवन बहुत कठोर बना लिया था। व्यवहार में यह कठोरता दोष मानी जाती है, पर कहीं पर वह गुण भी बन सकती है। जो जहर सबके लिए मारक होता है, वह शंकर भगवान के लिए नामस्मरण करने का साधन बन जाता है। वैसे साधारण रीति से व्यवहार में जो दोष गिना जाता है, वह भी साधक की दृष्टि से कितनी ही बार गुण बन जाता है।

मैं एक गुण लेकर चला, उसके साथ कितने ही दोष भी ले आया। यह जो एक गुण था वह था, सत्य की खोज के लिए छटपटाहट –

सत्यनिष्ठा। और दोष तो अनेक थे। इनमें मैं कठोरता की गिनती नहीं करता। पर मेरे मित्र भी मेरी कठोरता को दोष के रूप में देखते थे। अपरिचित लोग तो इसे आत्मविकास में कमी ही मानते थे। ये सारी टीका-टिप्पणियां मेरे कानों पर आती थीं। इतना होने पर भी उस समय भी मेरी कठोरता मुझे अपना दोष नहीं जान पडती थी। बल्कि आज भी जब मैं अपने पिछले जीवन पर दृष्टिपात करता हूं, तो मैं उसका बडा आभार मानता हूं। किसी को पहले से ही गोपियों की भांति भक्ति की प्राप्ति हो गयी हो तो बात दूसरी है, परंतु यदि वैसा न हो, तो आज प्रेम के नाम पर जो वस्तु चलती है, वह बिलकुल गलत है। मैं इस प्रेम को कोई मूल्य नहीं देता। प्रेम अत्यंत दुर्लभ वस्तु है, ऐसा मैं मानता हूं। जब तक पारस्परिक संबंध में निष्कामता नहीं आती, तब तक प्रेम का जो आभास दीख पडता है, वह बाधक ही होता है, साधक नहीं। तो दूसरे लोग कठोरता का जो दोष मुझमें देखा करते थे, वह मैं नहीं देखता था। पर दूसरे अनेक दोष मुझमें थे।

आश्रम का जो जीवनस्वरूप मेरी दृष्टि में पडा, उससे मुझे बहुत कुछ मिला और उसके फलस्वरूप मुझे यह अनुभव हुआ कि जीवन एकरस और अखंड है। और जिस प्रकार कोई मनुष्य अकिंचन हो बैठता है, दरिद्र हो जाता है, तो उसके सगे-संबंधी एक-एक कर चले जाते हैं, उसी प्रकार मेरे दोष भी एक के बाद एक करके मुझे छोडकर चले गये।

आश्रम में आने से पहले मैं जो साधना करता था, वह केवल भावरूप ही थी। उसके बाद आश्रम की साधना चली। आश्रम में आने के बाद मुझे दृष्टि भी प्राप्त हुई।

प्रार्थना

सामूहिक प्रार्थना की आदत मुझे गांधीजी के सत्याग्रहाश्रम में प्रवेश करने के बाद हुई। उसके पहले मैं ऐसी प्रार्थना नहीं करता था। जिसे व्यक्तिगत प्रार्थना कहा जा सकता है, वैसा भी प्रार्थना के तौर पर, निश्चित समय पर नहीं करता था। भक्तिभाव में कभी पढ लेता था, गा लेता था। सहज वृत्ति होती थी। लेकिन एकसाथ बैठकर या निश्चित समय पर व्यक्तिगत प्रार्थना करने की वृत्ति नहीं थी। बचपन में मुझे संध्या-उपासना भी सिखायी थी। मैंने कंठ कर ली थी, लेकिन मैं करता नहीं था। मैं कहा करता था कि जिसका अर्थ मुझे मालूम नहीं, उसे

नाहक बोलता नहीं रहूंगा। उन दिनों मेरी भक्ति-भावना का विकास कम हुआ, ऐसा मैं नहीं मानता। परंतु गांधीजी के पास रोज सुबह-शाम दो दफा प्रार्थना चलती थी। अनेक सज्जन इकट्ठा बैठते थे। धीरे-धीरे उसका चित्त पर असर पडा। मैं प्रार्थना का इतना असर नहीं मानता, जितना उस सत्संग का मानता हूं।

बापू से सवाल पूछे जाते थे कि प्रार्थना में चित्त एकाग्र न हुआ तो क्या करें? प्रार्थना में नींद आने लगी तो क्या करें? बापू कहते थे कि नींद आती हो, या एकाग्रता न होती हो, तो खडे रहो। लोग सत्यनिष्ठ थे। रोज प्रार्थना में दो-दो, चार-चार लोग खडे रहते थे। खडे रहने पर चित्त एकाग्र रहेगा, ऐसा निश्चित नहीं है, पर बापू सिखाते थे। अपने चित्त का भी विवरण देते थे। बच्चों को वर्णमाला सिखाते हैं, वैसा प्रार्थना का पाठ उन्होंने शुरू किया। वहां मुझे नया अनुभव आया, जो पहले नहीं आया था।

बापू के जमाने में बहुत-सी प्रार्थनाएं चलीं। प्रार्थना में जो श्लोक बोले जाते थे, उनमें से बहुत-से श्लोकों को मैं जानता था। यद्यपि उनमें से कितने ही श्लोक ऐसे हैं, जिनका मैं कभी उच्चारण न करता और मैंने उन्हें कभी भी प्रार्थना के योग्य नहीं माना; फिर भी मैं उन्हें श्रद्धापूर्वक कहता रहा। लेकिन मुझे उनका विशेष आकर्षण नहीं था। आगे चलकर बापू से इस विषय पर चर्चा भी हुई कि उन्हें प्रार्थना में रखा न जाये, तो यह कहकर उन्हें जारी रखा गया कि जो चल पडा वह चालू ही रखना चाहिए। जब मैं जेल गया तब सुबह की प्रार्थना में ये सारे श्लोक मैंने छोड दिये और ईशावास्य उपनिषद का अपना बनाया हुआ गद्यानुवाद ही पढता रहा। उन दिनों मेरा उसी पर चिंतन चलता था। मेरी उस प्रार्थना में कई लोग शामिल हुआ करते थे। शाम की प्रार्थना में गीता (स्थितप्रज्ञ-लक्षण) के श्लोक तो मुझे बहुत ही पसंद थे, उन्हें निकाल देने का सवाल ही नहीं था, उन्हें वैसा ही रहने दिया। फिर जब जेल से छूटा तब पवनार आश्रम में भी सुबह की प्रार्थना में ईशावास्य ही बोलता रहा। यह जब बापू थे तभी से शुरू हो गया था।

सारे भारत में या सारी दुनिया में एक ही प्रार्थना चले, यह एकता की अजीब भावना मुझे अच्छी नहीं लगती। एकता तो अंदर की होनी चाहिए। प्रार्थना के विषय में मुझे किसी वचनविशेष का आग्रह नहीं है। यही कारण है कि जब मैं मेवों में काम करता था, तो कुरान के ही वचन

(आयतें) पढता था और गीता का उर्दू तर्जुमा पढता था। भजन भी उर्दू गाता था। जो समाज को सहज ही समझ में आ जाये, वही मुझे अच्छा लगता है।

बापू के जमाने से सर्वधर्म-प्रार्थना भी चली। जहां भिन्न-भिन्न धर्म-भाषावाले बैठे हों, वहां वह ठीक भी है, फिर भी वह खिचडी जैसी हो जाती है। उसमें भगवान को राजी करने की जगह मनुष्य को ही राजी करने का विचार मुख्य रहा। मानव भी भगवान का ही रूप है, यों सोचें तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। यह सब सोचकर मुझे लगा कि मौन प्रार्थना ही इससे अधिक श्रेष्ठ है। उससे सभी का समाधान हो सकता है और गहरे से गहरा अर्थ निकल सकता है। मैं यह अपने अनुभव से कह सकता हूं। भूदान-यात्रा में पहले शाम की सार्वजनिक प्रार्थना में स्थितप्रज्ञ के श्लोक गाये जाते थे। लेकिन आंध्र में मैंने इसकी जगह मौन प्रार्थना का प्रारंभ किया। सार्वजनिक मौन प्रार्थना का अत्यंत महत्त्व है। सभी मिलकर शांत चित्त से प्रार्थना करें, यह बात मेरे मन में बहुत दिनों से चल रही थी। विचार धीरे-धीरे पक्का होता है और जैसे-जैसे अनुभव की समृद्धि बढती है वैसे हिम्मत भी बढती है। मौन की एक शक्ति होती है।

मौन, निद्राजय और स्वप्नजय

यों तो मेरा मौन का अभ्यास बहुत पुराना है। चिंतन के लिए मन पूर्णरूप से मुक्त रहे, यही प्रारंभ में मेरी मौनसाधना को अभिप्रेत था। जहां तक मुझे स्मरण है, 1927 में मैंने मौनव्रत लिया। लेकिन मेरा वह मौन मतलबी मौन था। पहले तो मैंने दो महीने के लिए ही यह तय किया था कि रात की प्रार्थना के बाद मेरा मौन रहेगा। लेकिन वह मुद्दत खतम होने के बाद मैंने हमेशा के लिए वह नियम रखा। फिर भी तब वह केवल आश्रम में रहता था, तभी के लिए था। बाहर के लिए नहीं था। बाहर जाता था तो मौन का आग्रह नहीं रखता था। फिर जब मैं धुलिया जेल में था तब वहां पर बहुत चिंतन चला और मैंने तय कर लिया कि शाम की प्रार्थना के बाद मौन हमेशा के लिए ही रखना चाहिए, चाहे आश्रम में हों या बाहर।

जब मैंने यह निर्णय लिया तब कई बातें मेरे मन में आयीं। सेवा का विचार आया, सभा का विचार आया। वर्धा में हमेशा सभा रात को नौ

बजे शुरू होती थी और बारह बजे तक भी चलती। ऐसी सभाओं में मुझे जाना पडता था। फिर भी मैंने मेरा निर्णय पक्का रखा और घोषणा कर दी कि सायं-प्रार्थना के बाद मौन रखूंगा।

मेरे मौन के विचार के पीछे कोई स्थूल कारण नहीं था। उसका मुख्य कारण था गीता का आठवां अध्याय। गीता के आठवें अध्याय में अंतकाल में भगवान के स्मरण का महत्त्व बताया है। अंतकाल में भगवान का स्मरण तभी होगा, जब जीवनभर उसका स्मरण रहेगा, क्योंकि वह तो कुल जीवन का परिणाम होगा। इसी पर से मुझे लगा कि अंतिम काल का नाटक हररोज होना चाहिए। अंतिम काल कब आयेगा, किस तरह आयेगा, इसकी कल्पना तो की नहीं जा सकती, परंतु यों देखा जाये तो प्रतिदिन हमारे जीवन का अंत हुआ करता है। आखिर निद्रा भी तो मरण की पूर्व-प्रक्रिया ही है, जो रोज की अनुभूति है। इसलिए यदि हम हररोज सोते समय अंतकाल के समय का नाटक करें, तो अंतकाल के समय बाजी अपने हाथ में होगी। 'रोज मरण आता है' यह मानकर पवित्र स्मरण के साथ सो जाना चाहिए। यही मैंने सोचा।

मौन के प्रथम दिन ही मुझे शांति का विलक्षण अनुभव हुआ। बोलना बंद होने से वाचन शुरू हुआ। पढना तो मेरा आध्यात्मिक ही होता था। पढने के अलावा केवल ध्यान और चिंतन ही करता था। इससे कितनी शांति मिलती है, इसका अनुभव मुझे नहीं था। सचमुच अद्‌भुत अनुभव हुआ। परिणामस्वरूप विचारों के विकास का एक शास्त्र ही मेरे हाथ लग गया। जिस तरह खेत में बीज डालकर उस पर मिट्टी डाल दें तो बीज दिखायी नहीं देता, लेकिन अंदर ही अंदर वह विकसित होता है और तीन-चार दिन के पश्चात् दीखता है, जब अंकुर फूटता है; उसी तरह प्रार्थना, ध्यान, चिंतन करनेवाले मनुष्य पर निद्रारूप मिट्टी डाल दी जाये तो कभी-कभी जागृति में जिन समस्याओं का समाधान नहीं कर सकते, वह समाधान निद्रा में मिल जाता है। समाधि में गहरे उतरने पर विचारों का विकास होता है, परंतु गहरे उतरने पर भी कभी-कभी जो फल नहीं मिलता, वह निद्रा की प्रक्रिया में मिल जाता है। मेरा अनुभव रहा कि इस प्रकार प्रार्थना के बाद, अन्य कोई भी विचार मन में रखे बगैर सो जायें तो मौन, ध्यान, आध्यात्मिक चिंतन, इन सबकी योग्यता उस निद्रा में होती है। शंकराचार्य ने कहा है **निद्रा समाधि-स्थितिः।** इस

तरह मेरे मौन का अनुभव उत्तरोत्तर दृढ होता गया।

निद्राजय और स्वप्न पर काबू, यह मेरा अपना खास विषय है। हम जो भी करते हैं दिनभर, वह ऐसे ढंग से करें जिससे कि उसका निद्रा पर असर न हो और स्वप्न के लिए वह कारण न बने। जिस चीज के स्वप्न आते हैं, उनमें या तो हमारी आसक्ति होती है या उसकी नफरत होती है। राग और द्वेष! इन दोनों के कारण स्वप्न पर जागृति का असर पडता है।

बचपन की बात है। मेरे पिताजी के एक मित्र थे। वे उत्तम शतरंज खेलते थे। मुझे हमेशा बुलाते शतरंज खेलने के लिए। मैं जाता था। शतरंज के लिए मुझे आदर है। क्योंकि उसमें नसीब का सवाल नहीं आता और दोनों पक्षों के पास समान बल होता है। और भी एक कारण है, **'शतरंज को साज काठ को सबै समाज'**। सभी लकडी का होता है। उसमें मिथ्यात्व है, अद्वैत है और बुद्धि का खेल है, नसीब का नहीं। तो मैं खेलने जाता था। लेकिन एक दिन रात में स्वप्न आया और स्वप्न में शतरंज खेलना शुरू हुआ। दूसरे दिन उठा और तय किया कि अब फिलहाल शतरंज खेलना नहीं। जिस चीज का चित्त पर इतना असर पडे कि वह स्वप्न में भी आ जाये, उस चीज को काटना ही चाहिए।

मुझे भी स्वप्न में भगवान से सूचना मिलती है। पर मैं सपना आना ही गलत मानता हूं। इसलिए मैं सपनों के बारे में कभी सोचता ही नहीं। जागृत अवस्था से स्वप्न-सृष्टि में अधिक उलझनें हैं। इसलिए उस पर ध्यान नहीं देना चाहिए। मैं तो भगवान से कहता हूं, तुम सूचना ही देना चाहते हो, तो ऐसी चोरी-छिपे क्यों देते हो, जागृति में दो।

ध्यान

लोग मुझे पूछते हैं कि आपको ध्यान कैसे सधता है? मैं कहता हूं कि मैं आलसी हूं – इसलिए सधता है। मन को चारों ओर भेजते रहेंगे तो बहुत तकलीफ होगी। उसके लिए मेहनत करनी पडेगी। इसलिए मेरे जैसे आलसी मनुष्य को ध्यान करना सहजता से सधता है। मन को एकाग्र करने के लिए कुछ करना नहीं पडता। मेरे पास यह जो आलस है, उसकी कीमत जबतक ध्यान में नहीं आती तबतक इस भूमिका पर आ नहीं सकते। तात्पर्य, ध्यान का उतना महत्त्व नहीं है जितना मन से अलग होने का है।

मेरा स्वभाव ध्याननिष्ठ है। परंतु ध्यान, कर्म, ज्ञान, भक्ति, सेवा,

इन सबमें मैं फर्क नहीं कर सकता। एक ही वस्तु है और ये सब उसके विविध पहलू हैं। मैं अपने खुदके बारे में कहूं तो मुझे ध्यान में डूबे रहने की ही इच्छा रहती है। पदयात्रा में, कुछ महीने एक प्रदेश में बिताना, फिर उस प्रदेश से विदा लेना, दूसरे प्रदेश में जाना – यह सब नाटक चलता है, वह मेरे स्वभाव के अनुकूल नहीं है। परंतु गांधीजी के प्रयाण के बाद ध्यान में आया कि अब व्यापक कर्मयोग के क्षेत्र में उतरना होगा। ध्यान के साथ कर्मयोग तो पहले भी चलता ही था। लेकिन वह विशिष्ट कर्मयोग था, व्यापक कर्मयोग नहीं था। मतलब, उसमें मुख्य वस्तु ध्यान थी और कर्म उसका अंग था। बाद में भूदान के निमित्त से व्यापक कर्मयोग के लिए बाहर पडा, लेकिन अंदर मेरा ध्यान ही चलता है। जब मैं अपना परीक्षण करता हूं कि दिनभर मैं क्या करता हूं, तब अंदर से यही उत्तर मिलता है, 'ध्यान करता हूं'।

मेरे सामने कोई चित्र खिंचते हुए बैठा हो, भजन गाता हो, पक्षियों की आवाज आती हो, सामने पहाड, सूर्य या और कोई दृश्य हो, हवा बहती हो, जो भी कुछ हो, सबकी ध्यान में मुझे मदद मिलती है। और इसलिए मुझे नित्य नये-नये विचार सूझते हैं। ईश्वर ने जीवन को कैसे व्याप लिया है, बडा आश्चर्य होता है!

1916 से 20 के दरमियान साबरमती आश्रम में जब रात को शब्द और बत्तियां शांत हो जाते थे, तब मैं अपने कमरे में अंधेरे में बिस्तर में बैठकर रोज ध्यान करने लगा। और जल्दी ही एकाग्रता सध गयी। मुझे उससे बहुत समाधान मिलता। लेकिन कुछ दिन के बाद मुझे संदेह होने लगा कि यह शुद्ध समाधि है या कुछ नींद का भी असर है? समाधि का आभास तो नहीं है? इस विचार से तीन महीने से चलनेवाला वह प्रयोग मैंने बंद कर दिया। और रात के बदले बडी फजर तीन बजे उठकर ध्यान करने लगा। वह सहजता से सधा नहीं। लेकिन प्रयत्न से धीरे-धीरे एकाग्रता सधने लगी। यह अभ्यास छः माह चला। ध्यान और समाधि का यह मेरा पहला अनुभव था।

तैंतीस वर्ष की उम्र में मुझे अनोखा अनुभव हुआ। उसका वर्णन मैं शब्दों में कभी नहीं कर सका। लेकिन उसके बाद मन उन्मन-सा हो गया। मैं चिंतन के लिए सहजता से बैठता हूं तब मन रहता ही नहीं। मात्र मैं ही रहता हूं। इससे भी ठीक अभिव्यक्ति करनी ही तो 'मैं' को छोडकर

केवल 'होता हूं'। 'मैं' यानी विशिष्ट। वह विशिष्टावस्था तब नहीं रहती। खुले आकाश की-सी स्थिति हो जाती है।

फिर 1938 में बापू की हिदायत पर आरोग्य सुधारने के लिए मैं पवनार आया। सब प्रकार के कामों की और संस्थाओं की चिंता छोडकर बिलकुल निश्चिंत होकर यहां प्रवेश किया। जैसे घडी को बंद करके रखते हैं वैसे मन को बंद करके रखा था। घंटों मन को शून्य करके पडा रहता था। यह मेरा शून्यता का अनुभव था। विकार-मुक्ति तो पहले ही सधी थी। अब विचार-मुक्ति का सवाल था। यदि हम शतरंज जैसा कोई खेल खेलेंगे, तो उसमें भी बुद्धि चलानी पडेगी, इसलिए वैसा भी कुछ नहीं करता था। परिणाम यह आया कि सर्वत्र शून्य लगने लगा। 'कुछ भी नहीं' ऐसी अनुभूति होती थी। 'कुछ भी नहीं' का ऐसा अनुभव था कि फिर यह समझ लेने के लिए कि 'है' क्या, जागृति में भी हाथ से स्पर्श करके अनुभव लेना पडता था। और हाथ को कुछ कठिन स्पर्श होता था, इतना ही। सृष्टि के लोप का वह अनुभव था। केवल मैं अपने स्थान पर हूं इतनी ही अनुभूति रहती थी।

हम अंतर्मुख और बहिर्मुख की बात करते हैं। लेकिन मुख्य बात मेरे ध्यान में यह आयी कि अंतर्मुख और बहिर्मुख यह विरोध रहेगा तब तक मुख ही नहीं रहेगा। यह बात ध्यान में आनी चाहिए कि जो परमात्मा अंदर है, वही बाहर है। भगवान अंदर, बाहर सब जगह है। आंखों को दीख रहा है, पर हम कहते हैं कि आंख बंद करके उसको देखेंगे। असल में बाहर हमको डर नहीं है, अंदर भी नहीं है, डर है अपने चित्त में। चित्त से मुक्त हो गये तो काम खतम!

एकाग्रता के लिए मुझे कुछ करना नहीं पडता। जिसे अनेकाग्रता कहते हैं वही करनी पडती है। एकाग्रता तो होती ही है। कोई कहे कि मन को बंद करो, तो वह बंद ही है। कभी बात करनी है इसलिए खोल देता हूं। और उस समय भी अपने को अलग रखकर बात करता हूं। जैसे मनुष्य पानी के ऊपर-ऊपर तैरता है, पानी में डूबता नहीं – डूबेगा तो जायेगा – वैसे बोलने में, चलने में, हंसने में, काम करने में ऊपर तैरता हूं, अंदर डूबता नहीं। और जब काम नहीं होता तब मन इधर-उधर जाता ही नहीं। सब प्रकार के आकर्षण का केंद्रबिंदु एक ही जगह होता है। यहां है तो यहीं रहेगा। कभी बाहर देखता हूं, कुएं पर काम करनेवाले

मजदूर दिखायी देते हैं, तो देख लेता हूं। इधर-उधर भी देख लेता हूं। वह एक विनोद है। लेकिन एक-एक वस्तु के दर्शन के साथ चित्त पर जो एक असर होता है, वह नहीं होता।

मैं पदयात्रा कर रहा था, तब की बात। बहुत लोग दर्शन के लिए आये हुए थे। एक बहन अपने बच्चे को लेकर आयी थी। प्रणाम किया। बच्चे के नाक से नेटा निकल रहा था। मैंने अपनी ओढी हुई चद्दर से उस बच्चे की नाक साफ कर दी और आगे बढा। उस वक्त दो बातें हो सकती थीं। एक तो मां को समझाया जा सकता था कि बच्चे को गंदा नहीं रखना चाहिए। दूसरा, कुछ भी कहे या किये बिना आगे बढ सकते थे। लेकिन सहज जो प्रेरणा हुई वैसा मैंने किया। मुकाम पर पहुंचने के बाद मैंने सोचा कि मैंने क्या किया? ठीक या बेठीक? तो जवाब मिला कि बहुत ही ठीक काम किया। उस दिन मैंने और जो भी काम किया होगा – जमीन का बंटवारा आदि – उससे यह ज्यादा पुण्य का काम था। क्योंकि उसमें उपाधि नहीं थी। मैं बडा हूं और यह गंदा है, यह भान नहीं था।

मुझे ईश्वर को मातृरूप में देखने की आदत है। कोई ईश्वर को मातृरूप में देखता है, कोई पितृरूप में, कोई गुरुरूप में। मुझे मातृरूप की आदत है। मेरे जीवन में मित्र-भावना विशेष रही है। गुरु के लिए मेरे मन में बडा आदर है और ईश्वर के लिए गुरुभाव भी है। लेकिन यह भी कुछ उपाधि है, ऐसा समझकर (1964 में) मैंने तीनों भावनाओं का विसर्जन कर दिया। तब मैं टायफाईड से बीमार था। उस बीमारी में मेरा बहुत ध्यान चला। शुरू के चार-पांच दिन तो मैं ध्यान में मस्त था। उस समय इन तीनों भावनाओं को उपाधि मानकर छोड दिया। लेकिन पुरानी आदत है, तो ईश्वर का कहीं मातृरूप या गुरुरूप में वर्णन पढ लेता हूं तो मेरी आंखों से आंसू बहने लगते हैं। परंतु उन आंसुओं को भी उपाधि समझना चाहिए – भले ही वे कितने ही पवित्र क्यों न हो!

लेकिन इस प्रकार की उपाधि ध्यान के लिए काम में आती है। कुछ हदतक मनुष्य को इस प्रकार के उपाधि की जरूरत है। उसकी मदद से मनुष्य प्रगति कर सकता है। इसलिए उसे उपाधि समझकर छोड दें, तो उससे लाभ नहीं होता। लेकिन आखिर ऐसी उपाधि से मुक्त होना पडता है। किसी महापुरुष की बात अलग है। वह शुरुआत में ही ऐसी उपाधि से मुक्त हो सकता है और आगे बढ सकता है। लेकिन साधक के लिए

प्रारंभ में उसकी जरूरत होती है। भगवान के गुणों का ध्यान, आगे उनका अनुशीलन, इसके लिए मूर्तियां भी काम देती हैं। मैंने इस प्रकार मूर्तियों का ध्यान किया है।

छोटा था तब बडौदा में बुद्ध-मूर्ति का ध्यान करता था। बचपन से महाराष्ट्र के संतों के भजनों का परिचय था, असर था, तो विठोबा के लिए भक्ति थी। कुछ दिन विठोबा का ध्यान हुआ। विठोबा के ध्यान के फलस्वरूप मुझे सूझा कि विठोबा समाज की चौथी अवस्था है। समाज की पहली अवस्था में हरएक के पास डंडा रहता था और एक-दूसरे को पीटने का अधिकार था। दूसरी अवस्था यह कि एक-दूसरे को दंडित नहीं करेंगे, बल्कि न्यायाधीश या सरकार जो फैसला देगी वह माना जायेगा। तीसरी अवस्था में सरकार भी डंडा छोड देगी। सब शस्त्र भगवान को समर्पित होंगे। भगवान गदा-चक्र लेकर सज्जनों का रक्षण और दुर्जनों का खंडन करेंगे। चौथी अवस्था आयेगी कि भगवान भी शस्त्रसंन्यास लेंगे – दंड नहीं देंगे, क्षमा करेंगे। विष्णु का यह अवतार – विठोबा शस्त्र हाथ में लेता नहीं। सार यह कि मूर्ति का ध्यान करते समय भी ध्यान यही रहता है कि उसमें से किसी गुण का दर्शन हो।

ब्रह्मविद्या-मंदिर में मेरे निवास के सामने गंगा-मूर्ति थी। मैं रात में और दिन में कुछ समय उसका ध्यान करता था। तो मुझे उसकी नजर में कारुण्य, चेहरे पर प्रसन्नता, वक्ष में वात्सल्य, कमर में सामर्थ्य और चरणों में समत्व दिखायी दिया। एकदम एक चित्र सामने खडा हुआ। पत्थर की मूर्ति से गुणों का समुच्चय प्राप्त हुआ। मैंने (ब्रह्मविद्या-मंदिर की) भरत-राम की मूर्ति का भी ध्यान किया है।

मैं अपनी कोठरी में चित्र (फोटो या मूर्ति) रखना पसंद नहीं करता। स्थूलरूपेण पसंद नहीं करता। मानसिक पसंद करता हूं। उससे बाधा नहीं आती। जैसे ईसा का ध्यान प्रेम के प्रकर्ष का प्रतीकस्वरूप है। ईसा ने समाज के लिए बलिदान दिया। उसमें परमेश्वर के प्रेम का और परम त्याग का ध्यान हुआ। परंतु चित्र या मूर्ति रखना पसंद नहीं करता।

यह बात सही है कि व्यक्तिगत ध्यान की आवश्यकता होती है, लेकिन उससे महत्त्व की बात यह है कि हमारा हरएक काम ध्यानपूर्वक होना चाहिए। मैं (1970 में) ब्रह्मविद्या-मंदिर में आया। तो वहां सफाई का काम शुरू किया। रोज घंटा-डेढ घंटा, कभी तो ढाई घंटे तक आंगन

का कचरा इकट्ठा करता रहता। एक-एक तिनका, सूखी पत्तियां उठाना और टोकनी में डालना। ध्यान का सुंदर अनुभव आया। माला लेकर जप करने पर जो अनुभव आयेगा, उससे अलग या कम दर्जे का यह अनुभव नहीं था; उच्च स्तर का अनुभव था। एक-एक तिनका उठाना और उसके साथ नामस्मरण करना, ऐसा चलता। कभी-कभी तो गिनती करता – जैसे, आज 1255 तिनके उठाये। उसमें मन काम नहीं करता था। उसमें चित्त की स्थिति का जो अनुभव आया वह लगभग ध्यान की योग्यता का था। लगभग समाधि के करीब था। इसलिए मैंने उसको ध्यान नाम दिया। और स्वच्छता का विचार ध्यानयोग के रूप में पेश किया। बाकी दूसरा ध्यान मन को खींचने का होता है। तो मेरा कहना है कि मन को खींचते क्यों हो? गाफिल मत रहो तो बस!

गुणोपासना

बचपन में मैं दूसरों का बहुत परीक्षण किया करता था। हमारी बहुत चर्चा चलती थी कि इसमें यह दोष है, उसमें वह दोष है। बुद्धि काम तो करती ही है। हर मनुष्य में कोई न कोई दोष दीखता ही था। निर्दोष कोई दीखता नहीं था और अपना दोष भी नहीं दीखता था। सबका पृथक्करण पूरा नहीं होता था, तब फिर अपनी तरफ ध्यान ही कैसे जाये! फिर संतों का साहित्य पढने में आया – **कासया गुणदोष वानूं आणिकांचे । मज काय त्यांचें उणे असे।** तुकाराम कहते हैं, दूसरों के दोष मैं क्या देखूं, मुझमें क्या उसकी कमी पडी है? तब यह बात ध्यान में आयी।

फिर बापू ने कहा, दूसरे के छोटे गुण भी बडे करके देखें और अपने दोष बडे करके देखें। **परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्।** मैंने एकबार बापू से पूछा, यह सारा सत्य के साथ कैसे मेल खायेगा? उन्होंने जवाब दिया कि "इसमें स्केल की बात है। नक्शे में दो इंच है तो दो सौ मील मानते हैं, दो ही इंच नहीं मानते हैं, वैसे ही यह है। दूसरे के गुण कम दीखने पर भी ज्यादा मानने से 'राईट स्केल' होगा।" मनुष्य की आदत होती है दूसरे के गुणों को और अपने दोषों को कम देखने की, इसलिए 'स्केल' बता दिया। बौद्धिक प्रश्न का उन्होंने बौद्धिक जवाब दिया। फिर मेरी वह प्रक्रिया जारी हुई। उसके बाद ध्यान में आया कि अपना जो दोष दीखता है, वह वास्तव में अपना नहीं है। वह तो देह के साथ जुडा हुआ है। जो अपना नहीं, उसे क्या देखना? इसी तरह दूसरों के दोष भी उनके अपने

नहीं हैं। देह के हैं, देह के साथ जल जानेवाले हैं।

पुरानी बात है, 1918 की। मैं महाराष्ट्र में घूम रहा था, पदयात्रा कर रहा था। उस वक्त उत्तर भारत का एक मुसाफिर आया था, मेरे साथ चार दिन रहा। हमारी चर्चा होती। फिर वह आगे चला गया दक्षिण की ओर। उससे मैंने पूछा, भगवान ने यह क्यों किया धंधा, हरएक में गुण और दोष, दोनों क्यों रखे? बोला, 'ऐसा है, भगवान बडा स्वार्थी है। अगर वह मनुष्य को निर्दोष रखेगा, परिपूर्ण गुण देगा तो मनुष्य भगवान को याद नहीं करेगा। इसवास्ते भगवान ने अपने मतलब के लिए यह खेल किया है।' मेरे मन में यह बात पैठ गयी। भावार्थ यह है कि अगर मनुष्य में दोष नहीं होगा तो नम्रता नहीं रहेगी।

इसलिए हर चीज का हमें गुण ही गाना चाहिए। गुण भगवान है। यह मैंने अपनी एक नयी खोज निकाली है। पागल की खोज! कल्पना मैंने यह की कि दूसरों के दोष तो देखना ही नहीं, अपने भी देखना नहीं। दोष तो अनंत होते हैं। फिर भी एकाध गुण तो होगा ही। परमेश्वर ने ऐसा एक भी मनुष्य पैदा नहीं किया, जिसमें एकाध भी गुण नहीं है। परमेश्वर का अंशरूप गुण हरएक में होता ही है। और कितना भी बडा महापुरुष हो, वह दोषमुक्त नहीं होता। भगवान ने हरएक को दोषदान दिया और हरएक को गुणदान दिया। गुण खिडकी है, दोष दीवार है। कितना भी गरीब मनुष्य हो, उसके घर को एक दरवाजा तो होगा ही अंदर जाने के लिए। वह गुण है। उसी के द्वारा हृदय-प्रवेश हो सकेगा, दीवार से तो सिर टकरायेगा।

तब से मैं अपना भी गुण गाता हूं। लोग कहते हैं, बाबा घमंडी है, आत्म-प्रशंसा करता रहता है। पर आत्मा की प्रशंसा नहीं करेंगे तो क्या करेंगे? हमें दूसरों के और अपने भी गुण ही देखने चाहिए। **गोविंद के गुण गाना**। वही असली चीज है। जो देह के साथ जल जानेवाला है, उसकी चर्चा और उच्चारण नहीं करना चाहिए। इसलिए मैंने एकादशव्रत में बारहवां व्रत जोड दिया – अनिंदा। वैसे अहिंसा में वह आ जाता है, फिर भी मुझे उसका स्वतंत्ररूप से निर्देश करने की आवश्यकता मालूम हुई।

जब कभी मध्यरात्रि में नींद पूरी होकर मैं जग जाता हूं, तब ध्यान के लिए बैठ जाता हूं। यह मेरी हमेशा की आदत है। एक दिन इस प्रकार ध्यान में बैठा, तब मुझे एक नया विचार सूझा। मैंने विचार किया नहीं,

वह सूझा – **'प्रातिभं दर्शनम्'**। वह यह कि हम कल के पुराने आज हैं नहीं। आज हम बिलकुल 'नया मनुष्य' है। कल का 'विन्या' मर गया, निद्रा के बाद वह नया बना। निद्रा यानी मृत्यु है। इसवास्ते वह तो मर चुका। आज वह नया पैदा हुआ है। यह विचार मुझे सूझा तो उससे बहुत ही ताजगी महसूस हुई। अगर हम सब लोग यह भावना कर सकते हैं कि हम आज नये हैं, तो ताजगी कायम रहेगी, नया दर्शन होगा।

परिचित लोगों के संबंध में मनुष्य की कुछ भावनाएं, धारणाएं बन जाती हैं। उनको निकाल देना मनुष्य के लिए बहुत ही कठिन होता है। पर मुझे यह जरूर सधा है। उसके लिए मेरी एक सरल युक्ति है। मैं ऐसी धारणाएं बनाता ही नहीं हूं। मुझे लगता है कि मेरे सामने जो मनुष्य है वह प्रतिक्षण बदल रहा है, नयी-नयी मूर्तियां सामने उपस्थित हैं। यह ध्यान में आना चाहिए। इसके लिए 'आध्यात्मिक अपरिचय' होना चाहिए। हमें उसके इस जन्म के दस-बीस सालों की ही जानकारी है। लेकिन उसके तो कई जन्म हुए हैं। वह तो पुराण-पुरुष है। वह कोई एक मनुष्य नहीं है, वह एक प्रवाह है। वह गूढ तत्त्व है, जिसे वह खुद भी नहीं जानता। तो हम क्या जानेंगे? प्रतिपल मनुष्य नया-नया ही होता है। इसलिए हरएक के लिए आदरयुक्त अलगाव होना चाहिए। प्रेम के लिए एक-दूसरे के नजदीक रहते हुए भी दूरी कायम रखें। आध्यात्मिक अनासक्ति महसूस करें। यह बडा सुंदर दर्शन है। यह बात मेरे मन में जम गयी है।

स्नेहोपासना

मैंने एक सूत्र बनाया है – **स्नेहेन सहजीवनम्**। मनुष्य को सहजीवन जीना चाहिए। और स्नेहपूर्वक जीना चाहिए। यह मेरा जीवन का मुख्य सूत्र है। परिणाम यह हुआ कि मैंने जिनको पकडा उनको अपनी ओर से छोडा ही नहीं। और जिन्होंने मेरा साथ लिया उन्होंने भी मुझे छोडा नहीं। लेकिन इस बात का भी अहंकार हो सकता है, इसलिए कुछ लोग छोडकर चले गये।

मैं घर छोडकर निकला, तो मेरे दोनों छोटे भाई घर में रह न सके, दो-तीन साल के अंदर-अंदर घर छोडकर मेरे पास आ गये। दोनों ब्रह्मचारी रहे। यह स्नेह का परिणाम है। फिर मेरे जो मित्र थे – गोपालराव काले, रघुनाथ धोत्रे, बाबाजी, बगाराम आदि – वे भी घर छोडकर आये और अंत तक मेरे साथ रहे। ये हो गये बडौदा के मित्र।

फिर मैं गया साबरमती। वहां कुछ विद्यार्थी मिले। उसकी एक मिसाल है वल्लभस्वामी। तेरह साल की उम्र में वह मेरे पास आया और 58 साल की उम्र में उसकी मृत्यु हुई। 45 साल सतत मेरे साथ रहा। कौनसा पुत्र बाप का इससे अधिक साथ देता होगा? उसके बाद मैं आया वर्धा। वहां के हमारे साथी वालुंजकरजी 1924 से मेरे साथ हैं। फिर भाऊ (पानसे), दत्तोबा (दास्ताने) वगैरह लडके मेरे पास आये। फिर 1946 में रणजित्, रामभाऊ, गिरधरगोपाल आदि। उसके बाद विवेकानंद आदि। ये सब अंत तक साथ रहे। वैसे ही जब मैं 1938 में परंधाम आया तब मैंने सूत्र चलाया था – सूत कातना सीखना चाहिए। तब पवनार गांव के कुछ लडके आते थे। उनको उस वक्त प्रतिघंटा छः पैसा मजदूरी मिलती थी। उनकी मजदूरी बढे इसलिए मैंने उन्हें सामने बिठाकर लगातार सात-सात, आठ-आठ घंटा कातना सिखाया। तब से वे वहां काम कर रहे हैं, भक्तिपूर्वक, निष्ठापूर्वक। उसके बाद ब्रह्मविद्या-मंदिर शुरू हो गया तो कुल भारत से बहनें यहां आयीं। तो बालकोबा, शिवाजी इन 70 साल के साथियों से लेकर पिछले 12-13 साल के साथियों तक सब मेरे साथ हैं। क्योंकि मेरा मुख्य सूत्र रहा, **स्नेहेन सहजीवनम्** ।

और अब क्या कोशिश है? पांडव स्वर्गारोहण के लिए निकले, एक-एक साथी गिरता गया और अंत में एक कुत्ता युधिष्ठिर के साथ रहा। उसको स्वर्ग में प्रवेश नहीं मिला, तो युधिष्ठिर ने भी स्वर्ग में जाने से इनकार कर दिया। मेरी यही कोशिश है। साथियों को छोडकर अकेले ही वैकुंठ में चले जायें और भगवान के दरबार में विराजमान हो जायें, यह मुझे मंजूर नहीं। सद्गति हो, दुर्गति हो – कुछ भी हो, उनका साथ मुझे मिलना चाहिए, यह मेरी सामूहिक आकांक्षा है। बंगाल में, श्रीरामकृष्ण की समाधि पहली बार जहां लगी थी उस स्थान पर, मैंने कहा था कि व्यक्तिगत समाधि के दिन अब गये, अब सामूहिक समाधि की जरूरत है। उस दिन मुझे नया शब्द सूझा – सामूहिक समाधि! सामूहिक साधना, सामूहिक समाधि और सामूहिक मुक्ति, यह विचार लेकर मैं चल रहा हूं।

आजकल मैं रोज साथियों के नाम याद करता हूं। मेरा यह विष्णुसहस्रनाम है। भारतभर में जो परिचित वृद्ध हैं, उनका स्मरण प्रथम करता हूं। फिर दूसरे नाम। वृद्धों के नाम पहले इसलिए कि वृद्धों के

आशीर्वाद के बिना मनुष्य को उन्नति का साधन नहीं। यह बहुत समझने की बात है। हम जवान हैं। लेकिन वृद्धों ने हमारी सेवा की हुई होती है, इसवास्ते वृद्धों के आशीर्वाद की हमें अत्यंत आवश्यकता है। वृद्धजनों को याद करने के बाद हमारे जो साथी हैं उनको याद करता हूं। एक-एक प्रांत लेकर वहां के एक-एक साथी को याद करता हूं। तो हजार नाम हो जाते हैं। यह सारा गोरखधंधा किसलिए? क्या लाभ है इसका? इसलिए कि **स्नेहेन सहजीवनम् ।**

व्रतोपासना – एक झलक

मैं आहार के बारे में कुछ न कुछ प्रयोग सतत करता आया हूं। और जिसे आध्यात्मिक जिज्ञासा है, उसके साथ यह वस्तु हमेशा रहनेवाली है। क्योंकि शरीर आत्मा की मूर्ति है और मूर्ति के नाते उसका उपयोग होना चाहिए। जैसे प्रकाश लक्षण है और सूर्य लक्षित वस्तु, वैसे आत्मा देवता और शरीर उस देवता की मूर्ति है। मूर्ति को देखकर देवता की कल्पना आनी चाहिए। इसलिए आध्यात्मिक जीवन में आहार का महत्त्व है।

बचपन में मैं खाने के बारे में बहुत ही लापरवाह था। खाने का कोई निश्चित समय ही नहीं था। भूख लगी तो मां के पास मांगना और जो दिया सो खाना। रात को देर तक घूमते रहना। देरी से खाना। इस तरह चलता था। बापू के पास आया। वहां आश्रम में खाने के समय भी नियत, नियमित थे। तो नियत समय पर खाने से क्या लाभ होता है, यह ध्यान में आया। भूख तैयार रहती थी। नियत समय रहने से लाभ हुआ, ऐसा शारीरिक और उसी तरह मानसिक भी अनुभव आया।

यद्यपि बचपन में खाने-पीने के बारे में मैं इतना लापरवाह था, करेले की सब्जी मुझे पसंद नहीं थी। मैं उसे खाता नहीं था। मां बहुत बार कहती कि विन्या, तू अस्वाद की बातें तो बहुत करता है, पर करेला तो तू खा नहीं सकता। तब मैं कहा करता, सभी स्वाद जीतने का ठेका मैंने थोडे ही लिया है? परंतु बापू के आश्रम में आने के बाद शुरू के दिनों में ही वह स्वाद जीतने का भी तय कर लिया। उन दिनों भोजन के समय बापू खुद परोसते थे। एक दिन करेले की सब्जी थी। बापू परोस रहे थे तो 'ना' कैसे कहा जाता। ले ली। पसंद नहीं थी तो सबसे पहले वही खा ली। बापू ने देखा, इसकी थाली में सब्जी नहीं है, तो दुबारा परोसी। वह

भी चुपचाप खा ली। तो उन्हें लगा कि इसको शायद करेला भाता है, तो तीसरी बार परोसा। तब मैंने तय कर लिया कि करेले के प्रति जो अरुचि है, उसे छोडना होगा।

करेले की सब्जी पसंद नहीं थी और दहीभात बहुत पसंद था। कोंकण में मेरा जन्म हुआ, तो बचपन में रोज दहीभात बराबर खाता था। बापू के पास आने के बाद वह भी छोडा। एक बार चर्चा चली कि शराब पीनेवालों को शराब पीना छोडना चाहिए, फलाने को फलाना छोडना चाहिए, तब मुझे लगा कि जब हम दूसरों को उनकी आदतें छोडने को कहते हैं तब पहले हमें अपना भी कुछ छोडना चाहिए, तभी हमें वैसा कहने का हक प्राप्त होता है। मैंने दहीभात छोड दिया, क्योंकि वह मुझे बहुत प्रिय था। तब जो छोडा सो आज तक छोडा ही।

चीनी खाना मैंने 1908 में ही छोड दिया था। मैं तब 13-14 साल का था। मेरे मन में ऐसा विचार उठा कि जब तक स्वराज्य हासिल नहीं होता तब तक विदेशी चीनी नहीं खायेंगे। और मैंने वैसा संकल्प ले लिया। एकबार भोजन के लिए एक जगह गया था। भोजन करते हुए मुझे लगा कि जो चीनी स्वदेशी के तौर पर दी गयी है, वह स्वदेशी नहीं है। मैंने पूछा कि क्या चीनी स्वदेशी है? बच्चे के प्रश्न को कौन गंभीरता से लेगा? हां, हां कह दिया। लेकिन मुझे वह स्वदेशी लगी नहीं। तब मेरे मन में आया कि विदेशी शक्कर छोडे चार-छः महीने हो गये हैं, अब मुझे शक्कर खाना ही छोड देना चाहिए। तब से मैंने शक्कर खाना ही छोड दिया और 1947 तक शक्कर खायी नहीं।

ऐसे ही नमक के बारे में हुआ। पुरानी बात है। मैं महाराष्ट्र में पैदल घूम रहा था (1917-18)। हम दस-बारह लोग तोरणगढ किले पर गये। सोचा था कि खाने की सामग्री ऊपर ही खरीद लेंगे। पर वहां चावल के सिवा और कुछ नहीं मिला। हमने सिर्फ चावल ही बनाया। जब खाने बैठे तब लगा कि कम से कम नमक तो हो, चावल खायेंगे कैसे! लेकिन उस दिन वहां नमक भी नहीं मिला। बिना नमक के ही भात खाना पडा, तो अच्छी तरह भरपेट खाया नहीं गया। तब मेरे ध्यान में आया कि ऋषि-मुनि 'यह छोडो', 'वह छोडो' के प्रयोग क्यों करते थे। हमें चाहिए कि हम जीभ को घोडा बनायें, वही हम पर सवार न हो। नमक छोडने का महत्त्व मेरे ध्यान में आया और मैंने नियम कर डाला

कि आज से मैं एक ही बार नमक लूंगा। वैसा चला। कुछ दिन के बाद यह भी मालूम हुआ कि नमक छोड देना इतनी कठिन बात नहीं है, और नमक हमेशा के लिए छोड दिया।

मेरे पेट में बीमारी है (ड्यूऑडीनल अल्सर)। उस बीमारी का ख्याल रखकर मैं आहार के विविध प्रयोग करता हूं। साधारणतः शरीर की स्थिति और मौसम को देखकर प्रयोग करता हूं।

आहार के प्रयोग करते समय मैं हमेशा चतुरंग दृष्टि से सोचता हूं – (1) अध्यात्म, (2) आरोग्य, (3) स्वदेशी धर्म, (4) अर्थशास्त्र। एक वस्तु एक कारण से उत्तम तों दूसरे कारण से हीन साबित हो सकती है। पर चारों अंगों का यथाक्रम पृथक्करण करने के बाद ही बोलना हो तो मैंने इन्हें उत्तरोत्तर गौण अंग माना है। लेकिन ऐसा पृथक्करण मुझे पसंद नहीं है। सभी बातों का समन्वय जिसमें होता है, उसी को मैं सच्ची और पूरी 'अध्यात्म-दृष्टि' मानता हूं। उसी को सच्ची और पूरी 'स्वदेशी दृष्टि' मानता हूं। उसी को सच्ची और पूरी 'आर्थिक दृष्टि' मानता हूं।

मेरा अनुभव है कि आकाशसेवन से मनुष्य का कम कैलरीज में निभ सकता है। पदयात्रा में मेरे आहार में कुल 1200-1300 कैलरीज रहती थीं। डाक्टरों को बहुत आश्चर्य लगता था कि इतने श्रम के बावजूद इतनी कम कैलरीज में कैसे निभ सकता है। मैं कहता था कि मैं सबसे ज्यादा आकाश खाता हूं। मेरे आहार में नंबर एक में आकाश है। नंबर दो में वायु। नंबर तीन में सूर्यकिरण। फिर चौथे नंबर में पानी। पानी खूब पीना चाहिए। थोडा-थोडा और बार-बार पानी पीने से मनुष्य का प्राण बलवान होता है। और सबसे कम महत्त्व की चीज है अन्न। अधिक से अधिक आकाशसेवन!

और इससे भी प्रधान वस्तु जो मेरे आहार में है, वह है संतोष! संतोष आरोग्य की कुंजी है। आहार सुस्वादु बने और वह अस्वाद वृत्ति से लिया जाये, ऐसी मेरी योजना है। इसमें से पहला हिस्सा तो सबको पसंद आयेगा, पर उन्हें दूसरा पसंद नहीं आता। जिन्हें दूसरा पसंद है, वे पहला पसंद नहीं करते, ऐसा भी मैंने देखा है। दोनों का मेल बैठ जाये तो उसमें से संतोष निर्माण होता है।

* *

लोग मुझे पूछते हैं कि इस उम्र में आप सतत वर्षों से पदयात्रा कर

रहे हैं, तो आपके आरोग्य का रहस्य क्या है? आरोग्य के लिए आप कौनसी सिफारिश करेंगे?

मेरा स्वास्थ्य उत्तम है, इसका कारण है – 'मैं नहीं हूं'। 'मैं हूं' होता तो स्वास्थ्य बिगड जाता। परंतु मैंने खुदको शून्य बनाकर परमेश्वर के हाथ में सौंप दिया है। इसलिए वह मुझे संभाल लेता है। मेरे स्वास्थ्य का इसके अलावा और कोई स्पष्टीकरण नहीं है। यह ठीक है कि मैं जागृत रहता हूं। लेकिन कितना भी जागृत रहूं, असम-केरल के मूसलाधार बारिश में, हिमालय के नजदीक की कडाके की ठंड में, उत्तरप्रदेश के बांदा जिले की भयानक गरमी में घूमा तब उस हालत में से बचा लेनेवाला कोई है, वह बचा लेता है। इसलिए मैं मेरे आहार वगैरह की सिफारिश सबको करूंगा नहीं; लेकिन इतनी ही सिफारिश करूंगा कि परमेश्वर के साथ अनुसंधान रखकर खुदको बचा लेना आ जाये तो हम हमेशा सुरक्षित रहेंगे।

दूसरी बात, राग-द्वेष-क्रोध आदि विकारों के कारण, कामवासना के कारण मनुष्य के चित्त का क्षय होता है। ऐसा क्षय नहीं होना चाहिए। **ना को बैरी नाहि बिगाना** – मुझे रोज यह अनुभव आता है। किसी के लिए वैर नहीं। बल्कि मैं तो मानता हूं कि जो मेरे नजदीक हैं और जो दूर रहते हैं, वे सब परमेश्वर के अंश हैं। उन सबके लिए मेरी समान भावना होती है। जो खाता हूं, वह शरीर के लिए खाता हूं। इसलिए आनंद में रहता हूं। ऐसा मनुष्य क्वचित् ही कहीं मिलेगा, जिसके जीवन में उतना ही आनंद है जितना मेरे जीवन में है। आनंद के सिवा दूसरी कोई भावना ही नहीं। चित्त का क्षय नहीं होता। इसलिए मेरी शक्ति कायम रहती है। बाह्य वस्तु मैं बहुत कम लेता हूं, लेकिन शरीर में बहुत ताकद है। जैसे चीन के लोग कम जमीन से बहुत ज्यादा पैदा कर लेते हैं, वैसे ही मैं इस छोटे-से शरीर से बहुत बडा उत्पादन – काम निकाल लेता हूं। जीवन में एक संदेश है। इसलिए नित्य-निरंतर स्रोत बहता है। वह सूखता नहीं।

* *

*गीता में दैवी संपत्ति के गुण बताते हुए अभय को पहला स्थान दिया है – **अभयं सत्त्वसंशुद्धिः**, क्योंकि बिना अभय के कोई गुण पनप नहीं सकता। सचाई के बिना सद्गुण का कोई मूल्य नहीं है, परंतु सचाई के लिए भी निर्भयता आवश्यक है। सत्य-अहिंसा का पालन निर्भयता के*

बिना हो नहीं सकता। इसलिए अभय को अग्रस्थान दिया।

सबसे बडा भय तो मनुष्य को होता है मृत्यु का। उसके नाममात्र से मनुष्य भयभीत होता है। उस भय को जीत लिया तो सब जीत लिया। परंतु दूसरे भी अनेक प्रकार के छोटे-छोटे भय होते हैं, उन्हें भी जीतना होता है। सब भयों पर उपाय है नामस्मरण, जिसके सामने कुछ टिकता नहीं। नामस्मरण उपाय है। पर कुछ कोशिश भी करनी पडती है भय से मुक्त होने के लिए।

मैं जब बडौदा में था, तब घूमने जाया करता था। एकबार रेल्वे पुल पर से जाने का मौका आया, तो मुझे भय महसूस हुआ। नीचे 30/40 फीट गहराई और पुल की एक-एक पटरी पार करना – बडा भय महसूस हुआ। धीरे-धीरे पुल पार कर लिया। फिर रोज वही कार्यक्रम रखा। रोज धीरे-धीरे पुल पार करना। ऐसा एकाध महीना किया तो पुल का डर चला गया।

आश्रम में आने के बाद एकबार मैं और काकासाहब (कालेलकर) आबू गये थे। वापस आ रहे थे एक रेल्वे पुल पर से। पीछे से ट्रेन आयी धाड्धाड् करते हुए। काका पार हो गये, मैं पीछे रह गया। उस वक्त मैं चश्मा नहीं पहनता था, आंखें कमजोर थीं। शाम का समय था, अंधेरा होने आया था। मुझे पटरियां दिखायी नहीं दे रही थीं। पर मुझे मालूम था कि ये पटरियां समांतर होती हैं। इसलिए दौडने के लिए मैंने एक ताल तय कर लिया और भगवान का नाम लेते-लेते उस ताल पर दौडने लगा। इंजीन एकदम नजदीक आ गया है यह मैं समझ गया था। काकासाहब दीखते नहीं थे, परंतु उनकी आवाज सुनी, "बायीं ओर कूदो" और मैं कूद पडा। दूसरे ही क्षण ट्रेन वहां से निकल गयी।* बडौदा में जो अभ्यास किया था पुल पर से चलने का, उसका लाभ उस वक्त मिला। उस समय डरता तो मामला खतम था। इस प्रकार के भय होते हैं, वे कुछ स्थूल कार्य करने से जाते हैं, परंतु मुख्य बात भगवान का स्मरण है।

ऐसी ही एक दूसरी घटना है। जेल में मुझे एकांत कोठरी में रखा गया था। छोटी-सी कोठरी थी 8×9 की। रात को मेरा मौन रहता था। एक दिन रात को सोने की तैयारी कर रहा था, तो देखा कि मेरी खटिया के नीचे एक

* इस घटना के बारे में काकासाहब कहते थे – 'विनोबा नीचे कूद पडे और मैंने उन्हें अपनी बाहों में थाम लिया। उस वक्त रेलगाडी की आवाज के साथ-साथ विनोबा के मुख से निकलनेवाला प्रभु-नाम भी सुनायी दिया।' – सं.

सांप है। कोठरी बाहर से बंद थी, मैं बाहर नहीं जा सकता था। और मौन था इसलिए किसी को बुला भी नहीं सकता था। थोडी देर सोचा कि क्या करना चाहिए? क्या मौन का भंग कर किसी को बुलाना चाहिए? फिर मन में आया, व्रत का भंग करना तो ठीक नहीं। और वह, जो आया है, वह मेरा अतिथि है। अतिथि को बाहर कैसे निकाला जा सकता है! मैं और वह दोनों रहेंगे। यों सोचकर सो गया। इतना ही किया कि रोज लालटेन बुझा देता था, उस दिन बुझायी नहीं क्योंकि रात को अगर उठूं तो पैर उस पर न पडे। रोज सोते ही दो मिनट के अंदर-अंदर मुझे नींद लग जाती है, उस दिन दो के बदले ढाई-तीन मिनट लगे होंगे। बाकी गहरी निःस्वप्न निद्रा आयी। सुबह उठकर देखा, वह कहीं चला गया था।

* *

भावी दुनिया के धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक विचारों की और जीवन की बुनियाद शरीरपरिश्रम-व्रत ही हो सकती है। मैं सिर्फ 'शरीरपरिश्रम' नहीं कह रहा हूं, लेकिन 'शरीरपरिश्रम-व्रत' कह रहा हूं। इसका अर्थ समझ में आ ही जायेगा। आज भी दुनिया में सर्वसाधारण जनता शरीरपरिश्रमी ही है। लेकिन वह स्वेच्छा से नहीं, विचार से नहीं, अगतिकता के कारण है। शरीरपरिश्रम-व्रत इससे बहुत भिन्न है।

कर्मयोग के लिए कर्मनिष्ठा चाहिए। कर्मनिष्ठा का अर्थ है, शारीरिक परिश्रम और शारीरिक परिश्रम द्वारा भगवान की पूजा – यानी श्रम तो शरीर से करना है, पर वह भगवान की पूजा समझकर करना है। परिश्रम और पूजा एक ही होना चाहिए। स्थूल परिश्रम-निष्ठा गयी तो पहले ऐहिक नुकसान होगा और बाद में पारमार्थिक नुकसान होगा। और उपासना (पूजा) की भावना गयी तो पहले पारमार्थिक नुकसान होगा और बाद में ऐहिक। इसलिए पूर्ण कर्म के लिए दोनों का होना आवश्यक है।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्,' इस वचन का वास्तविक अर्थ अलिप्त कर्म को अनुलक्षित है, वह ध्यान में लेकर भी या लेकर ही मैं उसका अर्थ शरीरपरिश्रम-व्रत को अनुलक्षित करता हूं। शरीर का शरीर को दे देना। शरीर के लिए शरीर से कमा लें तो बुद्धि सहजता से आत्म-चिंतन के लिए मुक्त रहेगी और अलिप्त कर्म के लिए सामुदायिक अवकाश रहेगा। मुझे लगता है कि इस जीवन में मेरे हाथ से और कुछ हो या न हो, लेकिन यह वस्तु मुझमें पग जाये, तो मेरे लिए सब मिल गया।

इसी विचार के आधार पर, हमारे 24 घंटे कैसे बीतें इस विषय में मेरी एक कल्पना रही। हमारे पास रोज के 24 घंटे हैं। उनमें से आठ घंटे निद्रा या आराम में जायेंगे। हरएक को आठ घंटे आराम लेना ही चाहिए। मैंने निद्रा के बहुत प्रयोग किये हैं। कई दिनों तक 24 में से दो ही घंटे निद्रा लेना, फिर चार घंटे, इस प्रकार दस-दस घंटे सोकर भी देखा। बारिश में भी सोकर देखा – ऊपर से बारिश बरस रही है और मैं कंबल ओढकर सोया हूं। इस प्रकार अनेक प्रयोगों के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि साधारणतया स्वस्थ मनुष्य के लिए आठ घंटे आराम आवश्यक है और उससे ज्यादा की जरूरत नहीं। तो आठ घंटे नींद में जायेंगे।

बचे हुए 16 घंटों में से पांच घंटे स्नान-भोजन आदि दैहिक कार्य में जायेंगे। दो घंटे आध्यात्मिक कार्य में, जिसमें प्रार्थना आदि वाङ्मयीन उपासना और कताई जैसी कोई कर्ममयी उपासना और एक घंटा बचे हुए कार्य की पूर्ति के लिए। तो ये आठ घंटे हो गये।*

बचे हुए आठ घंटे सार्वजनिक कार्य में या नम्र भाषा इस्तेमाल करनी हो तो अपने धंधे में लगायें। इसको हम सार्वजनिक कार्य भी कह सकते हैं, अपना धंधा भी कह सकते हैं, कोई फर्क नहीं पडता। भगवान ने मनुष्य को पेट दिया है, उसमें उसका बहुत बडा उद्देश्य है। धर्म से पेट भरना, 'शरीरयात्रा' चलाना पारमार्थिक कार्य ही है – पारमार्थिक साधना है। जिस काम से रोटी मिलती है और दूसरों की सेवा होती है, वह हमारा धंधा है। जिस काम से दूसरों के हाथ की रोटी छीन ली जाती है, वह धंधा नहीं, वह चोरी है।

पदयात्रा में लोग मुझसे पूछते कि बाबा आप पैदल यात्रा का इतना आग्रह क्यों रखते हैं? मैं कहता, इसके कई कारण हैं, पर एक कारण यह भी है कि हम चाहते हैं कि जरा शरीरश्रम हो। यह मेरा 'ब्रेड-लेबर' है। लोग मुझे खाना देते हैं और मैं दस-पांच मील चलता हूं तो मान लेता हूं कि मेरे हाथों कुछ 'ब्रेड लेबर' हुआ। इस तरह यात्रा के साथ मैंने 'ब्रेड-लेबर' का नाता जोड दिया। उससे पहले तीस साल तक तो 'ब्रेड-लेबर' के सिद्धांत पर ही मेरा जीवन चला। साधारणतः आठ घंटे काम

---

* ब्रह्मविद्या-मंदिर में (1970) विनोबाजी ने कहा था कि सफाई-कार्य को इसी प्रकार उपासना माना जा सकता है। यह भी बताया था कि एकाध घंटा 'अकर्म' के लिए भी रखना चाहिए – सं.

तो मेरा होता ही था, पर कभी-कभी ज्यादा भी होता था। शिक्षक का काम तो मैंने किया ही, पर कभी खेती, कभी पानी सींचना, पिसाई, कताई, बुनाई, धुलाई, बढई-काम, भंगी-काम – तरह-तरह के काम मैं घंटों सतत तीस साल करता रहा।

कांचनमुक्ति का प्रयोग शुरू होने के बाद सन् 1950 में चरखा द्वादशी (तिथि से गांधी-जयंती) के दिन तो मैंने यहां तक अपना निर्णय जाहिर कर दिया कि मेरा जीवन आज तक एक भिक्षुक का जीवन था, आगे भी मुझे भिक्षा पर ही जीना है, परंतु फिलहाल मैंने तय किया है कि इसके आगे केवल श्रम के ही दान का स्वीकार करूंगा। और मैं स्वयं जितना हो सकेगा उतना शरीरश्रम तो करता ही रहूंगा। श्रम पर ही जीवन चलाने का विचार जेल से बाहर आया (1945) तभी से मेरे मन में था। वैसे विचार तो उससे भी बहुत पहले से था, फिर भी उस समय जेल में पक्का निर्णय हो गया। हर बात का एक समय होता है। समय आने से पहले वह विचार व्यवहार में नहीं आता। मुझे लगा कि वह समय अब आ गया है, इसलिए गांधीजयंती के निमित्त से मैंने उसका प्रारंभ कर दिया। यह निर्णय जाहिर किया उस समय मैंने तीन दिन का उपवास भी किया था।

इस प्रकार मैं शरीरश्रम करता रहा तो उससे मेरी बुद्धि की शक्ति बहुत बढी, कम नहीं हुई। शरीरश्रम से जडता आने का डर नहीं। उलटे, विचारों की भाप रोकी जाने के कारण और चिंतन के लिए बहुत अवकाश मिलता रहने के कारण तीव्रता बढती है; इसका प्रत्यक्ष अनुभव है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि जो रात-दिन केवल शरीर-परिश्रम करेगा, उसकी बुद्धि तीव्र होगी। किसी चीज की 'अति' हो जाती है, तो विकास रुक ही जाता है। मैं यही कहना चाहता हूं कि जिस जीवन में शरीरश्रम का अच्छा अंश और उसके साथ चिंतन भी है, वहां अच्छा बुद्धि-विकास होगा। मेरा यही अनुभव है। बचपन में मेरी स्मरणशक्ति अच्छी यानी साधारण मध्यम से कुछ अच्छी थी, पर फिर 60-62 साल की उम्र में वह बचपन से बहुत ज्यादा तीव्र हुई। जो चीज याद रखनेलायक है, उसे मैं नहीं भूलता।* कभी किसी पुस्तक में मैंने अच्छा विचार पढा और वह जंचा तो वह उस भाषा के साथ मेरे ध्यान में रहता

* विनोबाजी ने ऐसे ही एक संदर्भ में कहा है – जो चीज याद रखने की नहीं है, उसे मैं सुनते-सुनते या पढते-पढते ही भूल जाता हूं – सं.

है। इसके कई कारण हैं, पर एक कारण यह जरूर है कि जीवन में शरीर-परिश्रम का पर्याप्त अंश रहा है। शरीर-परिश्रम से जीविका हासिल करने के एक बडे सिद्धांत को मान्य कर उसी के आधार पर नयी तालीम की योजना बनी है।

दो टुकडे नहीं

व्यक्तिगत जीवन व्यवस्थित करने में सामूहिक जीवन की मदद मिलती है। बापू के पास आने के बाद मैं घंटी बजते ही उठता था और प्रार्थना की हाजिरी मेरी कभी चूकती नहीं थी। वहां सामूहिक प्रार्थना न होती तो व्यक्तिगत जीवन को व्यवस्थित बनाने में मुझे जो सफलता मिली, वह न मिलती।

असल में जीवन के सामाजिक (सामूहिक) और व्यक्तिगत, ऐसे दो टुकडे होने ही नहीं चाहिए। जब तक ये दो टुकडे एक नहीं होते तब तक जीवन में खींचातानी बनी रहेगी। हमारा हरएक व्यक्तिगत कार्य सामाजिक और हरएक सामाजिक कार्य व्यक्तिगत होना चाहिए। हमारे और समाज के बीच दीवाल नहीं होनी चाहिए। जब मैं अपने बारे में सोचता हूं, तो खुदका खाना, सोना भी सामाजिक जिम्मेवारी समझता हूं। यह भेद नहीं कर पाता कि ये मेरे निजी कार्य हैं। यानी उन्हें समाजसेवा का अंग मानता हूं। रात को ठीक समय पर सोना, निःस्वप्न निद्रा पाना, ठीक समय पर उठना, यह सारा सामाजिक सेवा के कार्यक्रम का अंग समझता हूं। मुझे यह भास नहीं होता कि मैं इतना समय सामाजिक सेवा में लगाता हूं और इतने घंटे व्यक्तिगत काम में देता हूं। 24 घंटे में मेरी जितनी क्रियाएं होती हैं, वे सबकी सब सामाजिक सेवा की होती हैं, ऐसा मैं अनुभव करता हूं। इसमें कोई शक नहीं कि जिसका आम जनता से संपर्क कम हुआ, उसने ईश्वर का एक बहुत बडा साक्षात्कार खोया। ईश्वर के तीन साक्षात्कार होते हैं – एक आम जनता के रूप में, दूसरा विशाल प्रकृति के रूप में, तीसरा अंतर्यामी के रूप में। तीनों मिलकर ही परमात्मसाक्षात्कार पूर्ण होता है।

अनुभूति

'विचार-पोथी' में मैंने एक विचार लिखा है कि किसी ने मुझे पूछा, सामने के दीपक के विषय में आप जितनी निश्चितता से कह सकते हैं कि 'वह है', क्या उतनी ही निश्चितता से ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कह सकते हैं? मैंने उत्तर दिया, परमेश्वर के अस्तित्व के विषय में तो मैं निश्चित ही हूं। मुझे तो इस बात का यकीन नहीं है, या मैं यकीन नहीं दिला सकता कि सामने जो दीपक है, उसका अस्तित्व है या नहीं!

यह वचन 1928 का है। इस बात को तीस साल (1958) हो चुके। ईश्वर को साक्षात् देखने का आभास मुझे कितनी ही बार हुआ है। कुछ श्रद्धा के कारण भी ऐसा होगा, जो कुटुंब से मुझे मिली थी। कुछ ग्रंथों पर विश्वास है, उस कारण भी होगा। परंतु उतने पर मेरी श्रद्धा निर्भर नहीं है, बल्कि वह आंखों से देखती है कि सामने ईश्वर है। जो भिन्न-भिन्न प्राणी, जीव, मनुष्य सामने खडे हैं, ये सारे उस ईश्वर के भिन्न-भिन्न संकल्प हैं।

अक्सर पूछा जाता है, साक्षात्कार की क्या कल्पना है? एक बात तो यह कि बुद्धि को जंच जाये तो साक्षात्कार को आधार मिलेगा। बुद्धि को ग्रहण नहीं होता तब तक साक्षात्कार का प्रश्न पैदा नहीं होता। प्रथम बुद्धि को ग्रहण होना चाहिए। उसका अनुभव आना बाद की बात है। बुद्धि को जंचना ज्ञान है और उसके बाद का अनुभव है, विज्ञान या साक्षात्कार!

मिसाल के तौर पर करुणा का साक्षात्कार लें। विश्व में करुणा भरी है, यह बात बुद्धि को जंचनी चाहिए। विश्व में करुणा की योजना है। मेरी मां की मुझ पर करुणा न होती तो मेरा संवर्धन न होता; और मुझे मेरे अपने संवर्धन की आवश्यकता है। बुद्धि को करुणा की आवश्यकता महसूस होनी चाहिए, और यह बात ध्यान में आनी चाहिए कि सृष्टि में करुणा है। फिर करुणा का अनुभव होगा। जो मां को बच्चे के लिए होती है, ऐसी करुणा का हम अनुभव करेंगे, तो वह करुणा का साक्षात्कार होगा।

करुणा का साक्षात्कार

मुझमें जो करुणा है, वह व्यक्तिगत नहीं है, समाज के लिए है। जैसे फलाना मनुष्य बीमार पडा, या मरा तो मुझ पर कुछ भी असर नहीं होता है, इतना मैं कठोर हूं। लेकिन कुल जमात के लिए जो करुणा मुझमें है,

वह नहीं होती, तो जीवन ही खतम हो जाता। मेरा एक तत्त्व-विचार है कि जहां आप समानरूप से कारुण्य चाहते हैं, वहां व्यक्तिगत आकर्षण नहीं होना चाहिए। नहीं तो ईर्षा-मत्सर राजाओं के पास ही नहीं, महापुरुष के साथ रहनेवालों में भी चलता है। इसलिए मैं मानता हूं कि भूतदया का विस्तार हुआ तो उसमें प्रेम की उछल-कूद नहीं रहेगी, बल्कि गहराई रहेगी, जैसे गहरा पानी शांत होता है। आकाश व्यापक बना तो शून्य हुआ।

यह साक्षात्कार करुणा-गुण तक ही सीमित है। एक छोटा-सा साक्षात्कार है। इसके अलावा व्यापक साक्षात्कार भी होते हैं, जिसमें अनेक प्राचीन पुरुषों का भी संबंध आता है।

प्राचीनों से संपर्क

प्राचीन पुरुषों की आवाज वातावरण में फैली हुई है। वह ग्रहण करने की शक्ति जिसके पास होगी, उसको वह स्पर्श करेगी। जैसे रेडियो पर हम दूर की आवाज सुनते हैं। कब? जब हमारे पास रेडियो-सेट होता है तब। रेडियो-सेट न होगा तो हम वह आवाज सुन नहीं सकेंगे। लेकिन तब भी वातावरण में वह आवाज भरी पडी है। विज्ञान ने यह बात सिद्ध कर दी है। वैसे ही प्राचीन पुरुषों की आवाज का 'साक्षात्कार' हो सकता है, बशर्ते वैसा रेडियो-सेट हमारे पास हो। वह आवाज वातावरण में भरी पडी है।

मैं कई दफा कहता हूं कि बापू से मेरी बातचीत होती है। जब वे थे, तब उनसे मिलने के लिए पांच मील चलकर जाना पडता था। दो घंटे लग जाते थे। तकलीफ होती थी। अब आंख बंद करता हूं तो एक सैकंड में मुलाकात हो जाती है। प्रश्न पूछ सकता हूं, उत्तर भी मिलते हैं। कुछ भी तकलीफ नहीं। तब तो शरीर का बंधन था। अब उनको मुक्ति मिली है। वे सबदूर हैं। बंधन हैं नहीं। मैं हूं बंधन में अभी। लेकिन जब तक देह में हूं, उनकी ओर से प्रेरणा मिलती रहेगी।

वैसे ही मैंने यह भी कई दफा कहा है कि मैं यात्रा कर रहा हूं तब महसूस करता हूं कि मेरे आगे राम जा रहे हैं, पांच पांडव जा रहे हैं, बुद्ध, महावीर, शंकर, रामानुज, कबीर, नामदेव, सब जा रहे हैं। उनके पीछे मैं जा रहा हूं। उनका साथ है। बाबा अकेला नहीं। कभी भी अकेलापन महसूस नहीं होता। निरंतर यही महसूस होता है कि वे साथ हैं।

तूफान-यात्रा की बात है। मेरा मुकाम बेतिया (बिहार) में था। एक दिन रात को सपना आया। एक सात्त्विक चेहरे का व्यक्ति मेरे सामने बैठकर मुझसे बात कर रहा था। विनयांजलि पर चर्चा चल रही थी। उसने दो भजनों का अर्थ पूछा था, कुछ शंकाएं पूछी थीं। मैं समझा रहा था। वह एकाग्रता से सुन रहा था और बार-बार सम्मतिदर्शक सिर हिला रहा था। थोडी देर के बाद मेरे ध्यान में आया कि ये तो साक्षात् तुलसीदासजी हैं, जो मुझसे बात कर रहे हैं। और मेरी नींद टूट गयी। मैं सोचने लगा, यह क्या हुआ? तो स्मरण हुआ कि आज तुलसीजयंती है। हर साल तुलसीजयंती के दिन मैं तुलसीरामायण या विनयपत्रिका देख लेता हूं और तुलसीदासजी का स्मरण कर लेता हूं, परंतु उस दिन तुलसीजयंती का स्मरण मुझे नहीं रहा था। तो रात को तुलसीदासजी मुझसे बात करके गये। उस दिन उन भजनों के नये अर्थ मुझे सूझे।

एकबार (ब्रह्मविद्या-मंदिर में) मनोहरजी के एक प्रश्न के सिलसिले में मैंने ज्ञानेश्वरी की एक ओवी का विवेचन किया। उस रात को सो गया तो ज्ञानदेव की विन्या के साथ बात हुई। ज्ञानदेव ने कहा, ''विन्या, यह तो तू ठीक समझा है कि **'बोला-बुद्धीसी अटक'** यह जो मैंने कहा है, वह **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** इस उपनिषद-वाक्य पर से कहा है और वहां 'वाचा-मनस्' के बदले **'बोला-बुद्धि'** शब्द रखा; लेकिन वह सहज ही रखा ऐसी बात नहीं है। उपनिषद के 'मनस्' में बुद्धि का अंतर्भाव मानना चाहिए और ज्ञानेश्वरी के 'बुद्धि' में मनस् का अंतर्भाव मानना चाहिए। लेकिन मैंने बुद्धि शब्द क्यों इस्तेमाल किया, यह उपनिषद में जो मनस् है, उस पर से तू सोच ले तो ध्यान में आयेगा।'' इतनी बात हुई। फिर मैंने सोचना शुरू किया, चला आधा घंटा।

परंधाम में मन की एक विशिष्ट अवस्था में ज्ञानदेव का मुझ पर विशेष अनुग्रह हुआ। परंधाम में मुझे तीन लाभ हुए – (1) शून्य चित्त का अनुभव (2) भरत-राम की प्राप्ति और (3) ज्ञानदेव का अनुग्रह। ऐसा संपर्क हो जाता है।

प्रत्यक्ष संवाद

तेलंगाना में (18 अप्रैल 1951) पोचमपल्ली में हरिजनों ने जमीन की मांग की और सौ एकड जमीन दान में मिल गयी। उस रात को तीन-चार घंटे ही मुझे नींद आयी। यह क्या घटना घट गयी? मैं सोचने लगा।

मेरी भगवान पर श्रद्धा है और भगवान के बाद नंबर दो में गणितशास्त्र पर विश्वास है। तो मेरा गणित चला। अगर सारे भारत के भूमिहीनों के लिए जमीन मांगना हो तो भूमिहीनों को संतोष देने के लिए पांच करोड एकड जमीन चाहिए। क्या इतनी जमीन ऐसे मांगने से मिलेगी? फिर साक्षात् ईश्वर से संवाद चला। बिलकुल यहां सामनेवाले से बात करता हूं, वैसी बात हुई। उसने कहा, 'अगर इसमें डरेगा और शंका रखेगा, तो तेरा अहिंसा आदि पर जो विश्वास है, उसको हटाना होगा। तब तुझे अपना अहिंसा का दावा छोड देना होगा। इसलिए श्रद्धा रख और मांगता जा।' और फिर एक बात कही, 'जिसने बच्चे के पेट में भूख रखी है, उसने माता के स्तन में दूध रखा है। वह अधूरी योजना नहीं बनाता।' अब मेरा समाधान हो गया। और दूसरे दिन से मांगना शुरू किया।

निर्विकल्प समाधि

भूदान-यात्रा की बात है। चांडिल में मैं मालिग्नंट मलेरिया से बीमार हो गया। बुखार तेज था, अशक्तता इतनी थी कि मेरे बचने की किसी को आशा नहीं थी। उस वक्त मेरे मन की दोनों तरह से अच्छी तैयारी थी। यदि भगवान मुझे उठा ले जाता तो मैं नहीं कह सकता कि मुझे थोडा भी दुःख होता। लेकिन जब एक दिन (17 दिसंबर 1952) मुझे भास हो रहा था कि अब यहां से जाना है और बुखार भी बहुत था, उस दिन लोगों से मैंने कहा कि मुझे जरा बैठाओ। उन्होंने पकडकर मुझे बैठाया। मैं सीधा चिंतन में लग गया। मेरा ख्याल है कि कोई पचीस मिनट तक या आधा घंटा मैं चिंतन में बैठा रहा। उस समय मुझे जो आनंद और दर्शन हुआ वह, बावजूद इसके कि ध्यानयोग का मुझे बहुत अभ्यास है, उससे पहले कभी नहीं हुआ था। एक निःसीम, अबाध आनंद मिला, अपार शांति मिली। लगता था, मानो मैं ईश्वर के पास पहुंच रहा हूं, जैसे उसे साक्षात् देख रहा हूं। आप उसे आभास कहिए, मिथ्या कहिए, कुछ भी कहिए। शंकराचार्य ने तो दुनिया को ही मिथ्या बतलाया है। यह अनुभव दुनिया से बाहर का नहीं है, इसलिए आप मिथ्या कह सकते हैं। आधे घंटे के बाद मैं जाग पडा और अपनी नयी दुनिया से बाहर आया। जिसे शास्त्र में निर्विकल्प समाधि कहते हैं, वैसा वह अनुभव था। निर्गुण स्वरूप का वह अनुभव था।

मेरे शरीर को पसीना आया था और बुखार भी उतर गया था। मेरी तो

तैयारी थी। जिसने दुनिया का बोझ उठाया है, उसीने मेरा भी बोझ उठाया है। अगर वह मुझे बुलाता, तो मैं तैयार था। दूसरी तरफ मन की यह भी तैयारी थी कि आरोग्यलाभ हुआ और चंगा हो गया तो बहुत-से शारीरिक और मानसिक दोष भी निकल गये होंगे और मुझे मानसिक बल मिलेगा।

मैं पहले से शरीर से कमजोर था। शरीर की अंतःशक्ति भी कम हो गयी थी। लेकिन मन की हालत देखता था तो उत्साह ही उत्साह भरा था। इतना कि वेदमंत्र याद आया, '**हन्ताऽहं पृथिवीं इमां इह वा इह वा**' – लगता है कि इस पृथ्वी को इधर फेंकूं या उधर फेंकूं!

सगुण स्पर्श

यात्रा बिहार के मुंगेर जिले में चल रही थी। उलाव गांव में मुकाम था। एक शिवालय के तहखाने में सभा थी। अक्सर शिवालय भूमि के नीचे होता है और ऊपर सभागृह होता है। यहां उलटा था। सभागृह नीचे था और ऊपर शिवालय था। सभा में मेरे बैठने का स्थान ठीक शिवलिंग के नीचे था। वहां बैठे हुए मुझे अनुभव हुआ कि भगवान शिव मुझ पर आरूढ हुए हैं और मैं नंदी हूं। अब 'अधिरूढ समाधियोग' का नया अर्थ मेरे ध्यान में आया। अब तक मैं उसका अर्थ करता था योगारूढ, योग पर आरूढ हुआ। परंतु अब तो अर्थ यह हुआ कि योग ही जिस पर आरूढ हुआ है, योग का जो वाहन बना है। यह सगुण स्पर्श था। तब तक मैं कार्यकर्ताओं को डांटता था, उन्मत्त जैसा बोलता था। मेरे बाद के भाषणों में इस दृष्टि से फरक दिखायी देगा, अगर सूक्ष्मता से देखेंगे।

साक्षात् आलिंगन

अगस्त 22, 1957 का दिन था। कर्नाटक में प्रवेश करने के दो दिन पहले की बात। मैं रात को मच्छरदानी के अंदर सोया था। लगा, बिच्छू ने काटा है, तो बाहर आया। बिस्तर की सफाई की तो उसमें कानखजूरा निकला। सतत वेदना हो रही थी। इतनी वेदना कि एक जगह बैठ नहीं सकता था, इधर से उधर घूम रहा था। असह्य वेदना थी। इस कार्यक्रम में पांच घंटे निकल गये। आखिर बिस्तर पर लेट गया। आंखों से झर-झर आंसू बहने लगे। वल्लभ को लगा, वेदना से आंसू आ रहे हैं। मैंने कहा, मुझे कोई दुःख नहीं है, तुम सब लोग सो जाओ। मैं मन ही मन बोल रहा था –

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये सत्यं वदामि च भवान् अखिलान्तरात्मा
भक्तिं प्रयच्छ रघु-पुंगव निर्भरां मे कामादि-दोष-रहितं कुरु मानसं च

परंतु दुःख दूर हो, यह इच्छा तो थी ही। 'सत्यं वदामि' कह रहा था, परंतु 'झूठं वदामि' ही था वह। अहंकार ही था वह! मैंने मन ही मन जोर से कहा – कब तक सतानेवाले हो? और मेरी वेदनाएं पूर्णतः खतम हो गयीं। मुझे आलिंगन का अनुभव आया। मेरी आंखों से आंसू बहने लगे। मैं सो गया और दो मिनट में मुझे नींद लग गयी। यह अनुभव सगुण था।

अद्वैत दर्शन

महाराष्ट्र की पदयात्रा में मैं पंढरपुर पहुंचा। वहां विठोबा के मंदिरवालों ने दर्शन के लिए आने का मुझे निमंत्रण दिया। मेरे साथ सभी धर्म-जाति के लोग थे। उनके साथ मैंने विठोबा का दर्शन किया (29.5.58)। उस दिन जो दृश्य मैंने देखा, उसे मैं जीवनभर भूलूंगा नहीं। उसकी बहुत गहरी छाप मेरे हृदय पर अंकित हुई है। विठोबा के चरणों के पास मैं खडा था, उस समय मुझे जो अनुभव हुआ, उसको शब्दों में रखना कठिन है। मेरी आंखों से लगभग एक घंटे तक आंसुओं की धारा बहती रही। मैंने उस मूर्ति को देखा, वहां मुझे कोई पत्थर नहीं दिखायी दिया। वहां मैंने साक्षात् भगवान का रूप प्रकट होते देखा। जब मैं वहां जाने लगा, तब किनकी संगति में जा रहा था? वे थे रामानुज, नम्मलवार, ज्ञानदेव, चैतन्य, कबीर, तुलसीदास। बचपन से जिनकी संगति में आज तक रहा, उन सबकी मुझे याद आ रही थी और जिनकी संगति में मैं पला उन सबका स्मरण मुझे हो रहा था। दर्शन के लिए जब उस मूर्ति के सामने अपना सिर झुकाया, तब मैंने अपनी मां को वहां देखा, अपने पिता को वहां देखा, अपने गुरु को वहां देखा। मैंने किसको वहां नहीं देखा? जितने लोग मुझे प्रिय हैं, वे सब मुझे वहां दीखे। उन सबको मैंने वहां तृप्त होकर देखा।

मैंने ईश्वर के स्वरूप को इस तरह समझा है कि वह एक चैतन्यसमुद्र है और उसमें लहरें उठती हैं और गिरती हैं, उछलती हैं और समुद्र के अंदर ही फिर घुलमिल जाती हैं। फिर से नयी लहरें उठती हैं और फिर से घुलमिल जाती हैं। एक जीवात्मा यानी ईश्वर की एक लहर उठी। एक जन्म, दो जन्म, तीन जन्म उछलती रही और आखिर उसके अंदर लीन हो गयी, तो जीवात्मा मुक्त हो गया। कोई ऊंचा नहीं, कोई नीचा नहीं, सिर्फ तरह-तरह के संकल्प उठते हैं।

4 : मुक्तः

सन् 1970 से 1982

: अभिध्यान :

: समाधि :

अभिध्यान

आज हमारा देश और दुनिया इस हालत में है कि इधर अहिंसा पर विश्वास है और उधर हिंसा की ताकत छोड नहीं सकते। परंतु हमारे देश की विशेषता यह है कि हमारी सभ्यता के और गांधीजी के कारण अहिंसा-शक्ति पर कुछ अधिक विश्वास है। इसलिए अगर सामाजिक समस्याएं अहिंसा-शक्ति से हल करने की कोई युक्ति मिल जाती है, तो हिंदुस्तान और दुनिया के लिए वह अत्यंत आवश्यक है। और इसलिए मेरे मन में यही बात थी कि अहिंसा की खोज में अपनी बुद्धि लगायें। यह केवल बुद्धि का ही सवाल नहीं, इसमें अपना जीवन भी अर्पण करना होगा, हृदय की वृत्ति तन्मय करनी होगी। अगर हम अपनी पूरी ताकत जनशक्ति के विकास में, अहिंसा-शक्ति की खोज में लगायेंगे, तो हमारा देश ऊपर उठेगा, यह मेरा दृढ विश्वास है।

बाकी तो लिख ही रखा है 'अभंग-व्रतें' पुस्तक में –

अभय-दातार एक भगवान, दे वरदान शून्य दास को
'विन्या' विनाभूत हो सार्थनाम, परिपूर्ण-काम आत्माराम

[अभय-दातार भगवान इस शून्य दास को वरदान दें कि 'विन्या' विना-भूत (यानी बिना भूतकाल का = शून्य) हो जाये; ताकि उसका 'विन्या' (= बिना) नाम सार्थ हो। वह परिपूर्ण-काम हो – आत्माराम बन जाये – अपने आत्माराम में ही रममाण रहे।]

मुक्ति की राह पर

1970 में मैं यहां (ब्रह्मविद्या-मंदिर, पवनार) आया। यहां सफाई के काम में काफी समय देता रहा। लोग पूछते थे कि आप सफाई के काम में इतना समय क्यों देते हैं? एक बार मैंने जवाब में कहा, ज्ञानेश्वर ने कहा है कि जो भगवान के द्वार पर एक क्षण भी खडा रहता है, उसे चार प्रकार की मुक्ति सध जाती है। भगवान राम (भरत-राम-मूर्ति) हमारे आंगन में आये हैं, सफाई का काम करते हैं तो उनकी सन्निधि में रहने का आनंद मिलता है। और मैंने चार प्रकार की मुक्ति साध ली है।

एक है कर्म-मुक्ति। 1916 से 66 तक सेवाकार्य करने के बाद मैंने सूक्ष्म-प्रवेश किया। तभी वास्तव में कर्म-मुक्ति हो गयी थी। परंतु बिहार-दान के बडे काम के सिलसिले में उधर थोडा ध्यान देना पडा।

लेकिन जब से (अक्तूबर 1970) मैंने क्षेत्र-संन्यास ले लिया तब से यह जो थोडा काम करता था वह भी बंद हो गया। यानी कर्म-मुक्ति हुई। दूसरी है ग्रंथ-मुक्ति। इसके आगे मैं ग्रंथलेखन नहीं करूंगा। तीसरी है अध्ययन-मुक्ति। मैं क्या पढता हूं? तो कुछ नहीं। चौथी अध्यापन-मुक्ति। 1916 से मैंने पढाना शुरू किया। अपने मित्रों को ही पढाता था। बाद में आश्रम के लोगों को पढाया। लगभग 60 साल मेरा अध्यापन-कार्य चला। वह भी समाप्त हो गया है। इस तरह चार प्रकार की मुक्ति साधी।

सफाई के काम के पीछे दूसरी दृष्टि ध्यानयोग की थी। सफाई करने के बदले मैं माला लेकर जपता तो कोई यह न कहता कि बाबा का समय व्यर्थ जा रहा है। परंतु मैं कचरा उठाता हूं तो वह भी जप ही हो जाता है। एक-एक तिनका उठाता और उसके साथ नामस्मरण करता था। उसमें मन काम नहीं करता। वह एक ध्यानयोग ही था। जो आदमी बाहर जरा भी कचरा सहन नहीं करेगा, वह अंदर का कचरा भी सहन नहीं करेगा। कचरा निकाल देने की जोरदार प्रेरणा इससे मिलती है। यह आध्यात्मिक प्रेरणा है। परंतु इस काम को भी छुट्टी जल्दी ही मिलेगी।

वैसे ही गीता-प्रवचन आदि पुस्तकों पर हस्ताक्षर देता था, वह भी (जुलाई 1972 से) बंद कर दिया। उसका प्रचार चालीस साल – 1932 से 1972 – तक किया। अब उसके प्रचार की वासना मुझे नहीं।

अलावा इसके, 25 दिसंबर (1976) के पवित्र दिन मैंने कुछ बातें जाहिर कर दीं। मैंने कहा – आज से मैं किसी संस्था का संरक्षक आदि नहीं रहूंगा और किसी संस्था को सलाह नहीं दूंगा, चाहे वह मेरी अपनी स्थापित की हुई संस्था ही क्यों न हो। दूसरी बात, इसके आगे जो भी चर्चाएं होंगी वे व्यक्तिगत तौर पर होंगी। चर्चा के विषय भी जाहिर कर दिये – विज्ञान और अध्यात्म। विज्ञान बहुत आगे बढ गया है, इसलिए मैंने उसका पीछा छोड दिया है। सिर्फ उतने ही विज्ञान से संबंध रखा है, जो शारीरिक आरोग्य से संबंधित है। उस विज्ञान पर बातें हो सकती हैं। दूसरा विषय है अध्यात्म। यानी ब्रह्म, माया, जीव इत्यादि पारिभाषिक तत्त्वज्ञान नहीं; **हृदयग्रंथेर् विच्छेदकरं अध्यात्मम्।** हृदय की गांठें खोलने-वाला, चित्तशुद्धि करनेवाला अध्यात्म। इन दो विषयों के बारे में कुछ कहने-सुनने के लिए जो आना चाहेंगे, आ सकते हैं। मैंने एक और बात

कही कि इसके आगे कोई भी चर्चा एकांत में नहीं होगी।

क्षेत्र-संन्यास

(तारीख 2 नवंबर 1969 को) मैं 'स्वगृह' (भारत अर्थात् भारत-यात्रा) से 'निजगृह' (वर्धा) आया। सात दिन सेवाग्राम रहा। मैंने तय किया था कि मैं सात-सात दिन का ही कार्यक्रम तय करूंगा। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि उससे ताजगी रहेगी और उसके साथ-साथ सावधानी भी। भले ही सात-सात दिन करके एक ही स्थान में सालभर क्यों न रहें।

(सेवाग्राम और शांतिकुटी, गोपुरी के बाद) 7 जून (1970) को मैं ब्रह्मविद्या-मंदिर, पवनार आ गया। चार साल पहले इसी दिन सारी सेवा बापू को समर्पित कर मुक्त होकर सूक्ष्म में प्रवेश किया था, इसलिए उस दिन ब्रह्मविद्या-मंदिर में जाने का तय किया। वहां मैंने बहनों को कहा कि मैं अपने को बांध लेना नहीं चाहता हूं। उधर बिहार में नक्सलवादियों ने सर्वोदय कार्यकर्ताओं को धमकी दी, यह खबर सुनकर जयप्रकाशजी अपना कुछ दिन आराम करने का कार्यक्रम छोडकर गांव-गांव में घूम रहे हैं और हम अपना दिमाग बंद रखें, यह हो नहीं सकता।

इस प्रकार 'ओपन माईंड' रखकर वहां रहा। और हिंदुस्तान में कहीं कुछ घटना हो जाये तो जाने का सोच सकते हैं, ऐसा खुला चित्त रखकर वही रहने का विचार स्थिर कर लिया। सोचा कि इसके आगे ब्रह्मविद्या को मजबूत करने की तरफ ध्यान दूंगा। ऐसे वहां का काम तो सर्वसम्मति से चलता था। बाकी कोई व्यक्ति मेरे पास आयेगा और दिल की बात खोलकर सामने रखेगा, व्यक्तिगत तौर पर प्रश्न पूछेगा तो उसको जवाब दूंगा, ऐसा सोचा।

एकाध महीने के बाद (6 अक्तूबर 1970) मैंने कह दिया कि कल से मैं स्थानकवासी होनेवाला हूं। जैनों में एक आचार है स्थानकवास। जैसे अनेक वस्तुओं का त्याग करते हैं वैसे अनेक स्थानों का त्याग करना। तो मेरा आज से स्थानकवास शुरू हुआ। ऐसे देखें तो हर दिन पवित्र होता है। लेकिन 7 अक्तूबर मेरे लिए विशेष महत्त्व का दिन है। चालीस साल पहले 7 अक्तूबर को मैंने गीताई लिखना प्रारंभ किया था। इसलिए इस दिन से मैंने 'डिटेंशन कैंप' में प्रवेश किया। जैनों की परिभाषा में स्थानकवास, हिंदुओं की परिभाषा में क्षेत्रसंन्यास, आधुनिक

परिभाषा में 'डिटेंशन कैंप'। जब मनुष्य अपने को इस तरह रोक लेता है, तब सबको सुविधा होती है। इस जगह से न हटने का यह जो विचार है, वह मेरा अपना विचार नहीं है। अंदर से ही आवाज आयी, उसे मैंने आदेश नाम दे दिया।

सूक्ष्मतर में

क्षेत्र-संन्यास का यह विचार पुराना ही है। आत्मोन्नति के लिए और ध्यान के लिए इस तरह क्षेत्र-संन्यास लेते थे। परंतु मेरा विचार वैसा नहीं था। मेरा यह सूक्ष्मतर में प्रवेश था और उसके अंतर्गत समूह का ध्यान था, मतलब वह समूह का अभिध्यान करते हुए था। कर्म केवल बाहरी हलचलों से नहीं होता। क्रिया जैसे-जैसे सूक्ष्म में जाती है, वैसे-वैसे कर्म बढता है। अब अवस्था आ गयी थी सूक्ष्मतर में प्रवेश करने की। इससे पांच साल पहले सूक्ष्म में प्रवेश किया था, परंतु तब **प्रवाहपतितं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम्,** ऐसी स्थिति थी। बिहारदान का काम चल रहा था और वह एक हद तक आया, तब तक काम करना पडा। अब वहां लोग उसे पूरा करने में लगे थे। जयप्रकाशजी ने जान की बाजी लगायी थी। इसलिए मैं भारत के मध्य में आकर बैठा।

सूक्ष्मतर में सृष्टि को सामने रखकर उसमें ईश्वरीय स्वरूप का ध्यान करने की, लोगों को अभिमुख रखकर अंतरात्मा में लीन हो जाने की बात है। उसके लिए अपेक्षित परिणाम यह है कि जो व्यक्ति यह प्रयोग करता है, वह शून्य-शून्यतर में जायेगा। उसकी अपनी कसौटी यही होगी कि शून्यतर में जाये। यह उसकी अपनी अनुभूति होगी और उसके अपने लिए परिणाम होगा। और समाज के लिए अपेक्षित परिणाम यह होगा कि अणुशक्ति की तरह कर्म सूक्ष्म होगा, पर परिणाम स्थूल कर्म की अपेक्षा अधिक होगा। जैसी आण्विक शक्ति है वैसा ही यह सूक्ष्मतर है। इस विषय में स्थूल स्पष्टीकरण शब्दों में नहीं दिया जा सकता।

उन दिनों में हमारे साथियों ने एक (ग्राम-स्वराज्य-निधि-संग्रह का)* काम पूरा किया था। उस समय मैंने कहा था – यह काम बहुत सफल हुआ, ऐसा मैं मानता हूं। लोकमान्य तिलक के लिए स्वराज्य फंड

---

* 1970 में विनोबाजी के अमृत-महोत्सव के अवसर पर एक करोड रुपयों का निधि इकट्ठा करने का संकल्प किया गया था। – सं.

इकट्ठा किया गया था, तब वे कीर्ति के शिखर पर थे। मेरा ऐसा नहीं है। देश में बहुत-से लोग होंगे, जिनके मन में मेरे लिए आदर होगा; लेकिन ग्रामदान का काम उन्हें 'बोगस' लगता होगा। यह मेरी अपेक्षा से बाहर नहीं। मैंने बिहार में कहा था कि भूदान का काम नगद है; जितना मिला, उतना बांटा, 'डेफिनेट' है। लेकिन ग्रामदान का काम ऐसा नहीं है। ग्रामदान के सिलसिले में मैंने कहा था कि इसमें से या अनंत निकलेगा या शून्य! बीच की चीज मिलेगी नहीं। आज वह शून्यवत् दीख रहा है। उसमें से अनंत निकले, इसलिए जयप्रकाशजी कोशिश कर रहे हैं और हमारे बाकी साथी भी कर रहे हैं। मेरा विश्वास है कि उनकी यह कोशिश सफल होगी, क्योंकि जमाने की यह मांग है।

लेकिन मैं एक जगह पर पक्का हो गया था और मेरा मानस मौन की ओर झुका हुआ था। शरीर भी बहुत कमजोर हुआ था। लोग पूछते, अभी आपका क्या चिंतन चलता है? मैं कहता, इन दिनों मेरे मन में कुछ भी नहीं होता है। मन ही नहीं होता। सुबह घूमता हूं तब शुक्रतारा सामने ही दीखता है, वह देखता हूं। लोग इधर-उधर जाते हैं, उन्हें देखता हूं। पेड दीखते हैं, उन्हें देखता हूं। केवल आनंद! ऐसा मेरा बहुत-सा समय बेमन (अ-मन) जाता है। जब लोगों से चर्चा करता हूं, तब बुद्धि काम करती है, मन नहीं।

देश की परिस्थिति के बारे में विचार करना बंद कर दिया है। वह सौंप दिया है भगवान पर! वैसे ही, ध्यान में व्यक्तिविशेष का नाम नहीं रहता। ईश्वर के सिवा दूसरा चिंतन ही नहीं है। हां, अखबार देख लेता हूं, कहां क्या चला है, थोडी जानकारी रखता हूं। चारों ओर जो चला है, खास कर इन दिनों (1971) पूर्व बंगाल में जो चला है, उस तरफ ध्यान है – अभिध्यान चलता है। बाकी यहां केवल 'रेफरन्स बुक' जैसा हूं। जो और जितना उपयोग करेगा, उसे उतना उपयोग होगा।

फिर लोग पूछते थे, आपका आगे का कार्यक्रम क्या है? मैं कहता, आज चला है अभिध्यान, बाकी **को जाने कल की!** गांधीजी की एक बात मैंने कभी मानी नहीं – रोज डायरी लिखने की। मुझ पर प्राचीनों का वरदहस्त है। उन्होंने कहा है, भूत की आसक्ति और भविष्य की चिंता छोडो।

अतीताननुसंधानं भविष्यदविचारणम्
औदासीन्यमपि प्राप्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्

मुझ पर इसका प्रभाव है। मैं भूत को याद नहीं करता हूं और भविष्य की चिंता नहीं करता। लोग मुझे कहते हैं, आप अपनी आत्मकथा लिखिए। लेकिन मैं अगर लिखने बैठूंगा तो वह अनात्मकथा होगी। और वे विस्मरण के प्रयोग होंगे, क्योंकि बाबा है भुलक्कड। बहुत-सा भूल ही गया हूं और भूलता जा रहा हूं। मैं भूतकाल का बोझ नहीं होने देता।

मेरा अभी जो (अभिध्यान) प्रयोग चल रहा है, उसमें दो बातें हैं – दुनिया का स्मरण करना और मानसिक रीति से आशीर्वाद भेजना। यह स्मरण दुनिया के लिए करना। और दुनिया के लिए यानी मेरे लिए, ऐसा कहा कि वह अपने लिए हो जाता है। मेरा जो दर्शन है वह उसी पद्धति का है।

मैं सबको कहता हूं कि हर माह मुझे एक पत्र लिखें। मैं जवाब नहीं दूंगा; लेकिन पत्र पढ़ूंगा और उस पर चिंतन करूंगा, उसमें जो शुभ होगा उसके साथ मानसिक संकल्प जोड दूंगा। अभिध्यान का परिणाम दो बिंदुओं पर निर्भर है। एक है बाबा का बिंदु – वहां पूर्ण निरहंकारिता हो। दूसरा उस छोरवाला बिंदु – वहां पर रेडियो सेट यानी 'रिसीव्हिंग सेट' हो। वहां मन मुक्त होना चाहिए, तब परिणाम आयेगा।

मेरा अभिध्यान पांच विषयों का था (फरवरी 1973) – **शं ना र ग दे**। शंकराचार्य ने पंचायतन पूजा शुरू की, उसे **शंनारगदे** कहते हैं। '**शं**' यानी शंकर; '**ना**' यानी नारायण; '**र**' यानी रवि – सूर्य; '**ग**' यानी गणपति – गणेश; और '**दे**' यानी देवी। बाबा का **शंनारगदे** क्या है? शं यानी सबका कल्याण करनेवाला शंकर। शंकर है ब्रह्मविद्या। ब्रह्मविद्या के बिना हमारा कभी कल्याण होनेवाला नहीं है। जिस किसी ने माना होगा कि हमारा यह आंदोलन आर्थिक और सामाजिक है, वे बिलकुल ही समझे नहीं हैं। वह बिलकुल 'वन-साईडेड व्ह्यू' है। हमारा यह आंदोलन आध्यात्मिक है, ब्रह्मविद्या का है। इसलिए ध्यान, प्रार्थना, चिंतन, मनन, आत्मपरीक्षण, चित्तशुद्धि के लिए प्रयत्न, यह सब निरंतर होते रहना चाहिए। तो बाबा के अभिध्यान का पहला विषय है ब्रह्मविद्या। नारायण समूह का देवता है, इसलिए नारायण यानी ग्राम-स्वराज्य। वह अभिध्यान का दूसरा विषय है। सूर्य यानी शांतिसेना। यह तीसरा विषय है। सूर्य की किरणें चारों ओर फैलती हैं, वैसी हमारी शांतिसेना सारे भारत में फैले। चौथा है गणपति, विद्या का देवता। तो गणपति यानी

आचार्य-कुल। वह बाबा के अभिध्यान का चौथा विषय है। और पांचवा है देवी यानी देवनागरी लिपि। इन पांच विषयों में साथियों ने क्या किया है, क्या कर रहे हैं, उसमें क्या मुश्किल है, यह मेरा 'इंटरेस्ट' (दिलचस्पी) का विषय है।

सर्व सेवा संघ तथा साथियों से

साथी मिलने आते। मैंने उनसे कहना शुरू कर दिया कि हर प्रांत में एक-एक जिला चुनें और वहां गांधीजी का पूरा का पूरा कार्यक्रम करके दिखायें। 1916 में मैं कोचरब आश्रम में गांधीजी के पास था तब की बात है। बापू रोज घूमने के लिए निकलते थे। मैं भी उनके साथ जाता था। एक दिन रास्ते में उनकी मेरे साथ बात हुई। उन्होंने कहा, देखो, विनोबा, भारत में सात लाख गांव हैं (उस समय हिंदुस्तान-पाकिस्तान अलग नहीं थे)। हरएक गांव में हमको हमारा कार्यकर्ता खडा करना चाहिए। उसका जीवन लोकाधारित चलेगा। वह लोगों का मार्गदर्शन करेगा और गांव में शक्ति खडी करेगा। सात लाख गांवों के लिए सात लाख कार्यकर्ता चाहिए। गांधीजी का यह स्वप्न था। इसलिए मैं साथियों से कहता कि अगर आप रचनात्मक कार्यक्रम हाथ में लेंगे, राजनीति का चिंतन छोडकर निश्चयपूर्वक, निष्ठापूर्वक उसी में तन्मय हो जायेंगे, तो आपका भी भला होगा और दुनिया का भी भला होगा।

हिंदुस्तान की आज की हालत में अनेक प्रकार के असंतोष हैं, समस्याएं हैं। लेकिन किसी भी परिस्थिति में और किसी भी कारण से हिंसा का आश्रय तो न ही लिया जाये, बल्कि जब तक पाकिस्तान, भारत और बांगला देश में पूर्ण सामंजस्य नहीं होता है तब तक अहिंसात्मक आक्रमणकारी आंदोलन भी नहीं करना चाहिए। नहीं तो देश के लिए खतरा पैदा होगा। केवल शांतिमय रचनात्मक काम ही करना चाहिए। रचनात्मक काम के द्वारा भी देश की गरीबी आदि के बारे में बहुत कुछ हो सकता है।

दूसरी बात मैं कहा करता था – असम में शंकरदेव नाम के एक महापुरुष हो गये, उनका एक वचन है – **राजनीति राक्षसर शास्त्र** – राजनीति राक्षसों का शास्त्र है। इसलिए पालिटिक्स को भूल जाओ और विश्व का चिंतन करो। मैं इन दिनों विश्व का ही चिंतन करता हूं। एक

दुनिया का नक्शा भी रखा है पास में। सब राष्ट्रों की फेहरिस्त रखी है, कहां पर कितनी जनसंख्या है, कहां पर कौनसी राज्यसत्ता काम कर रही है, इत्यादि। तो विश्व-राजनीति का अध्ययन करें और अपने को अलग रखें साक्षीरूपेण। अन्यथा हमारे टुकडे हो जायेंगे, जैसे राजनीति में होते हैं।

(जुलाई 1974 में) हमारा लगभग एक हफ्ता सर्व सेवा संघ के अधिवेशन-चर्चा में चला गया। सामान्यतया मेरी निद्रा पर किसी बात का असर होता नहीं। लेकिन इस दरमियान एक दिन हुआ और जरा चिंता में पड गया कि सर्व सेवा संघ टूटे न। उस दिन मुझे नींद जरा कम आयी। मेरा विचार और मेरा काम हमेशा जोडने का – दिलों को जोडने का रहा। मैंने सोचा अब यहां तो दिल टूट रहे हैं, यह ठीक नहीं। दिमाग भले ही अलग-अलग हों, दिल एक होने चाहिए। इसवास्ते जोडने के लिए कुशल कार्य किया।

मैंने उन लोगों को तीन बातें बतायीं – सत्य, अहिंसा, संयम। इन मर्यादाओं में चलें। कृति में जो भी होता हो, सत्य-अहिंसा की रटन तो हम करते ही रहते हैं। उसके साथ मैंने संयम जोड दिया। वह बडी महत्त्व की चीज है। संयम यानी वाक्-संयम। विरोध में न बोलें। गौण (गुणविषयक) बोलें। हरएक में एक गौण (गुणात्मक) बात भी होती है। हरएक में सत्य का अंश होता है, उसे देखें। यह जोडने की युक्ति है, तोडने की नहीं। पूरा का पूरा संघ, 400-500 कार्यकर्ता टूट रहे थे। उनको मैंने लिखित रूप में दिया कि सर्वसम्मति से जो प्रस्ताव होगा, वह मान्य करें और एक-हृदय होकर सत्य, अंहिंसा, संयम की मर्यादाओं में रहकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार काम करें।

और एक बात मैं बार-बार कहता आया कि दुनिया में तीन प्रकार की शक्तियां हैं – **वेदांतो विज्ञानं विश्वासश्चेति**। विश्वास एक बहुत बडी शक्ति है। हम एक-दूसरे पर विश्वास रखें। मेरा सब पर विश्वास है। मेरा विश्वास जयप्रकाशजी पर है। इंदिराजी पर है। हेमवतीनंदन बहुगुणा पर है। एस्. एम्. जोशी पर है। वसंतराव नाईक पर है। कैसी विलक्षण दशा है मेरी! एस्. एम्. और नाईक विरोधी पक्षों के हैं, पर मेरा विश्वास दोनों पर है। बल्कि मेरा तो भुट्टो पर भी विश्वास है। अब क्या गति होगी मेरी! इसको मेरा गुण कहिए या दोष कहिए, पर वह है! हम सभी को

विश्वास की शक्ति बढाना चाहिए। जो हमारे विरोधी होंगे, उन पर विश्वास रखना चाहिए। और वे हम पर जितना अविश्वास करेंगे उतना ज्यादा विश्वास उन पर हम करें।

उपवास-दान

इन्हीं दिनों (दिसंबर 1973) मैंने महीने में एक उपवास करना शुरू किया। आधे-आधे दिन का मिलकर एक उपवास। 11 तारीख को आधा और 25 तारीख को आधा। 11 तारीख मेरा जन्मदिन और 25 तारीख गृहत्याग का दिन। दोनों दिन चिंतन के लिए भी अच्छे हैं। दो मिलकर एक उपवास पूर्ण होता था, इससे स्वास्थ्य पर खराब असर नहीं हुआ।

मेरे खाने का खर्च प्रतिदिन का लगभग तीन रुपये था। एक दिन का खाना नहीं, तो महीने में तीन रुपये बचेंगे। सालभर में 36 रुपये। मैंने सोचा कि उतना दान मेरी तरफ से सर्व सेवा संघ* के काम के लिए दूंगा। इसके पीछे एक दृष्टि थी। मैंने सोचा कि हमारे साथी, कार्यकर्ता, सहयोगी, सर्वोदय विचार में श्रद्धा रखनेवाले जितने भी लोग भारत में हैं, वे अगर महीने में एक उपवास करेंगे और उससे सालभर में जो खर्च बचता होगा, वह सर्व सेवा संघ को देंगे तो बहुत बडा काम होगा। आज तक हम अपने काम के लिए सभी प्रकार का दान लेते थे। वह 'सर्व (सकल) ब्रह्म' की उपासना थी। अब हम 'विमल (शुद्ध) ब्रह्म' की उपासना करें। शुद्ध दान लें। उपवास में शुद्धि है इसलिए वह शुद्ध दान है।

एक साल का मौन

(दिसंबर 1974) मेरे मन में मौन का विचार चल रहा था। 25 तारीख, जो मार्गशीर्ष शुद्ध एकादशी, गीताजयंती का और क्रिसमस का दिन था, नजदीक आ रही थी। मैंने सोचा, उस दिन से एक साल का मौन लूंगा। आगे के कुछ कार्यक्रम तय थे, तो क्या उन्हें पूरा नहीं करना चाहिए? लेकिन आध्यात्मिक निर्णय ऐसी चीजें तोडे बिना नहीं होते। फलाना काम समाप्त करके फिर मौन रखेंगे, ऐसा नहीं होता। संन्यास में तोडना पडता है। तोडे बिना प्राप्ति नहीं होती। इसलिए 25 दिसंबर से एक साल का मौन ले लिया।

---

* 11 सितंबर 1975 से यह दान ब्रह्मविद्या-मंदिर को देने का ऐलान विनोबाजी ने किया – सं.

उस समय मैंने कहा था, जब मैं बोलता था तब बोलते हुए भी मौन था, अब मौन होते हुए भी बोला जायेगा। इस मौन की क्रिया आक्रमक होगी। सूर्य जिस तरह दरवाजे के बाहर खडा रहता है, दरवाजा बंद हो तो धक्का देकर अंदर नहीं जाता, वैसा यह मौन नहीं होगा। यह मौन धक्का देगा। आक्रमण करेगा।

वैसे ही, यह जो मौन है उसमें न बोलने का तो है ही, लेकिन न लिखने का भी है। 'राम-हरि' के अलावा मैं और कुछ लिखूंगा नहीं। मैंने क्षेत्रसंन्यास ले लिया, उसके बाद भी कई स्थूल वस्तुओं में पडना पडा, स्थूल चर्चा करनी पडी। वह भी प्रवाहपतित समझकर की। तो मैंने सोचा, ठीक है यह कि प्रवाहपतित कर्म का दोष नहीं लगता तो न लगा हो दोष; परंतु सूक्ष्म अभिध्यान की जो शक्ति है, वह तब तक प्रकट नहीं होगी, जब तक अधिक सूक्ष्म में प्रवेश नहीं होगा। तो फिर सोचा, इसके आगे बोलना-लिखना बंद करना होगा।

मेरा कान तो भगवान ने बंद किया ही था। दो-तीन कर्णमणि मेरे पास भेजे गये थे। मैंने कर्णमणि लगाकर देखा, उत्तम सुनायी देता था। तो दस-बारह दिन लगाकर देखा और छोड दिया। भगवत्-कृपा से कान गया तो मणि किसलिए लगायें? भगवत्-कृपा समझकर एक बंदर तो मैं बन ही गया था। अब दूसरा, मुंह बंदवाला बंदर बन रहा था। तीसरा आंख बंदवाला नहीं बना। उसके बदले हाथ बंद किया। तय किया कि हाथ के द्वारा लेखन नहीं होगा, उसका अर्थ हाथ बंद! आंख कायम रखी। किसलिए? इसलिए कि जो साथी-स्नेही पंद्रह दिन में या महीने में एक बार नियमितरूप से मुझे पत्र लिखते थे और कुछ अनियमित, अपनी आवश्यकता के अनुसार लिखते थे, उनके पत्र पढकर उस पर अभिध्यान कर सकूं। पत्रों में जो सूक्ष्म विचार पेश किये होते हैं, जीवन की गांठें वगैरह खोली हुई होती हैं, उन पर अभिध्यान-शक्ति का असर होता है। मैंने कहा कि अब जबकि बोलना भी बंद होगा तो जिनके पास 'रिसिविंग सेट' नहीं है, उनके पास भी वह पहुंच जायेगा। वह आक्रमणकारी होगा, धक्का देकर पहुंच जायेगा जिसने लिखा उसके पास। यह आठ-नौ सालों से चलता आया है।

अब कोई पूछ सकता है कि एक ही साल का मौन क्यों? आगे क्यों नहीं? तो इसका उत्तर यह है कि ऐसे कठिन आध्यात्मिक कार्य में

अनुभव के आधार पर आगे बढना होता है। **'मारे एक डगलुं बस थाय ।'** एक छोटा-सा डगला (कदम) है यह। कितना छोटा? सिर्फ एक साल। इसवास्ते आगे का सोचा नहीं है। अनुभव के आधार से तय होगा।

(**25 दिसंबर 1974–25 दिसंबर 1975 : मौनम् ।**)

मौन-समाप्ति के बाद

(**25 दिसंबर 1975 :** मौन-समाप्ति के बाद प्रथम प्रवचन में) मेरा 'अनुशासन-पर्व'* का अर्थ मैंने थोडे में रखा था। अनुशासन-पर्व शब्द महाभारत का है। परंतु उसके पहले वह उपनिषद में आया है। प्राचीन काल का रिवाज था। विद्यार्थी आचार्य के पास रहकर बारह साल विद्याभ्यास करता था। विद्याभ्यास पूरा कर जब वह घर जाने निकलता था तब आचार्य अंतिम उपदेश देते थे। उसका जिक्र उपनिषद में आया है, **एतत् अनुशासनम् । एवं उपासितव्यम्** – इस अनुशासन पर आपको जिंदगीभर चलना है। आचार्यों का होता है अनुशासन और सत्तावालों का होता है शासन। अगर शासन के मार्गदर्शन में दुनिया रहेगी तो दुनिया में कभी भी समाधान रहनेवाला नहीं है। शासन के मार्गदर्शन में क्या होगा? समस्या सुलझेगी; लेकिन सुलझी हुई फिर से उलझेगी। यह तमाशा आज दुनियाभर में चल रहा है। 'ए' से 'जेड' तक, अफगानिस्तान से झांबिया तक 300-350 शासन दुनिया में होंगे। फिर उनकी गुटबंदी चलती है। सबदूर असंतोष, मारकाट! शासन के आदेश के अनुसार चलनेवालों की यह स्थिति है। उसके बदले अगर आचार्यों के अनुशासन में दुनिया चलेगी तो दुनिया में शांति रहेगी। आचार्य होते हैं, जिनका वर्णन मैंने किया है गुरु नानक की भाषा में – **निर्भय, निर्वैर,** और उसमें मैंने जोड दिया है **निष्पक्ष!** और जो कभी अशांत होते नहीं, जिनके मन में क्षोभ कभी नहीं होता। हर बात में शांति से सोचते हैं और जितना सर्वसम्मत होता है विचार, उतना लोगों के सामने रखते हैं। उस मार्गदर्शन में अगर लोग चलेंगे, तो लोगों का भला होगा और दुनिया में शांति रहेगी। यह अनुशासन का अर्थ है – आचार्यों का अनुशासन! ऐसे निर्भय, निर्वैर, निष्पक्ष आचार्य जो मार्गदर्शन देंगे उसका, उनके अनुशासन का विरोध

---

* 1975 के आपात्काल के समय विनोबाजी का 'अनुशासन-पर्व' शब्द बहुचर्चित रहा। मौन-समाप्ति के बाद प्रथम प्रवचन में ही उन्होंने इस शब्द का आशय स्पष्ट किया – सं.

अगर शासन करेगा तो उसके सामने सत्याग्रह करने का प्रसंग आयेगा। लेकिन मेरा पूरा विश्वास है कि भारत का शासन ऐसा कोई काम नहीं करेगा, जो आचार्यों के अनुशासन के खिलाफ होगा।

गोवंश-हत्या-बंदी के लिए उपवास

इसी बीच एक काम मेरी ओर से हुआ। महाराष्ट्र आचार्यकुल सम्मेलन में 25 अप्रैल (1976) को भाषण देते हुए मैंने गोरक्षा के संबंध में बहुत जोर दिया था और कहा था कि गोरक्षा की जिम्मेवारी आचार्यों को उठा लेनी चाहिए। इस संबंध में एक पत्रक भी प्रकाशित हुआ था। इसके बाद 17 मई को महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री शंकररावजी चव्हाण मुझे मिलने पवनार आये थे। उनसे भी चर्चा करते हुए मैंने देश के विकास की दृष्टि से गोहत्याबंदी की आवश्यकता पर बहुत बल दिया और कहा कि यदि यह कार्य शीघ्र संपन्न न हुआ तो मुझे आमरण उपवास करना होगा।

तारीख 29 मई को कार्यकर्ताओं से इस विषय में बातें करते हुए मैंने स्पष्ट शब्दों में जाहिर किया कि यदि देशभर में गोहत्याबंदी करने का निर्णय जाहिर न हुआ तो मैं 11 सितंबर से, जो मेरा जन्मदिवस है, उपवास शुरू करूंगा। इसके लिए साढेतीन महीनों की अवधि थी, जो संबंधित व्यक्तियों को निर्णय करने के लिए पर्याप्त थी।

1976 का वर्ष मेरी मां की जन्मशताब्दी का वर्ष था। मुझे एक भी दिन याद नहीं, जिस दिन मैंने मां का स्मरण नहीं किया होगा। उसने हमको बचपन से सिखाया था, पहले तुलसी को पानी देकर, गाय को खिलाकर फिर खुद खायें, उससे पहले नहीं। अब मां कह रही थी कि 'विन्या, तू गाय के लिए कुछ कर, गाय बच जायेगी तो भारत को बहुत लाभ होगा।' आज हिंदुस्तान में लाखों गायें कटती हैं। उनका मांस भेजा जाता है विदेश में और आपको डालर मिलते हैं। उस समय मेरे 81 साल पूरे हो रहे थे – तीन माह बाकी थे। और कितने दिन बचे होंगे, कौन कह सकता था! तो मैंने सोचा कि जितने दिन बचे होंगे उतने की आखिरी आहुति दें गाय के लिए। इसमें मेरी मृत्यु हुई और गाय बची तो अच्छा है। मृत्यु हुई और गाय नहीं बची, तो भी मैं परमेश्वर का स्मरण करके आनंदपूर्वक जाऊंगा। मानूंगा कि मैंने अपना कर्तव्य कर लिया। गाय का बचना तो ईश्वर की कृपा पर निर्भर है।

मेरे उपवास की खबर 'मैत्री' पत्रिका में प्रकाशित हुई तो 'मैत्री' के सारे अंक पुलिस उठाकर ले गयी (जब्त किये)। जब वे अंक ले जा रहे थे, तब मैंने क्या किया? खडा हुआ और तालियां बजायीं। 'जय जगत्' कहा। धन्य हैं वे लोग (अखबारवाले), उपवास की बात छापने की हिम्मत ही नहीं कर सके! कुछ दो-तीन पत्रिकाओं ने हिम्मत की थी। अखबारवाले हिम्मत नहीं करते; क्योंकि अखबार बंद होगा (जब्त होगा), तो खाने को क्या मिलेगा? लेकिन हमारे ध्यान में यह बात आती नहीं कि गौतम बुद्ध, महावीर, जीसस क्राईस्ट, शंकराचार्य के जमाने में अखबार नहीं था, लेकिन उनका जितना प्रचार हुआ उतना और किसी का नहीं हुआ।

एक अप्रैल (1976) से मैंने मेरा आहार आधा कर लिया था। उसका एक कारण तो था मां की सिखावन। वह कहती, तुम्हें कितना जीना है इसके दिन तय नहीं है, तुम्हारे नाम का खाना तय है। इसलिए ज्यादा खाकर जल्दी खतम करोगे तो जल्दी मरोगे; थोडा-थोडा खाओगे तो ज्यादा जीओगे। आहार कम करने का दूसरा कारण यह था कि मैं उपवास की तैयारी कर रहा था। पूर्ण आहार से पूर्ण उपवास में जाने की अपेक्षा अर्ध आहार से पूर्ण उपवास में जाना ज्यादा आसान है। पूर्ण आहार से पूर्ण उपवास में जाना 'हाय जंप' होगी।

(अगस्त में) मैंने कहा कि 11 अगस्त को देशभर में (गोरक्षा के लिए) उपवास तथा प्रार्थना होगी। और आनेवाले एक महीने के लिए प्रचारकार्य स्थगित किया जायेगा। यह अहिंसक सत्याग्रह का तरीका है। अहिंसा के बारे में एक दफा चर्चा चल रही थी। किसी ने कहा, हमें 'नान-वायलेंट रेजिस्टन्स' करना चाहिए। मैंने कहा, 'नानवायलेंट रेजिस्टन्स' नहीं, 'नानवायलेंट असिस्टन्स इन राईट थिंकिंग' करना चाहिए। अभी हम एक महीने के लिए प्रचार बंद करेंगे तो इस कृति का बहुत अच्छा असर होगा। सरकार शांत हो जायेगी और शांतिपूर्वक सोचेगी।

(8 सितंबर) भारत में गोहत्या-बंदी का प्रश्न बहुत-सा हल* हो गया। इसलिए 11 सितंबर से मैंने पूर्ण आहार लेना शुरू किया।

(उसके बाद 1979 में) यद्यपि गाय की हत्या का प्रश्न बहुत-सा

---

* केरल और प. बंगाल छोड कर बाकी सभी प्रांतों में किसी भी उम्र की गाय की हत्या पर प्रतिबंध लगानेवाले कानून बने।

हल हो गया था, बंगाल-कलकत्ता और केरल में जो गोहत्या हो रही थी उससे मेरा हृदय व्यथित था। इसलिए मैंने तय किया कि 1 जनवरी (1979) से आंशिक उपवास शुरू करूंगा। मैं यह भी जानता था कि आरंभ में यह आंशिक होगा, लेकिन शायद इतने से गाय संतुष्ट नहीं होगी। इसलिए पूर्ण उपवास का भी सोच रहा था। गाय की रक्षा तो भगवान ही करेगा। इसलिए मैं गोरक्षा की बात बोलता नहीं, गोसेवा की बात बोलता हूं। गाय की सेवा, जितनी हो सकती है, करें और जरूरत पडे तो उसके लिए आत्माहुति दें। फिर यह भी जाहिर किया कि 22 अप्रैल से पूर्ण उपवास करूंगा।

(22 अप्रैल को उपवास शुरू हुआ तब) मैंने हमेशा की तरह **'समाप्तम् जय जगत्'** नहीं कहा, **'आरब्धम् (प्रारंभ) जय जगत्'** कहा। परंतु (26 अप्रैल को) प्रधानमंत्री और कांग्रेसवालों से मुझे आश्वासन मिला कि सारे भारत में गोहत्याबंदी हो, इसके लिए वे पूरा प्रयत्न करेंगे। मैंने कई दफा कहा है कि श्वास का जो स्थान शरीर में है, वही स्थान विश्वास का समाज में है। विश्वास समाज में प्राण है। जब मुझे विश्वास दिया गया, तो मैंने विश्वास रखा। परिणामस्वरूप मेरा अनशन पांच दिन में पूरा हुआ। यहां 'भरत-राम' का मंदिर है। भरत-राम – पांच अक्षर हैं, तो पांच दिन में अनशन की समाप्ति हुई।

(24 दिसंबर 1981 को) मैंने कहा कि देवनार (बंबई) के कत्लखाने में बैल काटे जाते हैं। इस देश में किसी भी उम्र के गाय-बैल न कटे इसलिए बंबई में सत्याग्रह करें।*

मृत्यु का चिंतन

जब मेरा, मेरी इस देह का 70 वां साल चल रहा था तब की बात। मैंने देखा, वृत्तियां उठती नहीं, सहज भाव है। कोई कुछ पूछता तो उतना ही वृत्ति का संबंध आता। मुझे लगा, हम ही आखिर तक कहते रहते हैं, तो दूसरों को कुछ सूझता नहीं। उसके बजाय जीते जी मृत्यु का अनुभव करें। वल्लभस्वामी गया (दिसंबर 1964)। एक-एक करके सब जा रहे हैं। जो जाता है, उसकी सलाह तो पीछे नहीं रहती। एक बार जे. पी. से बोलते हुए मैंने कहा था कि यह जो 'तूफान' (प्रदेश-दान का अभियान)

* 11 जनवरी 1982 से देवनार (बंबई) कत्लखाने पर सत्याग्रह शुरू हुआ। – सं.

चला है, वह अंतिम लडाई है। 'वन फाईट मोअर, दि लास्ट एण्ड दि बेस्ट'। उन्होंने कहा, यह अंतिम लडाई नहीं, और कई लडाइयां लडने के लिए बाबा चाहिए, इतनी जल्दी आपको विदा करने हम तैयार नहीं। मैंने कहा, पर वह आपके हाथ में होता तब न! मैं अपने मन में मानकर चल रहा हूं कि अपनी मृत्यु के पूर्व मुझे मरना है। मनुष्य को मृत्यु के पूर्व मरना चाहिए। अपनी वफात अपनी आंखों से देखनी चाहिए। यह मेरी आकांक्षा है। इसलिए मैंने सोचा कि मैं मरने के पहले मर जाऊं और भूदान का क्या होता है देखूं। कोई सलाह पूछने आये तो सलाह दे सकता हूं। बाकी तटस्थ होकर देखता रहूं। मैंने साथियों से कहा कि अभी मैं यहां पर हूं तो 'डिक्शनरी' जैसा रहूंगा। डिक्शनरी का उपयोग कोई करता है तो वह उपयोगी होती है, अन्यथा वह अलमारी में पडी रहती है। उसको यह उत्साह नहीं होता कि वह खुद उठकर लोगों को शब्दार्थ समझाती फिरे। वैसा मैं यहां रहूंगा।

मेरे साथी मुझे पूछते कि आपने आहार क्यों कम किया? बार-बार उपवास की बात क्यों बोलते हैं? ऐसा है, गीता-प्रवचन में लिखा है, 'मृति-स्मृति-शुद्धये' – मृत्यु का स्मरण अच्छा होता है। जब मैं घर से निकला था तब मेरे सामने ध्येय था, एकांत में जाकर ध्यानधारणादि साधना करने का। परंतु गांधीजी के पास पहुंचा, उनके पास रहा, 50 वर्ष उनकी आज्ञा में काम किया। अब मेरा ध्येय केवल मृत्यु की राह देखना है। जो कुछ करना था वह सबकुछ हो गया, ऐसा भास है। अभी जो करना है, वह केवल कर्ममुक्त होकर आपके जैसों के प्रश्नों के उत्तर देना, विचार देना, समझाना इतना ही! मैं कर्ममुक्त हो गया हूं, ऐसी हालत में मृत्यु का चिंतन करता हूं, तो इससे अमृतत्व प्राप्त होगा। मेरी वृत्ति मनुस्मृति के एक वाक्य के अनुसार है –

नाभिनंदेत मरणं नाभिनंदेत जीवितम्
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा

– *मैं न मरने का अभिनंदन करता हूं, न जीवन का। केवल राह देखता हूं, जैसे भृतक यानी सेवक स्वामी की आज्ञा की राह देखता है।* मैं रोज शाम को मरने का अभ्यास करता हूं। कहता हूं, मरने के बाद जो करना है, आज – अभी करो। **मरण माझें मरूनि गेलें मज केलें अमर** (मेरी मृत्यु की मृत्यु हो गयी, मुझे अमर बना दिया)। या, 'मैंने अपनी मृत्यु अपनी

आंखों से देखी, वह अनुपम्य उत्सव था।' इसलिए मैं हररोज रात को मृत्यु का पूर्वप्रयोग (रिहर्सल) करता हूं। और भगवान को कहता हूं कि आज रात को अगर तू ले जायेगा तो मुझे कोई खास काम बाकी नहीं है। प्रेमपूर्वक तेरे पास आऊंगा। कल फिर से जन्म देगा तो जो कुछ थोडी सेवा हो सकती है, मुख्यतः वाणी के द्वारा, वह कर लूंगा। मरते समय मैं पुरानी बातें सब भूल जाता हूं। गांधीजी को अपने जीवन का बहुत सारा याद रहता तो अंतिम समय वे 'हे राम' नहीं कहते।

मृत्यु आयेगी तो किसको आयेगी? शरीर को आयेगी। हम अमर हो जायेंगे। **अब हम अमर भये, न मरेंगे ।** क्यों? क्योंकि **मिथ्यात्व दियो त्यज । ज्या कारण देह धर्यो सो कारण दियो त्यज ।**

किसी की मृत्यु की खबर सुनता हूं तो मुझे लगता है कि शुभ समाचार सुना। आदमी अपने घर जाता है, यह शुभ समाचार नहीं तो क्या है? असल में वही लोक अपना है और यह पराया है। **अब है हमारी बारी ।** जायेंगे तो कैसे जायेंगे? हंसते-हंसते, गाते-गाते। हंसते-खेलते चार दिन बिताने हैं। गीता में है, **तुष्यन्ति च रमन्ति च ।**

इस देह में मैं अपनी मृत्यु का खेल देखता हूं और खुश होता हूं। कल्पना करता हूं कि मृत्यु के बाद क्या होगा? मैं कौन हूं? करोडों लोग मर जाते हैं, महापुरुष भी उससे बचते नहीं। मृत्यु के बाद बचता है सिर्फ भगवान और यह दुनिया। हम आते हैं और जाते हैं। समुद्र में लहरें उठती हैं। कुछ लहरें छोटी होती हैं, कुछ बडी। कुछ ऊंची उठती हैं, कुछ नहीं। लेकिन हैं वे लहरें ही!

(11 सितंबर 1981) 'बाबा' 86 वर्ष का हो गया। तो क्या सोचता है? **देह हा काळाचा जाणार शेवटीं । त्याची धरुनी मिठी गोडी काय** (यह देह काल की है, अंत में जानेवाली है, उसको चिपके रहने में कौनसी मिठास है)! जैसे बाबा के जन्मदिन पर सब लोग शांति रखते हैं वैसे बाबा की मृत्यु के दिन पर भी शांति रखनी होगी।

मुझे अब करने का कुछ नहीं रहा, इसलिए मैंने अपनी किताब पर लिख रखा है – **'त्याचें कर्तव्य संपले'** – उसका कर्तव्य समाप्त हुआ। इसवास्ते प्रारब्धक्षय की राह देखते हुए मेरी दिनभर यही कोशिश होती है कि केवल **'रामहरि'** का निरंतर स्मरण करता रहूं। **श्वास श्वास पर राम**

कहो, वृथा श्वास मत खोय । खाते हुए, काम करते हुए, घूमते हुए निरंतर यही कोशिश चलती है। और रात को तो चलती ही है। अब कोई कार्य शेष नहीं है। रात को भगवान की गोद में सो जाना है। रात को मेरी चेतना को मिटा देगा भगवान तो मैं प्रसन्नता से रामहरि का स्मरण करते हुए मर जाऊंगा, इसमें मुझे कोई शक नहीं। यही मेरा निरंतर चिंतन चलता है।

जैसे रामदास स्वामी ने कहा है कि श्रीराम मंत्र खुला है, वैसे मैंने सबको स्पष्ट कह दिया है कि श्वास लेते समय 'राम' कहकर बाहर की हवा (श्वास) अंदर लें और 'हरि' कहकर हवा बाहर छोडें। राम कहते हुए बाहर की स्वच्छ हवा अंदर लेते हैं तो राम अंदर रममाण हो गया। हरि कहते हुए अंदर की हवा बाहर छोडते हैं तो पापों का हरण कर दिया, हरण करनेवाला हरिनाम लिया। इस तरह 'राम-हरि' का जप निरंतर जितना कर सकते हैं, करते रहें। यह क्रिया जब तक श्वास रहेगा – प्राण रहेगा तब तक जारी रहेगी। उसका उच्चारण हो, यह जरूरी नहीं। भान हो तो काम पूरा होगा।

रामदास स्वामी ने कहा है, **मरे एक त्याचा दुजा शोक वाहे । अकस्मात तो हि पुढे जात आहे** (एक मरता है, दूसरा उसका शोक करता है, अचानक वह भी आगे निकल जाता है)। मरना तो सभी को है। सवाल इतना ही है कि मरते समय नामस्मरण चलता रहे। अंतिम क्षण में भगवन्नाम ले सकें, इसके लिए जीवनभर वैसी कोशिश होनी चाहिए।

मैंने एक बहुत बडी बात बतायी है – **'बाबा को भूल जाओ, गीताई को याद रखो ।'**

परिशिष्ट :

समाधि

तारीख 5 नवंबर 1982 को बाबा को दिनभर हलका बुखार रहा। रात को 8.15 बजे ज्यादा अस्वस्थता महसूस हुई। श्वास जोरों से चल रही थी, नाडी तेज थी, सारे शरीर में कंपन और पसीना था। डाक्टर का निदान रहा – 'हार्ट अटैक'। उपचार शुरू हुए। तारीख 7 को डाक्टरों ने जाहिर किया – 'स्वास्थ्य में निश्चित सुधार है।'

तारीख 8 की रात को 8.15 बजे पानी-दवा लेने से इनकार कर दिया। तारीख 9 की सुबह भी दवा-पानी-आहार लेने से इनकार किया। वाणी से कुछ व्यक्त नहीं किया, पर आहार-दवा-पानी सामने आते ही या लेने के लिए निवेदन करते ही इनकार कर देते। डाक्टरों का बुलेटिन था – 'स्वास्थ्य में निश्चित संतोषजनक प्रगति हो रही थी। पूर्णतया स्वस्थ होने की पूरी संभावना थी। परंतु अब आहार-दवा-पानी न लेने के निश्चय के कारण स्वास्थ्य को गंभीर खतरा निर्माण हुआ है।' अत्यंत थकावट की स्थिति में भी आसपास जो आता उसके साथ एकाध शब्द बोल लेते। किसी का कार्य याद करते, किसी का नाम। ऐसी यह करुणा अव्याहत बहती ही रही।

तारीख 12 को डाक्टर का बुलेटिन था – '...स्वास्थ्य में कोई गिरावट नहीं है।' तारीख 14 का बुलेटिन '...दुर्बलता और थकावट के बावजूद वे सचेत हैं और उनका चेहरा आध्यात्मिक तेज से दमक रहा है।' तारीख 14 की शाम को नाडी कमजोर हो गयी, रक्तचाप एकदम कम हो गया। डाक्टरों ने एकमत से खतरा जाहिर किया। परंतु डेढ घंटे के बाद रक्तचाप नार्मल हो गया, नाडी नार्मल हो गयी। टेंपरेचर नार्मल था। प्रातः चार बजे तक डाक्टर नाडी, रक्तचाप की गति का अवलोकन करते रहे, जो सभी पूरी तरह नार्मल था और फिर उनकी स्थिति को एक आश्चर्य मानकर उन्होंने वह देखना बंद कर दिया।

तारीख 15 नवंबर; प्रातः 7.30 बजे फ्रेंचकन्या, जो पिछली रात को ही फ्रांस से यहां आ पहुंची थी, पानी पीने का आग्रह करने लगी, उसको विनोदभरी प्रसन्नता से इशारा किया, 'तुम ही पी लो' और फिर

'राम-हरि' की तख्ती की ओर अंगुलिनिर्देश किया।

सुबह 9.30 बजे। चेहरे पर पूर्ण शांति। आंखें बंद। संपूर्ण शरीर स्वच्छ, निर्मल। श्वासोच्छ्वास ही एकमात्र क्रिया – और, पांव से 'राम-हरि' का ताल, जो अखंड, कठिनतम स्थिति में भी चालू ही था। ठीक 9.30 बजे अत्यंत सहजता से अंतिम श्वास ली।

7 नवंबर 1982 : [निम्न श्लोकों का गुनगुनाना]

योगेश्वर जिथें कृष्ण जिथें पार्थ धनुर्धर
तिथें मी पाहतों नित्य धर्म श्री जय वैभव (गीताई 18.78)

– जहां योगेश्वर कृष्ण, जहां पार्थ धनुर्धर
वहां मैं देखता हूं नित्य धर्म श्री जय वैभव –

अनेक जन्म घेऊनि पावला शरणागति
विश्व देखे वासुदेव संत तो बहु दुर्लभ (गीताई 7.19)

– अनेक जन्म लेकर प्राप्त हुआ शरणागति को
विश्व को वासुदेव देखता है संत वह बहुत दुर्लभ –

न ह्या लोकीं न त्या लोकीं नाश तो पावतो कधीं
शुभकारी कुणी बापा दुर्गतीस न जातसे (गीताई 6.40)

– न इस लोक में न उस लोक में नाश को प्राप्त होता है कभी
शुभकारी कोई दुर्गति को प्राप्त नहीं होता –

अथवा प्राज्ञ योग्यांच्या कुळीं चि मग जन्मतो
अवश्य हा असा जन्म लोकीं अत्यंत दुर्लभ (गीताई 6.42)

– अथवा प्राज्ञ योगियों के कुल में जन्म लेता है
अवश्य ऐसा यह जन्म लोक में अत्यंत दुर्लभ –

– तनूरेव तन्वो अस्तु भेषजम् (ऋग्वेदसार 10.14.8)

– शरीर ही शरीर की दवा है –

– विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन् अनातुरम् (ऋग्वेदसार 1.18.8)

– हमारे गांव में परिपुष्ट आरोग्यसंपन्न विश्व का दर्शन होना चाहिए –

– **अनु जनान् यतते पंच धीरः** (ऋग्वेदसार 9.5.4)

– धीर पुरुष पंचों का निर्णय मानते हैं –

– **शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान्** (ऋग्वेदसार 9.5.3)

– शूरों का ग्राम है, उसमें जो वीर होते हैं,
वे एक-दूसरे को सहन करते हैं –

– **आर्याव्रतो विसृजन्तो अधि क्षमि** (ऋग्वेदसार 10.8.6)

– क्षमि यानी पृथ्वी। समूची पृथ्वी पर आर्यव्रत का संदेश पहुंचायें,
फैलायें। आर्यव्रत यानी अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि जो व्रत हैं,
उनका समूची पृथ्वी पर प्रसार करें –

15 नवंबर 1982 : सुबह 9.30 : विदाई।

मानो हमेशा की तरह कहा,

समाप्तम् ! जय जगत् ! सबको प्रणाम !

राम-हरि !!